उन्होंने कहाकि संघ को बुरी ... से भला-बुरा कहा गया और ... जो आरोप लगाया गया कि ... गुजरात तथा बिहार में श्री जय-प्रकाश नारायण के नेतृत्वमें चलाये ... रहे आंदोलन वास्तव में संघ ... द्वारा चलाये जा रहे हैं। उन्होंने ... के लोगों से कहा कि अब वे ... संगठन की ओर लगें।

श्री देवरस ने संजय गांधी के ... कथित वक्तव्य का उल्लेख ... किया जिसमें उन्होंने कहा था कि ... (श्री गांधी) 'मारुति परियोजना' के बारेमें लगाये गये आरोपों ... जवाब देने के लिये राजनीति में आये हैं। उन्होंने कहाकि ... से अच्छा जवाब तो यह होता ... श्री गांधी उस कार को बना ... जनता के सामने लाते जो कि ... बनाने की बात कर रहे थे।

श्री देवरस ने कहा कि संघ ... भूमिका व उसके स्वरूपके बारे ... लोगों के विचार जाननेके लिये ... व्यापी दौरा कर विभिन्न वर्गों ... के लोगों से मिल रहे हैं।

उन्होंने कहाकि इस विषय के ... बारे में यह दौरा पूरा होनेके बाद ... कोई नया दिशा निर्देश जारी ... कर सकेंगे।

उन्होंने आत्मानुशासन की ... आवश्यकता पर जोर देते हुये ... कहाकि राष्ट्रको मजबूत बनाने ... के लिये ऊपर से लादे गये अनुशासन की आवश्यकता नहीं बल्कि ... आत्मानुशासन की आवश्यकता ... है।

इससे पूर्व कल सुबह यहां ... पहुंचने पर श्री देवरस का भव्य ... स्वागत किया गया। स्वागत

... श्यकता है, क्योंकि लगी पूंजी पर

मोरारजी के राष्ट्र के नाम सन्देश का आज प्रसारण

नयी दिल्ली १८ अप्रैल। प्रधानमंत्री श्री मोरारजी देसाई का राष्ट्र के नाम सन्देश आज रात्रि सवा आठ बजे आकाशवाणी के सभी केन्द्रों से प्रसारित किया जायगा।

असम के मुख्यमन्त्री इस्तीफा देने पर दृढ़

शिलांग १८ अप्रैल (इ. ए.)। असम के मुख्यमंत्री श्री शरतचन्द्र सिनहा कांग्रेस हाई कमान की इस सलाह के बावजूद कि वे मुख्यमन्त्री पद से इस्तीफा दे दें, वे इस्तीफा देने पर दृढ़ है। राज्य में चार सीटों पर कांग्रेस की हार की जिम्मेदारी स्वयं पर लेते हुए उन्होंने यह निर्णय किया है।

ऐसी सम्भावना है कि श्री सिनहा इस महीने के अन्त तक अपने मन्त्रिमण्डल का त्यागपत्र दे देंगे।

संविधान संशोधन वापस लेने का अधिकार

अजमेर १८अप्रैल (नभाटा)। राजस्थान के एक प्रमुख वकील श्री सूरज नारायण पारीख ने एक बयान में कल यहां कहा कि केन्द्र सरकार एक नयी अधिसूचना जारी करके ४२वें संविधान संशोधन का कोई भी प्राविधान वापस

... ने कहाकि हमें विशेषज्ञों का आयातित विचार-धारा को त्यागकर स्वदेशी ढंग से विचार करके अपनी योजनाएं तैयार करनी पड़ेगी।

उन्होंने कहाकि बड़े-बड़े उद्योग भारत की परिस्थितियोंके अनुकूल नहीं हैं और इनका विकेन्द्रीयकरण आवश्यक है। श्री स्वामी ने कहाकि लाइसेंस देने की पद्धति इसलिए अपनायी गयी थी ताकि एकाधिकार उद्योगों की स्थापना नहीं हो लेकिन यह पद्धति कुछ इस प्रकार की बन गयी कि इसका सर्वाधिक लाभ बड़े और एकाधिकारी घरानों को ही मिला। इस पद्धति में अब परिवर्तन की आवश्यकता है।

श्री स्वामी ने बैंकों को पूंजी के बजाय उद्योग के उत्पादन को आधार मानकर ऋण देना चाहिए। उन्होंने कहाकि आयकर पद्धति में आमूल परिवर्तन किये जानेकी भी आवश्यकता है।

टों के लिए शीघ्र ही उपचुनाव
ने वाले हैं।

लोकसभा चुनावों में कांग्रेस
गहरा धक्का लगा इसलिए
ज्य में अखिल भारतीय 'कांग्रेस
टी का अधिवेशन होनेसे वाता-
रण कांग्रेस के पक्षमें बनाने में
दद मिलेगी।

चन्द्रभानु गुप्त राज्यपाल होंगे

अजमेर १८ अप्रैल—नभा०। नकार सूत्रों के अनुसार उत्तर देश के भूतपूर्व मुख्यमन्त्री श्री न्द्रभानु गुप्त को राजस्थान का ज्यपाल नियुक्त किया जा रहा । वे आज कल दिल्ली विलिंग-न अस्पताल में आंत्र शोथ की चकित्सा करा रहे हैं।

Subhash Vardhaman
Shastri
M.A.
Benaras Hindu
University
VARANASI –

Date – 7-2-1977

" You can fly in the sky like a kite
You can swim in the water like a fish
But yet you have ~~not~~ to learn how to live
on the earth!"

Dr. S. Radhakrishnan

भाषा एवं हिंदी भाषा

डॉ० सतीशकुमार रोहरा
प्राध्यापक—भाषाविज्ञान
काशी हिंदू विश्वविद्यालय



हिंदी प्रचारक संस्थान
पिशाचमोचन, वाराणसी

Hindi Ewam Hindi Bhasha
By
Dr. Satish Kumar Rohra.

प्रकाशक
विजय प्रकाश बेरी
हिंदी प्रचारक संस्थान
(व्यवस्था : कृष्णचंद्र बेरी ऐंड संस)
पो० बा० नं० १०६, पिशाचमोचन वाराणसी–१

प्रथम संस्करण
३३०० प्रतियां
सितंबर १९७२

मूल्य–
छह रुपये

मुद्रक–
स्वस्तिक मुद्रणालय
गोलघर, वाराणसी–१

सुवाक्

बोलते तो अनेक प्राणी हैं और उनकी बोलियों में भय और आनंद जैसे मोटे-मोटे भावों की अभिव्यञ्जना भी हुआ करती है, पर मनुष्य को विधाता की ओर से जो वाणी दी गई है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। वह मनुष्य के अन्तरतम के भाव राशि को बारीकी से अभिव्यक्ति देती है और केवल अभिव्यक्ति ही नहीं देती, भावों के उपगूहन में भी उतनी ही समर्थ है। साधारण अर्थ में भावों को अभिव्यक्ति देने वाली यह मानव वाणी ही भाषा कही जाती है। कैसे इसका आरंभ हुआ ? किस प्रकार वह आदिम संगीतात्मक स्थिति से विविक्त वर्ण भाषा के रूप में प्रकट हुई, तथा किस प्रकार इन विविक्त वर्णों को यथातथ रूप में लिपिबद्ध किया गया, कैसे वह एक भाषा से दूसरी में बदलती गई, इतिहास और भूगोल के विशाल परिसर में यह किस प्रकार अभिव्यक्ति का माध्यम बनती रही, यह कहानी बहुत ही रोचक है। विद्वानो ने उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर इस अत्यद्भुत विकास की कहानी कही है। भाषा का विकास मानव समाज के विकास की कहानी है। भाषा का इतिहास हमें बताता है कि किस प्रकार मनुष्य का एक वर्ग दूसरे के संपर्क में आया है, जूझा है, लड़ा है और फिर किस प्रकार मिलन की प्रशस्त भूमि तैयार हुई है। हमारा यह देश इस दृष्टि से बहुत ही समृद्ध रहा है। केवल भाषा के प्राचीनतम नमूने ही यहां उपलब्ध नहीं होते, उसके विश्लेषण और संगठन के सूत्र भी यहां भरे पड़े हैं। व्याकरण और निरुक्त का धारावाहिक इतिहास यहां सुलभ है। आज के वैज्ञानिक युग में भाषा के अध्ययन ने नई मोड़ ली है। आज संसार के दूर-दूर स्थित भू-भागों के निवासियों की भाषा के सूक्ष्म अध्ययन का सुयोग मिला है। कई भिन्न

प्रकृति की भाषाओं की जानकारी मिलने से भाषा के व्यापक अध्ययन का ऐसा अवसर पहले कभी नहीं मिला। आज भाषा विषयक जानकारी बहुत सुनियोजित ढंग से प्रयोग में लाई जा रही है।

भाई सतीश कुमार रोहरा, भाषा की आधुनिक अध्ययन पद्धति के मर्मज्ञ हैं। उन्होंने यह पुस्तक उन लोगों के लिए लिखी है जो भाषा अध्ययन की आधुनिक पद्धति के जिज्ञासु हैं। यह प्रारंभिक पुस्तक है पर डॉ० रोहरा ने नई जानकारियों को सरल भाषा में लिख देने में कोई कसर नहीं रखी है। वे धीरे-धीरे अधिक जटिल प्रश्नों को इसी प्रकार की सहज भाषा में प्रस्तुत करने की इच्छा रखते हैं।

मुझे आशा है कि डॉ० रोहरा का यह प्रयास छात्रों एवं इस विषय के जिज्ञासुओं को लाभप्रद होगा। भाषा के सामान्य विकास के साथ-साथ वे हिंदी भाषा के विशेष विकास क्रम की कहानी भी आसानी से नवीनतम पद्धति से जान सकेंगे। पुस्तक की सार्थकता इसी में है।

—हजारीप्रसाद द्विवेदी

वाराणसी
१२ अगस्त ७२

पुरोवाक्

आज भाषाविज्ञान का कार्य और पद्धति बहुत बदल गई है। भारतवर्ष में प्राचीनकाल से ही भाषा के अध्ययन को वरीयता दी जाती रही है। पाणिनि इस दृष्टि से भारत के ही नहीं विश्व के सर्वप्रथम भाषावैज्ञानिक कहे जा सकते हैं। जब हमारे पूर्वजों ने पाणिनि को भगवान् या ऋषि कहा तो वे प्रकारांतर से भाषाशास्त्र की महत्ता को आर्ष समर्थन दे रहे थे। पतंजलि का यह कहना यथार्थ है कि "**शोभना खलु पाणिनिना सूत्रस्यकृतिः** [२।३।६६]। गुलेरी जी ने भारतीय भाषाशास्त्र की परंपरा में पाणिनि का स्थान निर्धारित करते हुए लिखा है—"जैसे पाणिनि अपने पहले के सब संस्कृत वैयाकरणों का संघात है, वैसे ही वह अपने पिछले सभी वैयाकरणों का उद्गम है।" पाणिनि की श्रेष्ठता में किसे संदेह हो सकता है पर इस बात में किसी को संदेह नहीं हो सकता कि भाषा की धारा वैयाकरणों को छोड़कर सदा आगे निकल जाती है, इसी कारण पाणिनि को विकसित करने के लिए पतंजलि को आना पड़ता है, और एक के बाद एक नये भाषाशास्त्रीय इस निरंतर विकासमान धारा को थाहने के लिए एक के बाद एक प्रयत्न करते जाते हैं। हर प्रयत्न इसीलिए आगामी प्रयत्न के लिए न्यास बन जाता है। यही भाषाशास्त्र या किसी भी शास्त्र के अध्ययन की सारस्वत परम्परा का मूल स्वरूप है।

नव्य ज्ञान की अन्य आधुनिक शाखाओं की तरह ही भाषाविज्ञान का नया रूप भी पश्चिम की देन है। पिछले दो सौ वर्षों से योरोप में भाषा विज्ञान का अद्भुत विकास हुआ है। १९वीं शती में जब विलियम जोन्स ने अभिज्ञान शाकुंतल का अनुवाद किया, संस्कृत पर पश्चिमी पंडितों की

दृष्टि पड़ी। ग्रीक, लैटिन और संस्कृत की कुछ ध्वनियों और शब्दों में अद्भुत समता देखकर लोगों की दृष्टि तुलनात्मक अध्ययन की ओर मुड़ी। तब से आज तक इस विज्ञान ने कई चरण पार किये हैं और यह धीरे-धीरे वैज्ञानिक उपकरणों और पद्धतियों के द्वारा अपने को विश्व की भाषाओं के अध्ययन के लिए निरंतर सक्षम बनाता जा रहा है। अब यह सही अर्थ में विज्ञान की भूमिका में उतर आया है।

डॉ० रोहरा इस विकास प्रक्रिया से भली भांति परिचित हैं। डॉ० सतीश कुमार रोहरा आधुनिक पीढ़ी के भारतीय भाषा-वैज्ञानिकों में अपना स्थान बना चुके हैं। उन्होंने अपनी इस छोटी किंतु महत्त्वपूर्ण पुस्तक के द्वारा भाषाध्ययन के सामान्य सिद्धांत और हिंदी भाषा का व्यावहारिक विश्लेषण प्रस्तुत किया है। इस बिषय पर अब तक ढेरों पुस्तकें लिखी गई हैं; नाना आकार-प्रकार की, किंतु मुझे यह देखकर प्रीतिकर आश्चर्य हुआ कि डॉ० रोहरा ने सीमित दायरे में रहते हुए भी इस पुस्तक में एक ऐसी नूतन और सरल, साथ ही वैज्ञानिक पद्धति का अनुसरण किया है कि विषय स्नातक और स्नातकोत्तर विद्यार्थियों के लिए अत्यन्त बोधगम्य हो गया है। उनकी समास शैली में गागर में सागर उतारने का सफल प्रयत्न है। उन्होंने एक ओर बी० ए० स्तर के विद्यार्थियों के लिए जहां आवश्यक सामग्री को सम्यक् ढंग से प्रस्तुत किया है वहीं गहराई से देखने से मालूम होगा कि उनके द्वारा अपनाई गई पद्धति स्नातकोत्तर क्षात्रों को विषय के अध्यय को और भी विकसित और पुष्ट बनाने के लिए सही मार्ग और दिशा का समुचित निर्देश करती है। मैं उनकी इस पुस्तक के लिए उन्हें बधाई देना अपना कर्तव्य मानता हूं।

शिवप्रसाद सिंह
रीडर, हिंदी विभाग
काशी हिंदू विश्वविद्यालय
वाराणसी—५

१४सि तम्बर ७२
हिंदी दिवस

अनुवाक्

आज-कल भारत में भाषाविज्ञान का प्रचार-प्रसार बढ़ रहा है। बहुत से विश्वविद्यालयों में इस विषय के स्वतंत्र अध्ययन की व्यवस्था है, और प्रायः समस्त विश्वविद्यालयों में भाषाविज्ञान एवं हिंदी भाषा का अध्ययन, स्नातक एवं स्नातकोत्तर कक्षाओं के हिंदी साहित्य के पाट्यक्रम का अनिवार्य अंग है।

अपने अध्यापन कार्य के अनुभव से मैं यह जान पाया हूं कि यह विषय अब भी विद्यार्थियों के लिए 'हौवा' बना हुआ है। इसका मुख्य कारण यह है कि इस विषय पर हिंदी में लिखी हुई पुस्तकों में उस वैज्ञानिक दृष्टि का प्रायः अभाव है जो इस विषय के विश्लेषण में अपेक्षित है। इसीसे विद्यार्थी इस विषय को भी साहित्य के समान भाषा-शैली की उन रेशमी डोरियों में बांधने का प्रयत्न करता है जो इस विषय का भार संभाल नहीं पातीं। परिणामस्वरूप विषय विद्यार्थी के लिए भार बनकर रह जाता है।

एक बात और भी है। भारतीय विश्वविद्यालयों—विशेषकर हिंदी क्षेत्र के विश्वविद्यालयों—में इस विषय का नियत पाठ्यक्रम बहुत पुराना एवं तुलनात्मक दृष्टि से पिछड़ा हुआ है। इसका कुछ उत्तरदायित्व इस विषय पर हिंदी में लिखी हुई निम्नस्तरीय पुस्तकों पर भी है; क्योंकि पाठ्यक्रम एवं तत्संबंधी पुस्तकों में कार्य-कारण संबंध रहता है। उन्नत पाठ्यक्रम उच्चस्तरीय पुस्तकों के प्रणयन की प्रेरणा देता है तथा उत्तम पुस्तकें पाठ्यक्रम का स्तर ऊंचा करने में सहायता प्रदान करती हैं।

अतः इस पुस्तक लिखने का दुहरा उद्देश्य रहा है। एक तो सरल सुबोध एवं सटीक शैली में इस विषय का विश्लेषण प्रस्तुत कर, विद्यार्थियों

में इस विषय के प्रति अभिरुचि उत्पन्न करना; दूसरा, पाठ्यक्रम के घेरे को थोड़ा और विस्तृत करने का प्रयत्न करना। इसीसे न केवल भाषा संबंधी सैद्धांतिक विश्लेषण में वरन् हिंदी के व्यावहारिक विवेचन में भी विकारक, स्तंभ, क्रियाबंध आदि जैसे नये विषयों की चर्चा हो गयी है। पुस्तक, मुख्य रूप से स्नातक कक्षाओं के पाठ्यक्रम को ध्यान में रखकर लिखी गयी है, किंतु वह स्नातकोत्तर कक्षाओं के विद्यार्थियों के लिए भी उपयोगी सिद्ध हो सकती है।

कृतज्ञता ज्ञापन, मनुष्य धर्म का एक अंग है।
श्रद्धेय हजारीप्रसाद द्विवेदी जी को मुझ पर सदैव कृपा रही है; 'सुवाक्' इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है।

मित्रवर डॉ० शिवप्रसाद सिंह के लिए 'आभार' शब्द का प्रयोग कर में उनके सहज स्नेह को औपचारिक नहीं बनाना चाहता। पुस्तक लिखने की प्रेरणा से लेकर 'पुरोवाक्' तक की इस प्रक्रिया में मुझे सदैव उनसे बौद्धिक प्रोत्साहन प्राप्त होता रहा है।

इस पुस्तक की रचना में मैंने अनेक विदेशी (विशेषकर—हाकेट, ग्लीसन, ब्लाक-ट्रैगर, कैराल, शावरिया, जैस्पर्सन) एवं भारतीय (विशेषकर—सुनीतिकुमार चटर्जी, धीरेंद्र वर्मा, बाबूराम सक्सेना, उदयनारायण तिवारी, भोलानाथ तिवारी, हरदेव बाहरी) विद्वानों की ज्ञानराशि से लाभ उठाया है। मैं इन समस्त विद्वानों का आभारी हूं।

श्री कृष्णचंद्र बेरी (हिंदी प्रचारक) ने जिस सहजता से इस पुस्तक के प्रकाशन, तथा श्री सन्तशरण शर्मा ने जिस तत्परता से इस पुस्तक के मुद्रण में सहयोग दिया है, उसके लिए वे निःसंदेह बधाई के पात्र हैं।

अपने 'साध्य' का उल्लेख मैंने 'अनुवाक्' में कर दिया है। 'सिद्धि' के उल्लेख के लिए 'उत्तरवाक्' की प्रतीक्षा रहेगी।

वाराणसी
१५ सितंबर १९७२

—सतीशकुमार रोहरा

अनुक्रम

१ भाषा

- भाषा—व्यक्ति, समाज एवं सभ्यता
- भाषा—प्रयोग, साधन एवं साध्य
- भाषा की परिभाषा
- भाषा के पक्ष एवं भाषा की संरचना
- भाषा के अंग
- भाषा के तत्व
- भाषा की विशेषताएं
  —रचनागत विशेषताएं
  —स्वभावगत विशेषताएं
- भाषा की उत्पत्ति
- भाषा में परिवर्तन (विकास)



१.१ भाषा : व्यक्ति, समाज और सभ्यता :

भाषा मानव व्यवहार का एक महत्वपूर्ण अंग है। व्यक्ति के जीवन में भाषा के उपयोग की इतनी अधिकता है कि सांस लेने के पश्चात् भाषा के प्रयोग की ही गणना की जा सकती है।

मनुष्य, मूलरूप से सामाजिक प्राणी है। समाज के अभाव में उसके व्यक्तित्व का पूर्ण विकास असंभव है। **व्यक्ति के सामाजिक जीवन का मुख्य आधार भाषा है।** भाषा के अभाव में सामाजिक जीवन की कल्पना संभव नहीं है। मनुष्य के अतिरिक्त अन्य प्राणियों में विकसित सामाजिक जीवन के अभाव का मुख्य कारण यही है कि उनमें वाणी की वह शक्ति नहीं जो मनुष्य में है।

मानव-सभ्यता का विकास मूलरूप से अनुभवों के आदान-प्रदान पर निर्भर करता है। अनुभवों का यह विनिमय दो प्रकार से हो सकता है : एक तो अनुकरण के द्वारा और दूसरा भाषा के माध्यम से। अनुकरण केवल स्थूल क्रियाओं (यथा-खाना, पहनना आदि) का ही हो सकता है। सूक्ष्म बातों (यथा—इच्छाओं, विचारों, विश्वासों आदि) का अनुकरण नहीं किया जा सकता। ये बातें भाषा के माध्यम से ही सीखी और सिखाई जा सकती हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि ये सूक्ष्म बातें ही मानव-सभ्यता का प्राण अथवा आत्मा हैं। अतः यह कहना अनुचित न होगा कि **मानव-सभ्यता का वर्तमान स्वरूप, मुख्यरूप से मनुष्य की भाषा-शक्ति का ही परिणाम है।**

१.२ भाषा : प्रयोग, साधन और साध्य :

अपनी भाषा का प्रयोग व्यक्ति के लिए इतना सहज और स्वाभाविक है कि वह उसकी संरचना (Structure) एवं क्रियाविधि की ओर ध्यान ही नहीं देता। साधारण व्यक्ति की तो बात ही क्या, विद्वान् लोग भी 'स्वभाषा'* की संरचना संबंधी जानकारी देने में प्रायः असमर्थ रहते हैं। इसका कारण यह है कि व्यक्ति का संबंध भाषा के 'प्रयोग' से रहता है, 'भाषा संबंधी जानकारी'

* 'स्वभाषा' (Native Language) अर्थात् वह भाषा, जिसे व्यक्ति जन्म से ही सीखता और बोलता है। इसे-ही प्रायः 'मातृभाषा', कहा जाता है। 'स्वभाषा' का विरोधी शब्द 'इतरभाषा' (Foreign Language) है; जिससे तात्पर्य उस भाषा से है जो व्यक्ति की स्वभाषा नहीं हैं।

से नहीं। इस कारण वह भाषा संबंधी जानकारी के प्रति एक प्रकार से उदासीन रहता है।

कुछ लोग ऐसे होते हैं जिनके लिए भाषा-संबंधी जानकारी, भाषा-प्रयोग के समान ही अथवा उससे भी अधिक उपयोगी होती है। ये लोग ऐसे क्षेत्रों से संबंध रखते हैं, जिन क्षेत्रों में भाषा-संबंधी जानकारी सहायक सिद्ध होती है। अर्थात् ये लोग, अपने कार्य के लिए, साधन रूप में, भाषा-संबंधी जानकारी का प्रयोग करते हैं। ऐसे व्यक्तियों में अध्यापकों (विशेषकर इतरभाषा शिक्षकों), लेखकों, मनोवैज्ञानिकों, समाजशास्त्रियों, इतिहासकारों, कम्यूनीकेशन इंजीनीयरों आदि की गणना की जा सकती है।

इन लोगों के अतिरिक्त कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जिनके लिए भाषा का अध्ययन 'साधन' न होकर 'साध्य' होता है। ये लोग भाषा का अध्ययन किसी अन्य उद्देश्य की पूर्ति के लिए नहीं बल्कि स्वयं भाषा की 'आंतरिक संरचना' को समझने के लिए ही करते हैं। ऐसे लोगों को ही 'भाषा वैज्ञानिक' अथवा 'भाषा विज्ञानी' (Linguists) कहा जाता है; और भाषा वैज्ञानिकों द्वारा व्यवस्थित ढंग से प्रस्तुत की गयी भाषा (सामान्य) अथवा विशेष भाषा-संबंधी जानकारी को ही 'भाषा विज्ञान' (Linguistics) कहा जाता है।

भाषा का साध्य रूप में अध्ययन करने के कारण ही भाषाविज्ञान, ज्ञान की अलग एवं स्वतंत्र शाखा है; और अपनी इसी विशेषता के कारण वह ज्ञान की उन शाखाओं से भिन्न है जिनमें भाषा का अध्ययन साधन-रूप में किया जाता है।

१.३ भाषा की परिभाषा :

भाषा क्या है ? इस प्रश्न का सामान्य एवं प्रचलित उत्तर यही है कि 'भाषा एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा मनुष्य एक दूसरे से विचार-विनिमय करते हैं अथवा अपने भावों को अभिव्यक्त करते हैं'। भाषा की यह परिभाषा अनिश्चित एवं अस्पष्ट तो है ही, त्रुटिपूर्ण भी है। यह ऐसे ही है जैसे कहा जाय कि अंगूर एक फल है। अंगूर एक फल है यह सत्य है किंतु फल तो आम, अनार, अमरूद भी हैं। तो क्या अंगूर, आम, अनार और अमरूद सब एक ही चीज़ हैं ? वैसे ही भाषा विचार-विनिमय का साधन अवश्य है, किंतु वह विचार-विनिमय का एकमात्र साधन नहीं है। मनुष्य इतनी अधिक विधियों से विचारों की अभिव्यक्ति करता है कि उनकी गणना कर सकना ही संभव नहीं है।

आँख, हाथ और सिर के संकेतो से ही नहीं, पांव को पटककर, गाल अथवा नथुने को फुलाकर, दांत अथवा जीभ दिखाकर भी भावों की अभिव्यक्ति की जा सकती है। प्रिय के किसी मधुर बोल पर प्रेयसी के कपोलों पर फैल जाने वाली लालिमा क्या कोई भाव अभिव्यक्त नहीं करती ? गार्ड की झंडियाँ, तार बाबू की मशीन पर टिक-टिक, फैक्ट्री का बजनेवाला भोंपू, युद्ध के आक्रमण की सूचना देनेवाला सायरन, दिशा निर्देश करनेवाली चौराहे पर लगी हुई बत्तियाँ अथवा सिपाही के गिरते-उठते हाथ; सभी भाव-अभिव्यक्ति के साधन हैं। १८५७ की क्रांति में कमल के फूल एवं रोटी द्वारा क्राँति का संदेश पहुंचाया गया था। भाषा-आंदोलन के समय उत्तर-भारत के एक विश्वविद्यालय के छात्रों ने, दूसरे विश्वविद्यालय के छात्रों को चूड़ियों का उपहार भेजकर आंदोलन के लिए ललकारा था।

अब यदि गार्ड की झंडी, तार बाबू की टिक-टिक और प्रेयसी के कपोलों की लालिमा, सबको भाषा मानकर उसका विश्लेषण किया जाय तो वह विश्लेषण कैसा होगा ? वह विश्लेषण और चाहे कैसा भी हो, उसका स्वरूप विज्ञान के अनुकूल नहीं हो सकता। किसी भी विषय का वैज्ञानिक अध्ययन तभी संभव है जब कि उसका क्षेत्र निश्चित हो; और क्षेत्र तभी निश्चित हो सकता है जबकि उसकी सीमाएं निर्धारित हों। अतः भाषा को असीम नहीं ससीम बनाकर ही उसका विशिष्ट एवं वैज्ञानिक अध्ययन किया जा सकता है।

किसी भी विषय की सीमाएँ दो बातों से निर्धारित होती हैं। एक तो उस विषय के अध्ययन का उद्देश्य और दूसरा, उस विषय के अध्ययन की पद्धति। **भाषा-विज्ञान की दृष्टि से भाषा के अध्ययन का उद्देश्य है भाषा की आंतरिक रचना को समझना तथा उसे व्यवस्थित ढंग से प्रस्तुत करना।** भाषाविज्ञान में, भाषा के अध्ययन के लिए जिस पद्धति का अनुसरण किया जाता है उसकी प्रकृति वैज्ञानिक है। इस निश्चित उद्देश्य एवं निश्चित पद्धति के कारण भाषा विज्ञान में भाषा की दो सीमाएँ निर्धारित की गई हैं। ये सीमाएँ हैं—मानवीयता और कथ्यता। पहली सीमा के कारण भाषा-विज्ञान में केवल मनुष्यों की भाषा का अध्ययन होता है और दूसरी सीमा के कारण भाषा-विज्ञान में विचार-विनिमय की केवल उस पद्धति को भाषा माना जाता है जिसमें कथन की क्रिया हो। किसी क्रिया को 'कथन' तब कहा जाता है जब उसमें उच्चारण-अवयवों द्वारा ध्वनियों का हेतु पूर्वक उच्चारण किया गया हो। अतः **उच्चरित ध्वनियां और उन ध्वनियों द्वारा अभिव्यक्त हेतु ही वे तत्त्व हैं जो किसी क्रिया को**

कथन का स्वरूप प्रदान करते हैं ।

यहां दोनों सीमाओं के लिए शंकाएं उठाई जा सकती हैं । यह पूछा जा सकता है कि भाषा-विज्ञान में केवल मनुष्यों की ही भाषा का अध्ययन क्यों किया जाता है; अन्य प्राणियों की भाषा का भी अध्ययन क्यों नहीं किया जाता ? यह भी प्रश्न उठ सकता है कि भाषाविज्ञान में विचार संचार के कथ्य रूप को ही भाषा क्यों माना जाता है ? विचार-संचार की अन्य पद्धतियों (यथा-हाथ, आंख,झंडियों, सीटियों, चित्रों द्वारा विचार-संचार) को भाषा क्यों नहीं माना जाता ?

पहले प्रश्न के उत्तर में यह कहा जा सकता है कि भाषा एक सामाजिक व्यवहार है । समाजशास्त्र के द्वारा यह सिद्ध हो चुका है कि सही अर्थों में मनुष्य ही केवल सामाजिक प्राणी है । अतः सामाजिक व्यवहार के रूप में भाषा का व्यवहार मात्र मनुष्य ही कर सकता है । नवीन शोधों के द्वारा यह तथ्य भी प्रकट हो चुका है कि मनुष्य के सिवाय अन्य बहुत से प्राणियों में भाषा की शक्ति है ही नहीं । कुछ थोड़े से प्राणियों में वह शक्ति है अवश्य किंतु मनुष्य की भाषा शक्ति की तुलना में उनकी शक्ति इतनी सीमित है कि उसे सही अर्थों में भाषा नहीं माना जा सकता ।

एक बात और भी है । आधुनिक भाषा-विज्ञान में, भाषा का अध्ययन वैज्ञानिक पद्धति से किया जाता है । सुनिश्चितता (Precisian), वैज्ञानिकता की पहली शर्त है । अपेक्षाकृत नवीन विज्ञान होने के कारण, सुनिश्चितता को बनाए रखने के लिए, आधुनिक भाषा-विज्ञान ने अपने विषय क्षेत्र को मानवीय भाषा तक ही सीमित रखा है । नियमों के सुदृढ़ हो जाने के पश्चात यह संभव हो सकेगा कि भाषा-विज्ञान के अध्ययन क्षेत्र को मनुष्येतर प्राणियों की वाणी तक विस्तृत किया जाय ।

दूसरे प्रश्न का उत्तर यह है कि भाषा का वास्तविक रूप उसका कथ्य रूप ही है । विचार-संचार की अन्य पद्धतियां भाषा के कथ्य रूप का ही रूपांतर हैं । इस कारण आधुनिक भाषा-विज्ञान में, भाषा के कथ्य रूप को ही भाषा का वास्तविक रूप स्वीकार किया गया है ।

इस प्रकार भाषा विचार-संचार का वह मानवीय व्यापार है जो मूल रूप से कथ्य होता है । अन्य शब्दों में यों कहा जा सकता है कि **'भाषा मनुष्यों द्वारा उच्चरित उन ध्वनि-संकेतों की व्यवस्था को कहते हैं जिसके द्वारा किसी विशेष समुदाय के लोग विचारात्मक स्तर पर परस्पर सम्पर्क स्थापित करते हैं'** ।

१.४ भाषा के पक्ष एवं भाषा की संरचना :

भाषा की परिभाषा में यह बताया जा चुका है कि भाषा एक व्यवस्था अथवा पद्धति है। प्रत्येक पद्धति का अपना एक ढांचा होता है, जिसे उसकी संरचना कहा जाता है। भाषा-व्यवस्था का भी एक निश्चित ढांचा है जिसे भाषा की संरचना कहा जाता है।

हम जानते हैं कि भाषा ध्वनियों की व्यवस्था है। ध्वनियों का परिज्ञान ज्ञान-इंद्रियों द्वारा होता है, इस कारण ध्वनियों को 'स्थूल' कहा जाएगा। ध्वनियों से अर्थ की अभिव्यक्ति होती है। ध्वनियों से अभिव्यक्त अर्थ अथवा भाव बौद्धिक अनुभूति का विषय है; ज्ञान-इंद्रियों द्वारा अर्थ का परिज्ञान नहीं किया जा सकता, इस कारण अर्थ को 'सूक्ष्म' कहेंगे। स्थूल ध्वनियां भाषा को भौतिकता प्रदान करती हैं, अतः ध्वनियों को भाषा का भौतिक पक्ष कहा जाएगा। सूक्ष्म भाव भाषा को बौद्धिकता प्रदान करता है, इस कारण भाव अथवा अर्थ को भाषा का बौद्धिक पक्ष कहा जाएगा; अर्थात **भाषा के दो पक्ष हैं—भौतिक पक्ष एवं बौद्धिक अथवा मानसिक पक्ष**। प्रत्येक पक्ष की अपनी अलग संरचना है। भाषा की संरचना इन दोनों पक्षों की संरचनाओं का योग है।

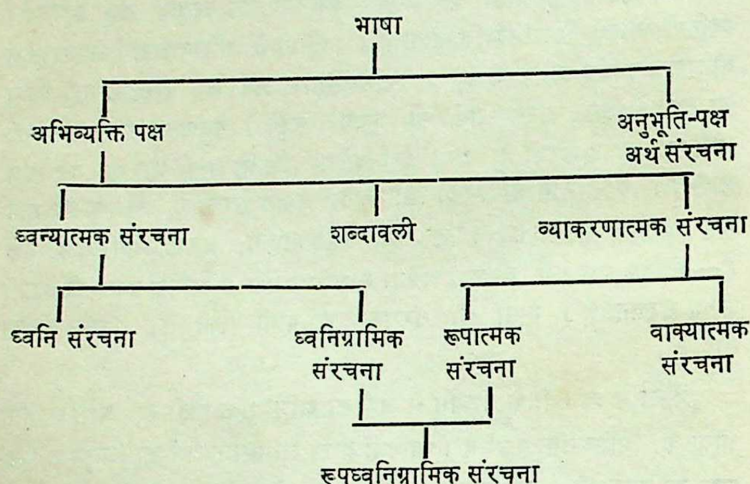
भाषा में ध्वनियों के माध्यम से अर्थ की अभिव्यक्ति होती है, अतः ध्वनियां भाषा का 'अभिव्यक्ति पक्ष' हैं। ध्वनियों द्वारा अभिव्यक्त अर्थ को 'अनुभूति पक्ष' कहा जा सकता है। इस प्रकार 'अभिव्यक्ति' एवं 'अनुभूति' की मिश्रित संरचना ही भाषा-संरचना कहलाती है। यह स्मरण रखना चाहिए कि यहां 'अभिव्यक्ति' एवं 'अनुभूति' शब्दों का वह अर्थ नहीं है जो अर्थ उनका साहित्य में है। यहां 'अभिव्यक्ति' से तात्पर्य ध्वन्यात्मकता से है और 'अनुभूति' का अर्थ ध्वनियों से प्रकट किसी भी प्रकार के आशय से है।

अभिव्यक्ति पक्ष का विश्लेषण करने पर यह बात विदित हो जाती है कि उसकी संरचना एक प्रकार की यौगिक संरचना है जो 'ध्वन्यात्मक संरचना' एवं 'व्याकरणात्मक संरचना' के योग से बनी है। 'ध्वन्यात्मक संरचना', 'ध्वनि-संरचना' और 'ध्वनिग्रामिक संरचना' का मिश्रित रूप है। सुविधा के लिए व्याकरणात्मक संरचना को 'रूपात्मक संरचना' और 'वाक्यात्मक संरचना' में विभाजित किया जा सकता है। अभिव्यक्ति पक्ष में एक अन्य संरचना का योग भी दिखाई पड़ता है। यह संरचना, रूपात्मक एवं ध्वन्यात्मक संरचनाओं

के मध्य संपर्क स्थापित करती हैं; इसे 'रूप ध्वनिग्रामिक संरचना' कहा जाता है। संपूर्ण अनुभूति पक्ष को 'अर्थ संरचना' का नाम दिया जाता है।

भाषा में एक अन्य घटक का भी प्रयोग होता है, वह हैं शब्दावली। यहां यह स्मरण रखना चाहिए कि भाषा और शब्द दो भिन्न वस्तुएँ हैं। भाषा एक प्रकार का ढांचा अथवा व्यवस्था है, उस व्यवस्था के नियमानुसार शब्दों का प्रयोग होता है। इस प्रकार शब्द भाषाई नियमों के प्रयोग का साधन हैं।

निम्नांकित रेखा—चित्र में भाषा-संरचना को दर्शाया गया है।



ऊपर जिन संरचनाओं का उल्लेख किया गया है उनमें से कुछ संरचनाएं मुख्य तथा कुछ अमुख्य अथवा गौण हैं। आधुनिक भाषा-विज्ञान, ध्वनि-संरचना तथा अर्थ-संरचना को अमुख्य तथा शेष संरचनाओं (ध्वनिग्रामिक संरचना, रूपात्मक और वाक्यात्मक संरचना) को मुख्य मानता है।

अर्थ-संरचना को अमुख्य मानने का कारण यह है कि 'अर्थ' अर्थात् 'अनुभूति' केवल भाषा-विज्ञान के अध्ययन का ही विषय नहीं है। वह उन समस्त शास्त्रों के अध्ययन का विषय भी है जो मनुष्य के बौद्धिक अथवा मानसिक पक्ष का अध्ययन करते हैं। इस प्रकार 'अनुभूति', दर्शनशास्त्र, मनोविज्ञान, समाज-शास्त्र आदि के अध्ययन का विषय है। फिर सूक्ष्म होने के कारण 'अनुभूति' का वैज्ञानिक अध्ययन कर पाना यदि असंभव नहीं तो अत्यंत कठिन अवश्य है।

ध्वनि-संरचना को अमुख्य मानने का एक कारण यह है कि ध्वनि भी केवल

भाषा के अन्तर्गत नहीं आती। भौतिक-विज्ञान में ध्वनि का अध्ययन विश्लेषण होता है। इसके अतिरिक्त मानव-मुख अगणित ध्वनियों का उच्चारण कर सकता है। यह आवश्यक नहीं है कि वे समस्त ध्वनियां भाषाई दृष्टि से महत्वपूर्ण हों।

(भाषा-विज्ञान के अध्याय में उपर्युक्त संरचनाओं का अधिक विवेचन किया गया है।)

१.५ भाषा के अंग :

भाषा एक व्यवस्था अथवा पद्धति है। किसी भी व्यवस्था अथवा पद्धति का यह अनिवार्य गुण होता है कि उसमें एक से अधिक अंग होते हैं और वे परस्पर संबद्ध होकर किसी एक ही कार्य को संपन्न करते हों। भाषा-व्यवस्था में भी एक से अधिक अंग हैं जो परस्पर संबंद्ध होकर विचार-संचार का कार्य संपादित करते हैं।

भाषा ध्वनियों की व्यवस्था है। अतः **भाषा की लघुतम इकाई ध्वनि है।** किंतु कोई भी ध्वनि भाषा का कार्य संपादित नहीं कर सकती; क्योंकि अकेली ध्वनि निरर्थक होती है, उसके द्वारा किसी अर्थ की अभिव्यक्ति नहीं होती। इस कारण उससे विचार-संचार का कार्य हो नहीं सकता। उदाहरणार्थं हिंदी की 'प्', 'म्', 'द्' आदि ध्वनियां स्वतंत्र रूप से किसी प्रकार के भाव की अभिव्यक्ति नहीं करतीं।

निरर्थक ध्वनियां ऐसे मान्य क्रम में आती हैं (प्रत्येक भाषा के अपने मान्य-क्रम होते हैं) जिनमें अर्थवत्ता आ जाती है। अन्य शब्दों में यों कहा जा सकता है कि ध्वनियां ऐसे महत्त्वपूर्णं योग बनाती हैं जिनसे अर्थ ध्वनित होता है। ध्वनियों के ऐसे महत्वपूर्ण योगों को सामान्य रूप से 'शब्द' कहा जाता है। (यों ये महत्त्वपूर्ण योग रूप, शब्द, पद आदि हो सकते हैं।)

सार्थक ध्वनि-योगों से अर्थ बोध तो होता है किंतु विचार-संचार नहीं होता। इसका मुख्य कारण यह है कि विचार एक अविछिन्न प्रक्रिया है। जब तक शब्दों में एक क्रमबद्धता उत्पन्न नहीं हो जाती तब तक विचार-संचार नहीं हो सकता। शब्दों में क्रमबद्धता अर्थात् संबंध स्थापित करने के लिए, **शब्दों को मान्य क्रम में रखकर उनके शब्द-योग बनाए जाते हैं, जिन्हें सामान्य रूप से 'वाक्य' कहा जाता है।** (यों शब्द-योग वाक्यांश आदि भी हो सकते

हैं।) शब्दों के महत्त्वपूर्ण योग अर्थात् वाक्य बनाने के नियम प्रत्येक भाषा में भिन्न-भिन्न होते हैं। वाक्य से एक ऐसे अर्थ की अभिव्यक्ति होती है जो विचार संपर्क में सहायक होता है। वाक्य से ही विचार-संचार होता है। अतः भाषा का कार्य वाक्य के स्तर पर ही सम्पादित होता है। इस प्रकार 'वाक्य' ही सही अर्थों में भाषाई-इकाई है। ध्वनि और वाक्य के मध्य 'रूप' एवं 'शब्द' के सोपान हैं। इस प्रकार ध्वनि, रूप शब्द, वाक्य एवं अर्थ ये भाषा के चार अंग हैं, जिनके सम्मिलित रूप का नाम 'भाषा' है।

१.६ भाषा के तत्व :

भाषा के अंगों एवं तत्वों के बीच अंतर करना सामान्य रूप से कठिन होता है। इसका कारण यह है कि भाषा के कुछ तत्व ऐसे भी हैं जो भाषा के अंग भी हैं। फिर भी भाषा के अंगों एवं तत्वों के बीच की भिन्नता को समझ लेना आवश्यक है। उदाहरणार्थ शरीर के अंग कहने से हाथ, पांव, आंख, कान आदि का बोध होता है किंतु शरीर के तत्व कहने से रक्त, मांस हड्डियों आदि ऐसे पदार्थों पर ध्यान जाता है जिन से शरीर के समस्त अंगों की रचना हुई है। वैसे ही भाषा के तत्व अर्थात वह सामग्री जिससे भाषा के समस्त अंगों की रचना हुई है। भाषा के वे तत्व हैं ध्वन्यात्मकता (Sound Element) एवं अर्थवत्ता (Meaning Element)। इन दोनों तत्त्वों के मिश्रण से भाषा के समस्त अंगों की रचना होती है। भाषा की लघुतम इकाई अर्थात छोटे-से-छोटा अंग ध्वनि है। भाषा की वृहत्तम इकाई या बड़े-से-बड़ा अंग वाक्य है। वाक्य को भाषा का लघुतम रूप भी कह सकते हैं। इन दोनों के मध्य रूप, शब्द, पद, वाक्यांश आदि कई इकाइयां अथवा अंग हैं।

ध्वनि के अंग की रचना तो सीधे ध्वनि तत्व से ही होती है; भाषा के शेष अंगों की रचना ध्वनि तत्व एवं अर्थ तत्व के मिलने से होती। ध्वनि एवं अर्थ मिलकर रूप की रचना करते हैं। ध्वनि एवं अर्थ के योग से ही शब्द एवं पद बनते हैं। शब्दों (सही अर्थों में पदों) के योग से वाक्य बनते हैं। इसे यों भी कह सकते हैं कि ध्वनि एवं अर्थ मिलकर भाषा के लघुतम रूप अर्थात वाक्य की रचना करते हैं। वाक्य को पदों, शब्दों, रूपों एवं ध्वनियों में विभाजित किया जा सकता है। इस प्रकार ध्वनितत्व एवं अर्थतत्व ही वे तत्व हैं जिनसे भाषा के समस्त अंगों का निर्माण होता है।

१.७ भाषा की विशेषताएं :

भाषा को सीमाबद्ध करने एवं उसकी संचारात्मक प्रकृति को समझने के पश्चात् अब भाषा की मुख्य विशेषताओं को समझा जा सकता है।

भाषा की विशेषताओं को दो श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है। पहली श्रेणी में भाषा की रचनागत विशेषताएं आ जाती हैं एवं दूसरी श्रेणी में उसकी प्रकृतिगत अथवा स्वभावगत विशेषताओं की गणना की जा सकती है।

यह स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि रचना की विशेषताएं स्वभाव की विशेषताओं से भिन्न होती हैं। उदाहरणार्थ मनुष्य की रचनागत विशेषताओं में उसके शरीर की गठन का उल्लेख होगा, जिसमें मुख्य रूप से रक्त, अस्थियों, मांसपेशियों आदि का वर्णन होगा किंतु उसकी स्वभावगत विशेषताओं में उसकी बौद्धिकता, तर्कशीलता, सामाजिकता, स्नेह, सहानुभूति आदि का कथन होगा। इसी प्रकार भाषा की रचनागत विशेषताओं में उन बातों का उल्लेख होता है, जिनसे भाषा की गठन को समझा जा सकता है और उसकी स्वभावगत विशेषताओं में उन बातों का वर्णन होता है जिनसे उसकी प्रकृति एवं व्यवहार को समझने में सुविधा होती है।

१.७.१ भाषा की रचनागत विशेषताएं :

(क) उच्चरित ध्वनियां

भाषा विचार-संचार की ध्वन्यात्मक प्रणाली है; अर्थात इस प्रणाली में विचार-संचार ध्वनियों के माध्यम से होता है। ये ध्वनियां अनिवार्य रूप से उच्चरित होनी चाहिए। उच्चरित ध्वनियों से तात्पर्य ऐसी ध्वनियों से है जो उच्चारण-अवयवों (मुख, जिह्वा आदि) के हेतुपूर्वक प्रयोग से उत्पन्न की जाती हैं।

भाषा की इस विशेषता के कारण विचार-संचार की मूक क्रियाओं (यथा—हाथ, आँख, झंडी आदि से संकेत करना) तथा अनुच्चरित ध्वनियों (यथा—चुटकी बजाने, दरवाजा खटखटाने आदि की ध्वनियों) का भाषा में समावेश नहीं किया जाता।

(ख) प्रतीकात्मकता

प्रतीक, उस चिह्न विशेष को कहते हैं, जो ऐसे आशय को अभिव्यक्त करता है जो आशय अनिवार्य रूप से उसमें निहित न हो। उदाहरणार्थ कमल को

पवित्रता का प्रतीक कहा जा सकता है किन्तु बर्फ को ठंडक का प्रतीक नहीं कहा जा सकता; क्योंकि पवित्रता कमल का अनिवार्य गुण नहीं है, जब कि ठंडक बर्फ का अनिवार्य गुण है। प्रतीक मूल नहीं होता, वह किसी अन्य पदार्थ (भाव आदि) के लिए प्रयुक्त होता है। प्रतीक में मूल पदार्थ का अनुभव कराने की शक्ति होती है। प्रतीक पद्धति का प्रयोग करने वाले व्यक्तियों के मध्य एक ऐसा आन्तरिक समझौता रहता है जिसके कारण एक व्यक्ति जिस आशय से किसी प्रतीक का प्रयोग करता है दूसरे व्यक्ति उस प्रतीक से वही आशय ग्रहण करते हैं।

भाषाई ध्वनियां, ध्वन्यात्मक प्रतीक (Vocal Symbols) हैं, जो अपने द्वारा किसी दूसरे आशय को अभिव्यक्त करते हैं।

यहां यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि वास्तविक आशय (वस्तु, भाव, इच्छा आदि) और उस आशय के लिए प्रयुक्त होनेवाला शब्द (ध्वनि-समूह) ये दो भिन्न वस्तुएँ हैं। 'आशय' वास्तविक होता है किन्तु उस आशय के लिए प्रयुक्त शब्द उस आशय का कथन मात्र होता है। भूख शब्द वास्तविक भूख नहीं है, वह भूख का कथन मात्र है। उसमें यह शक्ति है कि वह 'भूख' आशय को अभिव्यक्त करता है। यही प्रतीक का गुण एवं कार्य होता है।

ध्वनि की इस प्रतीकात्मकता को ही ध्वनि की सार्थकता कहा जाता है। भाषाई ध्वनि तभी सार्थक कही जा सकती है, जब कि उसमें पृथकत्व (Aloofness) का गुण हो। पृथकत्व से तात्पर्य है ध्वनि का आशय की स्थिति से अनिवार्य संबंध न हो। उदाहरणार्थ 'भूख' शब्द का 'भूख' की वास्तविक स्थिति से कोई अनिवार्य संबंध नहीं है। यह आवश्यक नहीं है कि भूख शब्द का प्रयोग तभी किया जाय, जब सचमुच भूख लगी हो। एक भिखारी मांगते समय जब कहता है कि 'मैं भूखा हूं' तब यह आवश्यक नहीं है कि वह उस समय भूखा हो ही। इस प्रकार 'भूख' आशय की स्थिति के अभाव में भी 'भूख' ध्वनि से वही आशय ग्रहण किया जाता है।

भाषा की इस विशेषता के कारण ही खांसी (उद्देश्य हीन), जम्हाई आदि से उत्पन्न ध्वनियों को भाषा में नहीं गिना जाता। इन ध्वनियों में प्रतीकात्मकता नहीं होती; क्योंकि ये ध्वनियाँ अपने से परे अन्य किसी आशय को अभिव्यक्त नहीं करतीं। ये ध्वनियाँ सही अर्थों में उच्चरित भी नहीं कही जा सकतीं क्योंकि इन ध्वनियों की अभिव्यक्ति उच्चारण अव्ययों के हेतुपूर्वक प्रयोग से नहीं होती।

इस संदर्भ में 'चुंबन' का विवेचन अनुचित न होगा।

कुछ भाषा वैज्ञानिकों का विचार है कि 'चुंबन' एक उच्चरित ध्वनि है तथा अन्य किसी भी भाषाई ध्वनि से अधिक सार्थक है; क्योंकि इसका अर्थ तो विश्व का प्रत्येक व्यक्ति समझ लेता है। इन लोगों के विचार से इस ध्वनि को भाषाई ध्वनि न मानने का कारण यह है कि आधुनिक भाषा विज्ञान में इस ध्वनि का अध्ययन-विश्लेषण करने की कोई युक्ति नहीं है।

आधुनिक भाषाविज्ञान अपेक्षाकृत नवीन विज्ञान है, इस कारण वह पूर्णता का दावा तो नहीं कर सकता किंतु 'चुंबन' को भाषाई ध्वनि न मानने का कारण आधुनिक भाषाविज्ञान की न्यूनता नहीं बल्कि स्वयं 'चुंबन' में भाषाई गुणों की न्यूनता है।

सबसे पहली बात तो यह है कि 'चुंबन' एक क्रिया है, ध्वनि नहीं है। यदि उसमें से किसी ध्वनि की अभिव्यक्ति होती है (जो कि अनिवार्य नहीं है क्योंकि बिना ध्वनि उत्पन्न किए भी चुंबन हो सकता है) तो वह उस क्रिया से उत्पन्न सहज ध्वनि है, हेतुपूर्वक उत्पन्न की गई ध्वनि नहीं है। इस दृष्टि से 'चुंबन से उत्पन्न ध्वनि उस ध्वनि के ही समान है, जो किसी को जोर से चांटा मारने पर उत्पन्न हो सकती है।

भाषाई ध्वनि की दूसरी विशेषता है प्रतीकात्मकता। यह पहले ही बताया जा चुका है कि ध्वनि की प्रतीकात्मकता उसकी पृथक्ता से ही सिद्ध होती है। 'चुंबन' की ध्वनि में यह गुण भी नहीं है।

तथ्य यह है कि चुंबन क्रिया से चाहे जो भी आशय अभिव्यक्त होता हो, 'चुंबन' से उत्पन्न ध्वनि से कोई आशय अभिव्यक्त नहीं होता; फिर भी यदि किसी सुननेवाले को इस ध्वनि से किसी आशय (स्नेह आदि) की अनुभूति होती भी है तो उसमें पृथकत्व का गुण नहीं है। 'चुंबन' से उत्पन्न ध्वनि का 'चुंबन' क्रिया से अनि-वार्य संबंध है। 'चुंबन' क्रिया के अभाव में या तो इस ध्वनि की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती या फिर उससे स्नेह आदि आशय की अनुभूति नहीं होती। इस प्रकार इस ध्वनि में प्रतीकात्मकता नहीं है; और इसलिए इस ध्वनि को सार्थक ध्वनि नहीं कहा जायगा। सही अर्थों में इसे मात्र ऊपर से सुनी हुई (Overheard) ध्वनि समझना चाहिए। वस्तुस्थिति यह है कि भावों (सुख, दुःख आदि) की तीव्रता के कारण कुछ ध्वनियाँ अनायास (हेतुपूर्वक नहीं) ही प्रस्फुटित हो जाती हैं। ये ध्वनियां संबद्ध क्रियाओं और भावों से अनिवार्य रूप से जुड़ी रहती हैं और उन क्रियाओं और भावों की स्थिति के अभाव में कोई अर्थ नहीं

देतीं । अतः इन ध्वनियों में प्रतीकात्मकता नहीं होती, इस कारण ऐसी ध्वनियों को भाषाई ध्वनियां नहीं कहा जायगा । 'चुंबन' से उत्पन्न ध्वनि को भी अधिक से अधिक चुम्बन-क्रिया और स्नेह आदि भाव का अंश माना जा सकता है; भाषाई ध्वनि नहीं और जब यह ध्वनि भाषाई नहीं है तब भाषा-विज्ञान में उसके अध्ययन का प्रश्न ही नहीं उठता ।

(ग) ऐच्छिकता

पूर्व परिच्छेद में यह बात स्पष्ट कर दी गई है कि प्रत्येक भाषाई ध्वनि एक प्रकार का प्रतीक है, जो किसी विशेष आशय (पदार्थ, भाव, इच्छा आदि) के लिए प्रयुक्त होती है । अब प्रश्न यह है कि एक ध्वनि-प्रतीक एवं उसके आशय में जो संबन्ध है वह किस प्रकार का है ? ऐच्छिकता इस प्रश्न का उत्तर देती है ।

ऐच्छिकता (Arbitrariness) से तात्पर्य है कि **ध्वनि प्रतीक (मोटे रूप से शब्द) एवं तत्संबंधी आशय में कोई तात्विक अथवा तार्किक संबंध नहीं हैं ।** अर्थात ध्वनि प्रतीक ऐच्छिक (Arbitrary) हैं । उदाहरणार्थ एक प्राणी विशेष है जिसे हिंदी भाषा में 'घोड़ा' शब्द (ध्वनि-प्रतीक) से अभिव्यक्त किया जाता है । उस वास्तविक प्राणी एवं 'घोड़ा' शब्द में कोई सहजात अथवा तार्किक संबंध नहीं है, अर्थात यह अनिवार्य नहीं है कि इस प्राणी के लिए केवल इस शब्द विशेष का ही प्रयोग हो । अन्य किसी भी शब्द का इस प्राणी के लिए प्रयोग किया जा सकता था । यह मात्र एक ऐतिहासिक घटना है कि एक विशेष समुदाय के व्यक्ति इस प्राणी विशेष के लिए इस शब्द विशेष का प्रयोग करते हैं । यदि ध्वनि प्रतीक (शब्द) एवं उससे अभिव्यक्त आशय (पदार्थ) में कोई सहजात अथवा तार्किक संबंध होता तो प्रत्येक पदार्थ के लिए सब भाषाओं में समान ध्वनिप्रतीक अर्थात शब्द का प्रयोग होता किन्तु ऐसा है नहीं । हम जानते हैं कि एक ही पदार्थ को विभिन्न भाषाओं में विभिन्न शब्दों के द्वारा अभिव्यक्त किया जाता है । उदाहरणार्थ जिस प्राणी को हिन्दी में 'घोड़ा' कहा जाता है उसी को अंग्रेजी में 'हार्स' संस्कृत में 'अश्व' कहा जाता है ।

ध्वनि प्रतीक एवं उससे संबद्ध आशय का संबंध रूढ़ अथवा परंपरागत (Traditional) होता है । किसी विशेष ध्वनि प्रतीक (शब्द) से एक विशेष अर्थ ग्रहण करने की परंपरा चल पड़ती है; और इस प्रकार उसका अर्थ रूढ़ हो जाता है ।

कुछ लोग अनुकरणात्मक शब्दों (यथा—'का........का' ध्वनि के अनुकरण पर 'कागा' शब्द का निर्माण), शिशु शब्दों (यथा—मा....मा, पा....पा आदि)

तथा भावाभिव्यंजक शब्दों (यथा—आह, ओह आदि) के आधार पर शब्दों की ऐच्छिकता के प्रति शंका प्रकट करते हैं। उन लोगों के कथनानुसार ऐसे शब्दों में ध्वनि प्रतीक एवं उनसे अभिव्यक्त आशय में एक प्रकार का सहजात संबंध होता है।

तथ्य यह है कि इस प्रकार की शंका प्राचीन भाषावैज्ञानिकों द्वारा कभी उठाई गई थी किन्तु आज यह शंका ऐसी निराधार समझी जाती है कि कोई भाषावैज्ञानिक, इसे उठाने का विचार नहीं करता। कारण यह है कि स्वयं ऐसे शब्द किसी भी भाषा में इतने थोड़े हैं कि उन थोड़े से शब्दों के आधार पर भाषा की इस मूलभूत विशेषता को नकारा नहीं जा सकता। दूसरी बात यह है कि स्वयं ऐसे शब्दों में ध्वनि-आशय का संबंध सहजात न होकर आकस्मिक है। यदि यह संबंध सहजात अथवा तार्किक होता तो फिर संसार की सब भाषाओं में कम से कम ये शब्द समान होते किन्तु ऐसा नहीं है। कौवे तो हर स्थान पर 'का....का' करते होंगे लेकिन संसार की सभी भाषाओं में उसे 'कागा' नहीं कहा जाता। अतः ध्वनि प्रतीकों की ऐच्छिकता निर्विवाद है।

जब ध्वनि-प्रतीक एवं आशय के बीच में कोई तार्किक अथवा सहजात संबन्ध ही नहीं है तब इस भ्रम के लिए कोई स्थान ही नहीं रह जाता कि अमुक आशय के लिए अमुक ध्वनि-प्रतीक (शब्द) उचित है और अमुक उचित नहीं है।

भाषा की इस विशेषता के कारण ही संसार में अनेक भाषाएं हैं। यदि प्रतीकों में ऐच्छिकता का गुण न होता—अर्थात एक विशेष आशय एक ही विशेष ध्वनि प्रतीक से अभिव्यक्त होता–तो संसार में मात्र एक ही भाषा होती; किन्तु संसार में एक नहीं अनेक भाषाएं हैं।

(घ) क्रमबद्धता

भाषा का कार्य है विचार-विनिमय, और उस विचार-विनिमय का भौतिक माध्यम है ध्वनियां। ध्वनियों में विचार अभिव्यक्त करने या विचार ग्रहण कराने का सामर्थ्य होता है। ध्वनियों के इसी गुण को ध्वनियों की सार्थकता कहा जाता है। ध्यान देने की बात यह है कि यह विचार अभिव्यक्त करने की शक्ति 'ध्वनियों' में है, 'ध्वनि' में नहीं। कहने का तात्पर्य यह है कि कोई भी भाषाई ध्वनि अपने आप में सार्थक नहीं होती, ध्वनियों के समूह अथवा योग (जिन्हें मोटे रूप से शब्द कहा जाता है) ही सार्थक होते हैं। जब एक या

एक से अधिक ध्वनियां 'विशिष्ट योग' (Significant Combination) अथवा 'समष्टि' बनाती हैं तभी उनसे विचार अथवा अर्थ की अभिव्यक्ति होती है। उदाहरणार्थ हिन्दी की 'ई' ध्वनि का कोई अर्थ नहीं है, वैसे ही हिन्दी की 'श' ध्वनि भी निरर्थक ही है किन्तु इनके योग 'ईश' से एक विशेष अर्थ की अभिव्यक्ति होती है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि एक स्वतंत्र ध्वनि भी सार्थक होती हैं; यथा हिन्दी की 'आ' ध्वनि जिसका अर्थ है 'आओ'। ऐसी स्थिति में एक स्वतंत्र ध्वनि, ध्वनि योग का-सा कार्य करती है। प्रश्न यह है कि 'निरर्थक' ध्वनियों के योग में सार्थकता कहां से आती है? इस सार्थकता का कारण है उनका एक विशेष क्रम से आना। यह **'विशिष्ट क्रमबद्धता'** (Particular Order) ही **उनमें सार्थकता का गुण उत्पन्न कर, इन्हें** प्रतीक बनाती है। उदाहरणार्थ 'ई' और 'श' ध्वनियों के योग में तभी सार्थकता उत्पन्न हुई है जब 'ई' के पश्चात् 'श' ध्वनि आयी है। यदि इन ध्वनियों का क्रम बदल दिया जाय अर्थात् 'शई'* कर दिया जाय तो यह योग हिन्दी भाषा में ऐसा ही निरर्थक समझा जायगा जैसा कि 'ई' और 'श' की स्वतंत्र ध्वनियों मे समझा जाता है।

यहाँ यह बात स्पष्ट रूप से ध्यान में रखनी चाहिए कि ध्वनियों की क्रम-बद्धता के संबंध में प्रत्येक भाषा के अपने नियम होते हैं। एक भाषा में जो क्रम मान्य है वह दूसरी भाषा में अमान्य हो सकता है। उदाहरणार्थ हिन्दी में 'क' एवं 'ल' का योग 'कल' तो मान्य है किन्तु इसका विपरीत योग 'लक' मान्य नहीं है, जब कि यह योग अंग्रेजी में मान्य है एवं उसका अर्थ है 'भाग्य' (Luck)।

भाषा की इस विशेषता के कारण ही क्रम रहित अथवा अमान्य क्रम से प्रयुक्त ध्वनियाँ भाषा का रूप नहीं धारण करतीं।

इससे पूर्व के परिच्छेदों में ध्वनियों की जिस प्रतीकात्मकता तथा ऐच्छिकता का वर्णन किया गया है, वे गुण विशिष्ट ध्वनि-योगों के हैं, किसी स्वतंत्र ध्वनि के नहीं।

(ङ) व्यवस्था

एक कार्य में संलग्न विभिन्न अंगों के पारस्परिक संबंध को ही व्यवस्था (System) कहा जाता है। इस प्रकार किसी भी व्यवस्था में एक से अधिक अंग होते हैं एवं उनका एक दूसरे से निश्चित संबंध रहता है।

* इससे चिह्नित शब्द काल्पनिक है, वास्तविक नहीं।

इस दृष्टि से **भाषा एक व्यवस्था है। भाषा व्यवस्था के विभिन्न अंग हैं— ध्वनियां, शब्द, वाक्य, अर्थ;** और इन विभिन्न अंगों का एक दूसरे से सुनिश्चित एवं नियमित संबंध है।

भाषा की व्यवस्था के दो स्पष्ट प्रमाण हैं। एक तो यह कि भाषा यदि व्यवस्थित न होती तो उसका एक से अधिक व्यक्तियों द्वारा प्रयोग संभव न होता। दूसरा, यदि भाषा में व्यवस्था न होती तो भाषा का वैज्ञानिक पद्धति से अध्ययन संभव न होता। भाषा की निश्चित व्यवस्था ने ही भाषा का मशीनी अध्ययन (विभिन्न यंत्रों की सहायता से किया जाने वाला अध्ययन) संभव बनाया है। यहां यह स्मरण रखना चाहिए कि प्रत्येक भाषा की अपनी निजी व्यवस्था होती है जो दूसरी भाषा की व्यवस्था से भिन्न होती है।

(च) संपर्क

भाषा एक प्रकार की विचार-संचार प्रणाली है। इसके द्वारा एक समुदाय के व्यक्ति एक-दूसरे से संपर्क स्थापित करते हैं। यहां संपर्क से तात्पर्य है कि एक भाषा समुदाय का व्यक्ति जो 'आशय' 'अभिव्यक्त' करता है, उस समुदाय का दूसरा कोई भी व्यक्ति उस आशय को 'ग्रहण' कर सकता है।

सांकेतिक प्रणाली की यह एक अनिवार्य विशेषता होती है कि उस प्रणाली का प्रयोग केवल वे ही व्यक्ति कर सकते हैं जो उस प्रणाली के संकेतों के अर्थ को ग्रहण कर सकते हों। उदाहरणार्थ स्काउट झंडियों की एक सांकेतिक प्रणाली का प्रयोग कर एक-दूसरे को संदेश भेजते हैं। अब इस प्रणाली का प्रयोग केवल वे ही व्यक्ति कर सकते हैं जो झंडियों के उन संकेतों के अर्थ को जानते हों। यही बात भाषा की है। एक भाषा का प्रयोग एक विशेष मनुष्य समुदाय ही कर पाता है, दूसरा नहीं। इसी से विभिन्न समुदायों की विभिन्न भाषाएं होती हैं और प्रत्येक भाषा दूसरी भाषा से भिन्न होती है।

१.७.२ भाषा की स्वभावगत विशेषताएं :

(क) अर्जित व्यवहार

'भाषा की परिभाषा' का विवेचन करते हुए यह बात स्पष्ट कर दी गई है कि **भाषा एक प्रकार का मानवीय व्यवहार है।**

मनुष्यों के समस्त व्यवहारों को दो श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है। एक श्रेणी में उसके वे व्यवहार आते हैं जिनके संपादन में उसके प्राकृतिक ज्ञान का प्रभाव रहता है। इन व्यवहारों को सीखने की आवश्यकता नहीं

२

पड़ती। हां, यदि उन व्यवहारों की शिक्षा दी जाती है तो कम समय में एवं अधिक सुचारु ढंग से उनका संपादन किया जा सकता है। खाने, पीने, चलने, बैठने, रोने, सोने, चिल्लाने आदि के व्यवहार इसके उदाहरण है। ऐसे व्यवहारों को 'प्राकृतिक' अथवा 'प्रवृत्यात्मक व्यवहार' (Instinctive Behaviour) कहा जाता है। ये व्यवहार प्रायः समस्त प्राणियों में समान होते हैं। इस कारण ऐसे व्यवहारों को 'प्राणी-व्यवहार' (Animal Behaviour) भी कहा जाता है।

मनुष्य के दूसरे व्यवहार ऐसे हैं जिन्हें सीखना पड़ता है; बिना सीखे उन व्यवहारों का संपादन नहीं हो सकता। इस कारण इन व्यवहारों को अर्जित व्यवहार (Learned or Acquired Behaviour) कहा जाता है। उदाहरणार्थ बाजा बजाना मनुष्य को तभी आ सकता है जब वह उसे सीख ले। साधारणतः मनुष्य के इन विशिष्ट व्यवहारों को ही मानवीय व्यवहार (Human Behav.our) की संज्ञा दी जाती है।

भाषा की गणना दूसरे प्रकार के व्यवहारों में की जाती है, अर्थात् भाषा मनुष्य द्वारा संपादित ऐसा व्यवहार है जो अर्जित अथवा सीखा हुआ है।

एक समय था जब ऐसा सोचा जाता था कि भाषा प्राकृतिक है। जिस प्रकृति ने मुख, जिह्वा आदि उच्चारण अवयव दिए हैं उसी ने उन अव्ययों का प्रयोग करना भी सिखा दिया है। अपनी बात को पुष्ट करने के लिए इस प्रकार से सोचने वाले, यह तर्क दिया करते थे कि मनुष्येतर प्राणी बिना सिखाए ही बोल लेते हैं तब मनुष्य—जो सब प्राणियों में श्रेष्ठ है—को ही भाषा सीखने की आवश्यकता क्यों पड़ेगी? ऐसे लोग यह भी कहते थे कि बालक को कोई भाषा नहीं सिखाता फिर भी बालक भाषा बोलने लगता है; अर्थात् भाषा प्राकृतिक है।

अब इस प्रकार से सोचना हास्यास्पद सा लगता है। आधुनिक भाषा-विज्ञान के अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो गई है कि मुख, जिह्वा आदि तथाकथित उच्चारण अवयवों का प्रथम (Primary) एवं अनिवार्य कार्य उच्चारण करना नहीं है। यह उनका गौण (Secondary) एवं वैकल्पिक (Obtional) कार्य हैं। मनुष्य ने अपने शरीर के अनेक अंगों को ऐसे कई कार्य सिखा दिए हैं जो उनके प्रथम अर्थात् मुख्य कार्य नहीं हैं। उदाहरणार्थ पैरों को नृत्य करने का एवं हाथों को बाजा बजाने का कार्य मनुष्य ने सिखाया है। यों इन अंगों के ये प्रथम कार्य नहीं हैं। वैसे ही मुख का मुख्य कार्य भोज्य पदार्थ को चबाना है; जिह्वा इस कार्य में उसकी सहायता करती है। उच्चारण क्रिया, इन

अवयवों की वैकल्पिक एवं अर्जित क्रिया है। यह कार्य मनुष्य ने इन अवयवों को सौंपा है, प्रकृति ने नहीं। वास्तविकता यह है कि प्रकृति ने मनुष्य को उच्चारण अवयव नहीं दिए हैं। मनुष्य ने कुछ अंगों को (जो अंग यह कार्य कर सकते थे) उच्चारण का कार्य सिखा दिया और वे अंग 'उच्चारण अवयव' कहलाने लगे।

यह बात उतनी तर्कपूर्ण है नहीं जितनी तर्कपूर्ण लगती है कि जब अन्य प्राणी बिना सिखाए ही बोल लेते हैं तब मनुष्य बिना सिखाए क्यों नहीं बोल पाएगा ?

वास्तव में मनुष्य की श्रेष्ठता इस बात पर आधारित नहीं है कि वह अन्य प्राणियों के से व्यवहार कर पाता है अथवा नहीं। घोड़े और गाय का बच्चा बिना सिखाए ही तैर सकता है किंतु बिना सीखे बच्चा तो क्या वयस्क एवं प्रौढ़ मनुष्य भी नहीं तैर सकता। बिना सीखे तैर न सकने की यह अयोग्यता मनुष्य को गाय और घोड़े से हीन सिद्ध नहीं करती। प्राणी होने के बावजूद भी मनुष्य एक भिन्न जाति का प्राणी है; इसलिए यह स्वाभाविक एवं संभव है कि यह ऐसे कई व्यवहार न कर सके जो अन्य प्राणी कर सकते हैं। सर्वश्रेष्ठ उपाधिधारी यह जीव न तो चिड़िया के समान उड़ पाता है और न ही बत्तख के समान पानी के ऊपर तैर सकता है।

यह सोचना भी सही नहीं है कि समस्त प्राणी 'भाषा' बोलते हैं। यह सत्य है कि प्रत्येक प्राणी 'कुछ' बोलता है—बोल सकता है—किंतु हर प्राणी का वह 'कुछ' भाषा नहीं है। भाषा की जो रचनागत विशेषताएं हैं वे मनुष्येतर प्राणियों की बोली में प्रायः नहीं मिलती। अतः समस्त प्राणियों में वाणी की शक्ति तो है किंतु भाषा की शक्ति मनुष्य में है।

यहां 'व्यवहार' और 'व्यवहार की शक्ति' के अंतर को स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए। पग उठाने की तथा कूदने की शक्ति मनुष्य में प्राकृतिक है किंतु नृत्य (जो पग उठाने की एक व्यवस्था है) एक अर्जित व्यवहार है। मनुष्य अपने प्राकृतिक ज्ञान से पग उठा सकता है, कूद सकता है किंतु बिना सीखे वह नृत्य नहीं कर सकता। अतः यह कहा जा सकता है कि नृत्य (पग उठाने) की शक्ति मनुष्य में प्राकृतिक है किंतु (नृत्य पग उठाने की व्यवस्था) एक अर्जित व्यवहार है। इसी प्रकार बोलने अथवा वाणी की शक्ति तो प्राकृतिक है किंतु भाषा, जो इस शक्ति द्वारा संपादित क्रिया है, एक अर्जित व्यवहार है।

रही बात बालकों के बिना सीखे बोलने की। इस संबंध में किए गए अनेक

प्रयोगों से यह सिद्ध हो चुका है कि बालक भी सीखने के पश्चात् ही बोलता है। हां, उसका यह सीखना चेतना पूर्वक (Consciously) नहीं होता।

संक्षेप में यों कहा जा सकता है कि भाषा प्रकृति प्रदत्त अथवा जन्मजात वस्तु नहीं है; वह समाज में रहकर सीखी एवं प्राप्त की हुई वस्तु है।

(ख) अनुकृत व्यवहार

पूर्व परिच्छेद में यह बताया जा चुका है कि भाषा एक अर्जित व्यवहार है। मनुष्य इस व्यवहार को दूसरों से सीखता है।

किसी व्यवहार को सीखने की अनेक विधियां हैं, अनुकरण की विधि उनमें से एक है। इस विधि में 'किस प्रकार से व्यवहार करें' की समस्या नहीं रहती; समस्या रहती है 'कैसे उस जैसा व्यवहार करें'। इस विधि में दूसरों के व्यवहार को ज्यों का त्यों करने का प्रयत्न किया जाता है; इस कारण इस विधि को अनुकरण की विधि कहते हैं। अनुकरण से किए गए व्यवहार को 'अनुकृत व्यवहार', अनुकरण करने वाले को अनुकारक (अनुकरणकर्ता) एवं जिसका अनुकरण किया जाए उसे अनुकरणात्मक कहा जाएगा।

अनुकरण दो प्रकार से किया जा सकता है। एक सायास (Consciously) और दूसरा अनायास (Unconciously)। सायास अनुकरण वह है जिसमें अनुकारक इच्छापूर्वक अनुकरणात्मक के व्यवहार की पुनरावृत्ति करता है। यथा, किसी एक व्यक्ति को चित्र बनाता हुआ देखकर दूसरा व्यक्ति वैसा ही चित्र बनाने का प्रयत्न करे। इस प्रकार के अनुकरण में अनुकारक को ज्ञात रहता है कि वह अनुकरण कर रहा है। अनायास अनुकरण वह है जिसमें अनुकारक को प्रत्यक्षरूप से यह अनुभव नहीं होता कि वह किसी के व्यवहार का अनुकरण कर रहा है। उदाहरणार्थ—बालक को यह अनुभव ही नहीं होता कि उसकी लिखावट का रूप गुरूजी की लिखावट के समान होता जा रहा है।

भाषा अनुकृत व्यवहार है। यह अनुकरण से सीखी जाती है। बालक के आसपास लोग भाषा बोलते हैं। कभी-कभी वे बालक से भी बोलते हैं। बालक उनके इस व्यवहार को देखता-निरखता रहता है एवं वैसा ही व्यवहार करने (भाषा बोलने) का प्रयत्न करता रहता है। एक समय ऐसा आता है जब उसे अपने प्रयत्न में पूर्ण सफलता मिलती है। अर्थात् वह उस भाषा को बोलने लगता है। अनुकरण से सीखने का सबसे सुन्दर उदाहरण है प्रत्येक भाषा की 'शिशु-शब्दावली' (Nursery-words)। ये शब्द प्रायः माता-पिता, भाई आदि निकट संबंधियों को सूचित करते हैं। ऐसे शब्दों का विश्लेषण करने से यह

ज्ञात हुआ है कि ऐसे शब्दों में प्रायः ओष्ठ्य व्यंजन ध्वनियों (प, ब, म) तथा दंत्य ध्वनियों (त, द, न) का उदासीन स्वरों (अ आ, जिन स्वरों में होठों को कोई विशेष प्रयत्न नहीं करना पड़ता) के साथ प्रयोग हुआ है। यथा, अंग्रेजी के शब्द पापा (Papa), मामा (Mamma); संस्कृत—माता-पिता, भ्राता; जर्मन—मह्मे; फारसी—मादर; अल्बानियन—अम; हिब्रू—एम; हिन्दी—बाबा, दादा, नाना; तुर्की—बाबा; इटालियन—बबो; बास्क—अम आदि।

ऐसे शब्दों के संबंध में भाषा वैज्ञानिकों का विचार है कि बच्चा माता, पिता आदि निकट रहने वाले लोगों को बोलते समय होठ हिलाते हुए देखता है। उनकी इस क्रिया का अनुकरण करता हुआ वह होंठ हिलाने का प्रयत्न करता है। फलस्वरूप इन शब्दों का अनायास निर्माण हो जाता है। वास्तव में बच्चे के लिए इन शब्दों का कोई अर्थ नहीं होता, बच्चे के निकट संबंधी उन शब्दों को अपने से संबंधित कर लेते हैं और अनुमान करने लगते हैं कि बच्चा उन्हें संबोधित करते हुए इन शब्दों का उच्चारण कर रहा है।

कुछ भाषावैज्ञानिकों का यह कहना सही नहीं है कि मातृभाषा अनुकरण से सीखी जाती है एवं अन्य भाषाएं बौद्धिक प्रयत्न से। वास्तव में समस्त भाषाओं के सीखने की प्रक्रिया समान होती है। मातृ भाषा हो अथवा इतर भाषा (Other Language), सीखी वह अनुकरण से ही जाती है। दोनों के सीखने में अंतर केवल इतना ही है कि मातृभाषा अनायास अनुकरण से एवं अन्य भाषाएं सायास अनुकरण से सीखी जाती हैं। मातृ भाषा बोलते समय—सीखते समय—बालक को यह ज्ञान नहीं रहता कि वह दूसरों के समान बोलने का प्रयत्न कर रहा है किंतु अन्य भाषा सीखते समय, सीखने वाले को यह ध्यान रहता है कि 'इस प्रकार से बोलना है'।

भाषा की इस विशेषता से अपरिचित होने (अथवा उसकी उपेक्षा करने) के कारण हम जब मातृभाषा के अतिरिक्त कोई अन्य भाषा सीखते हैं तब संबंधित भाषा-भाषियों के बोलने का अनुकरण करने की अपेक्षा उस भाषा की व्याकरणात्मक जानकारी प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। इसका अनिवार्य परिणाम यह निकलता है कि व्याकरणात्मक नियमों के पर्याप्त ज्ञान होने के बावजूद हम संबंधित भाषा का ऐसा प्रयोग करते हैं जो संबंधित भाषा-भाषियों को बड़ा ही विचित्र लगता है। कभी-कभी तो वे ऐसा भी अनुभव करने लगते हैं कि हम उनकी भाषा ही नहीं बोल रहे हैं। इस संदर्भ में अंग्रेजी का उदाहरण दिया जा सकता है। दिल्ली विश्वविद्यालय में हुई एक विचार-गोष्ठी में बोलते हुए एडिनबर्ग यूनिवर्सिटी के प्रोफेसर डेविड ऐबक्रोम्बिए ने कहा "भारत में बोली

जाने वाली अंग्रेजी अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर बहुत बोधगम्य नहीं है" ।* इसका तात्पर्य यह है कि भारतवासी ऐसी अंग्रेजी बोलते हैं जो अंग्रेजी भाषा-भाषियों को समझ में ही नहीं आती। कहना न होगा कि इसका मुख्य कारण अनुकरण की कमी ही है।

इस संबंध में दो मत नहीं हो सकते कि भाषा एक अनुकृत व्यवहार है। मातृ-भाषा हो अथवा इतर भाषा, दोनों का सीखना अनुकरण से ही होता है।

(ग) सामाजिक व्यवहार एवं सामाजिक संस्था

भाषा एक सीखा हुआ व्यवहार है। यह व्यवहार समाज में रहकर सीखा जाता है तथा समाज में रहकर किया जाता है। समाज के अभाव में भाषा का अस्तित्व संभव नहीं है। भाषा के लिए समाज की इस अनिवार्यता के कारण ही भाषा को सामाजिक व्यवहार कहा जाता है।

भाषा न केवल एक सामाजिक व्यवहार है अपितु वह एक सामाजिक संस्था (Social Institute) भी है। सामाजिक संस्था उस सामाजिक व्यवस्था को कहते हैं जिसकी निम्नलिखित विशेषताएं होती हैं।

सामाजिक संस्था अमूर्त होती है ; उसकी प्रकृति स्थाई होती है; सामाजिक संस्था का निर्माण नहीं होता, उसका मात्र विकास होता है; प्रत्येक सामाजिक संस्था का एक निश्चित ढांचा होता है तथा उसकी सदस्यता ऐच्छिक नहीं होती।

उपरोक्त समस्त लक्षण भाषा में विद्यमान हैं। भाषा अमूर्त एवं स्थायी होती है। अर्थात न तो भाषा को प्रत्यक्ष रूप से देखा जा सकता है और न ही ऐसी समाज की कल्पना की जा सकती है जो 'भाषाविहीन' हो। स्वाभाविक भाषा का निर्माण नहीं, उसका मात्र विकास ही होता है। प्रत्येक भाषा का एक अपना ढांचा होता है तथा एक भाषा समुदाय के प्रत्येक सदस्य को अनिवार्य रूप से संबंधित भाषा का प्रयोग करना पड़ता है।

कुछ भाषा वैज्ञानिकों ने भाषा को सामाजिक कहने के साथ-साथ उसकी असामाजिक अथवा व्यक्तिपरक स्थिति का भी वर्णन किया है। एक के कथनानुसार जब व्यक्ति अकेले में सोचता है तब वहां समाज का अस्तित्व नहीं रहता।

---

* "English Spoken in India was not very intelligible internationally."

(Prof, David Abercrombie)

From Hindustan Times of India 18. 2. 69

दूसरे ने भाषा के व्यक्तिपरक व्यवहारों में बच्चे का निरर्थक जलपना, व्यक्ति का एकांत में गाना, सोचते समय बोलना, गणना करते समय संख्याओं को जोर-जोर से कहना, इंजीनीयर का नक्शा देखकर मकान की रचना के संबंध में अपने से ही बात करना आदि व्यवहारों का उल्लेख किया है। इस लेखक ने 'व्यक्ति का व्यक्ति से' व्यवहार को भी 'व्यक्ति का समाज से' व्यवहार से भिन्न माना है।

उपरोक्त उदाहरणों का विश्लेषण करना जरूरी है, जिससे पता चल सके कि भाषा सामाजिक के साथ-साथ 'असामाजिक' अथवा व्यक्तिपरक भी है अथवा नहीं।

यह बात सत्य है कि भाव और भाषा का आपस में घनिष्ठ संबंध है फिर भी भाव एवं भाषा दो भिन्न वस्तुएं हैं। भाषा का अस्तित्व तभी संभव बनता है जब भाव ध्वनियों के माध्यम से अभिव्यक्त होता है। जब कोई व्यक्ति (स्वस्थ एवं साधारण) अकेला बैठा सोचता है तब वह ध्वनियों का उच्चारण नहीं करता। ध्वनियों के अभाव में भाषा की कल्पना नहीं की जा सकती; और जब भाषा है ही नहीं तब उसकी असामाजिकता—सामाजिकता का प्रश्न ही कहां उठता है ?

अन्य उदाहरणों की चर्चा करने से पूर्व यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि भाषा में संपर्क स्थापित करने की क्षमता होती है; विचार विनिमय उसका अनिवार्य कार्य नहीं है। एक वक्ता जब भाषण करता है तब श्रोता मात्र बैठे सुनते हैं। इस स्थिति में वक्ता एवं श्रोताओं के मध्य मात्र संपर्क स्थापित होता हैं। किसी प्रकार का विचार-विनिमय नहीं होता।

ऊपर कहा गया है कि भाषा में संपर्क स्थापित करने की शक्ति होती है। इससे तात्पर्य यह है कि भाषा से संपर्क स्थापित हो सकता है; अर्थात् ऐसा व्यवहार जिससे कोई तात्कालिक एवं प्रत्यक्ष संपर्क न भी स्थापित होता हो लेकिन जिस व्यवहार में संपर्क स्थापित करने की क्षमता है उस व्यवहार को भाषा ही कहा जायगा। यहां 'संपर्क' का अर्थ एक से अधिक व्यक्तियों के मध्य 'बौद्धिक-संबंध' से है; और 'एक से अधिक संबंधित व्यक्ति' समाज कहलाते हैं। अतः संपर्क सदैव सामाजिक स्थिति का द्योतक है।

अब तथाकथित असामाजिक स्थितियों को लीजिए।

बच्चा यदि निरर्थक ध्वनियों (अर्थात् ध्वनि समूहों) का उच्चारण करता रहता है तो यह स्थिति असामाजिक नहीं; अभाषाई है। (जलपना का

साधारण अर्थ निरर्थक बकना ही होता है।) यदि वह सार्थक ध्वनि समूहों (शब्द, वाक्य आदि) का उच्चारण करता रहता है तो भाषा के रूप में उसका यह व्यवहार भी सामाजिक है क्योंकि यदि कोई बच्चे के उस जलपने को सुनेगा तो वह बच्चे द्वारा उच्चरित ध्वनि समूहों से अर्थ ग्रहण कर लेगा, और ऐसी स्थिति में बच्चे एवं उस श्रोता के मध्य एक बौद्धिक संबंध स्थापित हो जायेगा। यही नियम गणना करते समय अथवा सोचते समय बोलने तथा एकांत में गाने पर लागू होता है। एक उदाहरण से इस बात को अधिक स्पष्ट किया जा सकता है। एक गायक साउण्ड स्टचूडियो में ग्रामोफोन रिकार्ड भरवाने के लिए एक गीत गाता है। जिस समय वह गीत गाता है उस समय उसका गीत कोई नहीं सुनता (अपवाद, स्टचूडियो ओपरेटर), किंतु इससे उसका यह भाषाई व्यवहार (गीत गाना) असामाजिक अथवा व्यक्तिगत नहीं बन जाता। बात यह है कि गीत गाते समय चाहे गायक का किसी से संपर्क स्थापित नहीं होता, उसके गीत में संपर्क की शक्ति निहित है। जहां कहीं और जब कभी, वह रिकार्ड बजाया जायगा, श्रोता (जो उस भाषा को जानते हैं) उसके अर्थ को ग्रहण कर लेंगे और तब गायक और श्रोता के मध्य संपर्क स्थापित हो जायगा। अतः एकान्त में गाया हुआ गीत अथवा स्वगत कथन व्यक्तिगत नहीं वरन् सामाजिक है। फिर 'व्यक्ति का व्यक्ति से' व्यवहार तो निःसंदेह सामाजिक है। व्यक्ति जब व्यक्ति से व्यवहार करता हैं तब उस स्थिति में एक से अधिक व्यक्ति (दो) हो गए। ज्योंही एक से अधिक व्यक्ति (परस्पर संबंध रखने वाले) हुए त्योंही समाज का निर्माण हुआ। दो व्यक्ति भी समाज का निर्माण करते हैं। पति-पत्नी (जिनको संतान न हो) दो ही व्यक्ति हैं, किंतु उनके लिए यह नहीं कहा जा सकता कि उनका संबंध असामाजिक अथवा व्यक्ति का व्यक्ति से संबंध है।

इस प्रकार कथन की वह प्रत्येक क्रिया भाषा के क्षेत्र में आ जाती है जिसमें संपर्क स्थापित करने की शक्ति है; और क्योंकि संपर्क सदैव सामाजिक स्थिति का परिचायक है इस कारण प्रत्येक भाषाई व्यवहार सामाजिक व्यवहार है।

(घ) अवैयक्तिकता

भाषा अवैयक्तिक है; अर्थात् न तो कोई एक व्यक्ति भाषा का निर्माण कर सकता है और न ही उसका विनाश। इसका अर्थ यह न समझना चाहिए कि व्यक्ति भाषा का निर्माण नहीं करता इसलिए प्रकृति उसका निर्माण करती है।

यह पहले ही बताया जा चुका है कि भाषा प्रकृति-प्रदत्त नहीं है; मनुष्य भाषा को अर्जित करता है—सीखता है। वास्तविकता यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को जन्म से ही एक सांस्कृतिक परंपरा प्राप्त होती है। भाषा सांस्कृतिक परंपरा का अंग हैं। अतः भाषा मनुष्य को परंपरा के रूप में प्राप्त होती है। यहां यह स्मरण रखना चाहिए कि 'वंश परंपरा' एवं 'सांस्कृतिक परंपरा' दो भिन्न बातें हैं। वश परंपरा से जो चीजें प्राप्त होती हैं, उनके लिए प्रयत्न नहीं करना पड़ता। जैसे वंश परंपरा के शरीर की रचना, रंग आदि प्राप्त होते हैं। इसके विपरीत सांस्कृतिक परंपरा से मिलने वाली वस्तुओं के लिए प्रयत्न करना पड़ता है। वे अर्जित करनी पड़ती—सीखनी पड़ती हैं। भाषा, वंश-परंपरा से मिलने वाली वस्तु नहीं है; वह सांस्कृतिक परंपरा से मिलने वाली वस्तु है।

(ङ) अनिवार्यता एवं व्यापकता

भाषा परंपरागत होने के कारण अनिवार्य है ; अर्थात यह व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर नहीं है कि वह भाषा ले अथवा न ले। जैसे जन्म के साथ ही व्यक्ति को एक विशेष देश की नागरिकता, एक विशेष धर्म की सदस्यता प्राप्त हो जाती है ; वैसे ही जन्म के साथ ही व्यक्ति को एक भाषा विशेष भी प्राप्त हो जाती है। निर्णय करने लायक होने पर वह नागरिकता एवं धर्म में परिव्रर्तन कर सकता है, वैसे ही वह भाषा भी परिवर्तित कर सकता है। ध्यान देने की बात यह है कि व्यक्ति एक भाषा छोड़ कर दूसरी भाषा ग्रहण कर सकता है (यह भी अपवाद स्वरूप ही हो सकता है) किंतु भाषा विहीन नहीं रह सकता। प्रत्येक व्यक्ति को कोई न कोई भाषा अपनानी ही पड़तो है और यही भाषा की अनिवार्यता है।

इस अनिवार्यता में ही भाषा की व्यापकता भी समाई हुई है। जहां पर कोई व्यक्ति है, वही पर भाषा है। अन्य शब्दों में यों कहा जा सकता है कि जहां तक मानव जाति का विस्तार है वहां तक भाषा की सीमा है।

(च) विविधता

यद्यपि भाषा अवैयक्तिक अर्थात परंपरागत है और कोई व्यक्ति उसका निर्माण अथवा विनाश नहीं कर सकता किंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि उसमें व्यक्तिगत विभिन्नता नहीं रहती। वस्तु तथ्य तो यह है कि प्रत्येक व्यक्ति की भाषा (किसी न किसी रूप में) दूसरे व्यक्ति की भाषा से भिन्न होती है। इस कारण भाषा में विविधता विद्यमान रहती है। जैसे परंपरागत होने पर भी

संस्कृति का रूप समस्त संबंधित व्यक्तियों में समान नहीं होता वैसे ही भाषा का रूप भी समस्त व्यक्तियों में समान नहीं होता। इसी विविधता के कारण एक ही भाषा के अंतर्गत उप भाषाएं, बोलियां, उप बोलियां आदि विविध रूप बनते हैं।

(छ) संग्रहित

भाषा की रचना किसी एक समय की नहीं, विभिन्न समयों का संग्रहित रूप होती है। किसी भी भाषा की संरचना का विवेचन-विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट हो जाती है। उदाहरणार्थ संस्कृत के पूर्व की भारोपीय भाषा में मूर्धन्य ध्वनियां (ट, ठ आदि) नहीं थीं। संस्कृत (एवं परवर्ती आर्य भाषाओं) में ये ध्वनियां हैं। वैसे ही मध्ययुगीन हिंदी (ब्रज, अवधि) में 'ने' 'को' आदि परसर्गों का प्रयोग नहीं था किंतु आधुनिक हिंदी (खड़ी) में इन परसर्गों का प्रयोग होता है। वास्तव में भाषा के इस संग्रहित रूप (कि उसमें कौन सा तत्व कब आया है) का अध्ययन ही भाषा का ऐतिहासिक अध्ययन कहलाता है।

(ज) परिवर्तनशीलता

भाषा परिवर्तनशील है। भाषा की संरचना ही ऐसी है कि उसमें परिवर्तन होना अनिवार्य है। भाषा की संरचना ध्वनितत्व एवं अर्थतत्व के मिलने से होती है। प्रत्येक व्यक्ति का ध्वनि यंत्र दूसरे व्यक्ति के ध्वनि यंत्र से भिन्न होता है, इसलिए उच्चारण की भिन्नता अनिवार्य है। अर्थ का संबंध व्यक्ति की सांस्कृतिक एवं मानसिक अवस्था से होता है और प्रत्येक व्यक्ति की सांस्कृतिक एवं मानसिक अवस्था दूसरे से भिन्न होती है, इसलिए अर्थ में परिवर्तन होना भी स्वाभाविक है। फिर भाषा अनुकरण से सीखी जाती है, और यह मानी हुई बात है कि अनुकरण चाहे जितना पूर्ण हो उसकी मूल से एक रूपता नहीं हो सकती। अतः परिवर्तन भाषा की प्रकृति में समाया हुआ है।

परिवर्तन का अधिक विस्तृत विवेचन आगामी परिच्छेद में किया जा रहा है।

(झ) नियमनशीलता

भाषा की स्वाभाविक प्रवृत्ति अनियमित से नियमित होने की है। इसका अर्थ यह है कि आरंभ में प्रत्येक भाषा अधिक अनियमित होती है। उसमें जितने नियम होते हैं उतने ही उनके अपवाद भी होते हैं किंतु जैसे जैसे समय गुजरता जाता है भाषा के अनियमित रूप कम होते जाते हैं। वैदिक भाषा एवं संस्कृत

भाषा की तुलना करने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है। वैदिक भाषा में जितने अधिक अनियमित रूप थे संस्कृत में नहीं रहे।

(ञ) सरलतागामी

अनियमित रूपों के कम होने के साथ साथ भाषा में नियम कम होते जाते हैं। इससे भाषा अपेक्षाकृत सरल बन जाती है। इसी से भाषा की इस प्रवृत्ति को सरलतागामी प्रवृत्ति कहते हैं। संस्कृत में एक शब्द के २४ रूप बनते थे (८ कारक × ३ वचन), हिंदी तक पहुंचते पहुंचते रूपों की संख्या इतनी कम हो गयी है कि आज किसी भी शब्द के ६ (३ कारक × २ वचन) से अधिक रूप नहीं बनते। कुछ हिंदी शब्दों के तो २ ही रूप बनते हैं।

१.८ भाषा की उत्पत्ति :

भाषा की उत्पत्ति का प्रश्न बड़ा ही आकर्षक किंतु बड़ा ही उलझा हुआ प्रश्न है। यह प्रश्न आकर्षण का केन्द्र इसलिए रहा है क्योंकि इसके उत्तर में अनुमान (Presumption) एवं अटकल (Speculation) की गुंजाइश है; और इसी कारण भाषा-उत्पत्ति संबंधी अनेक मतों का प्रतिपादन हुआ है। फिर जैसे-जैसे भाषा के अध्ययन की प्रवृत्ति वैज्ञानिक होती गई, इस प्रश्न का महत्त्व भाषा विज्ञान की दृष्टि से घटता चला गया। आज स्थिति यह है कि इस विषय को भाषा विज्ञान के क्षेत्र के अंतर्गत ही नहीं माना जाता।

इस विषय को भाषा विज्ञान के क्षेत्र से बहिष्कृत करने के दो मुख्य कारण हैं।

एक तो यह कि भाषाविज्ञान की अपेक्षा–नृशास्त्र, दर्शन शास्त्र, मनोविज्ञान एवं समाज शास्त्र से इस विषय का घनिष्ठ संबंध है। दूसरा यह कि भाषा की उत्पत्ति संबंधी जानकारी से भाषा–संरचना को समझने में कोई विशेष सहायता नहीं मिलती।

उपर्युक्त दोनों कारणों का स्पष्टीकरण अपेक्षित है। भाषा, विचार का बाह्य-रूप है। मनुष्य ने कब एवं कैसे भाषा सीखी, इस प्रश्न का समुचित उत्तर तब तक नहीं दिया जा सकता जब तक यह ज्ञात न हो जाय कि मनुष्य ने कब एवं कैसे विचार करना सीखा, और इस उत्तर का संबंध नृशास्त्र, दर्शन शास्त्र एवं मनोविज्ञान को देना है। ये शास्त्र यह जानने का प्रयत्न कर रहे हैं कि मनुष्य में विचारात्मक तत्वों का निर्माण कब हुआ— कैसे हुआ; मनुष्य साधारण प्राणियों से विचारशील प्राणी कब एवं कैसे बना तथा मनुष्य में वह मानसिक प्रक्रिया कब

एवं कैसे उत्पन्न हुई जिसके फलस्वरूप मनुष्य सूक्ष्म विचार को स्थूल ध्वनियों से संबद्ध कर पाया। फिर भाषा समाज सापेक्ष वस्तु है। समाज के अभाव में भाषा के अस्तित्व की कल्पना भी नहीं की जा सकती। इस स्थिति में यह समाज शास्त्र का विषय हो जाता है कि वह बताए कि मनुष्य—समाज का निर्माण कब एवं कैसे हुआ।

उपर्युक्त प्रश्नों के समुचित एवं संतोषजनक उत्तर अभी तक प्राप्त नहीं हो सके हैं और इसी से भाषा की उत्पत्ति का प्रश्न भी एक प्रकार से ज्यों का त्यों पड़ा है।

एक बात दूसरी भी है। मान लीजिए कि यह निर्विवाद रूप से ज्ञात हो जाता है कि भाषा की उत्पत्ति किस प्रकार से हुई, तो इससे भाषा संरचना समझने में विशेष क्या सहायता मिलेगी? उदाहरणार्थ एक डाक्टर के लिए यह जानकारी कुछ विशेष महत्त्व नहीं रखती कि मनुष्य को पूंछ थी वह घिस गई है एवं उसका अवशेष रीढ़ की अंतिम अस्थियाँ हैं। उसका संबंध तो वर्तमान मानवीय रीढ़ की रचना से है। अगर किसी डाक्टर को यह जानकारी हो जाय कि आरंभ में बंदर के समान ही मनुष्य के हाथ-पैर परस्पर जुड़े रहते थे, तो इस जानकारी से वर्तमान मनुष्य के हाथ-पांव का उपचार करने में उसे कोई सहायता नहीं मिलेगी।

इसी प्रकार से भाषा की उत्पत्ति संबंधी जानकारी प्राप्त करने से एक भाषा विज्ञानी को भाषा की संरचना समझने में कोई विशेष सहायता नहीं मिलेगी।

यद्यपि आधुनिक भाषा विज्ञान की दृष्टि से भाषा की उत्पत्ति का प्रश्न उतना महत्वपूर्ण नहीं है फिर भी भाषा–उत्पत्ति संबंधी विभिन्न मतों की संक्षिप्त जानकारी से इस विषय के विकास का दिशा–निर्देश हो जायगा। इसी से भाषा–उत्पत्ति संबंधी विभिन्न मतों का यहाँ संक्षिप्त परिचय दे दिया जाता है।

भाषा उत्पत्ति संबंधी मतों अथवा सिद्धान्तों को चार वर्गों में विभाजित किया जा सकता है :—

(क) श्रद्धापर पर आधारित मत।

(ख) पूर्णरूप से अनुमानित मत।

(ग) आंशिक अनुमानित मत।

(घ) विकासवादी मत।

श्रद्धापर आधारित मत :

इस वर्ग में ईश्वरीय सिद्धांत एवं धार्मिक सिद्धांत की चर्चा की जा सकती है।

ईश्वरीय सिद्धांत के अनुसार ईश्वर ने जैसे सृष्टि के अन्य पदार्थों की रचना की वैसे ही उन्होंने भाषा का सृजन भी किया अर्थात् भाषा प्रकृति प्रदत्त है। मनुष्य जन्म से ही भाषा जानता है।

धार्मिक सिद्धात ईश्वरीय सिद्धांत से मिलता जुलता सिद्धांत है। इस मत के मानने वालों का विश्वास है कि उनका धर्म ही आदि धर्म है, उनका धर्मग्रंथ ही आदि धर्मग्रंथ है एवं उनके धर्मग्रंथ की भाषा ही आदि भाषा है, जिससे अन्य भाषाओं का विकास हुआ है। इस विश्वास के कारण ही वेदों को आदिग्रंथ मानते वाले वैदिक–संस्कृत को आदि भाषा मानते हैं; बाइबिल को आदिग्रंथ मानने वाले हिब्रू को आदि भाषा मानते हैं तो कुरान को आदिग्रंथ मानने वाले अरबी को आदि भाषा स्वीकार करते हैं।

उपर्युक्त मतों का आधार श्रद्धा अथवा विश्वास है, तर्क नहीं; इसी से आजकल प्राय: कोई विद्वान इन मतों की चर्चा नहीं करता। यह सर्व विदित एवं प्रयोगों से सिद्ध तथ्य है कि बच्चा कोई भाषा सीखकर नहीं आता; ईश्वर किसी को कोई भाषा सिखा कर नहीं भेजता। विधिवत किए गए अध्ययन से आज यह बात भी स्पष्ट हो चुकी है कि संसार की समस्त भाषाएं एक ही भाषा से उत्पन्न नहीं हुई हैं तथा कोई धर्मग्रंथ 'आदि' (अर्थात् सृष्टि के आरंभ से विद्यमान) नहीं है।

पूर्णरूप से अनुमानित मत :

इस वर्ग के अंतर्गत 'संकेत-सिद्धांत' डिंगडांग अथवा धातु-सिद्धांत, संकेत-सिद्धांत तथा 'संगीत सिद्धांत' का समावेश किया जा सकता है।

(क) संकेत सिद्धांत

इस मत के अनुसार आरंभ में मनुष्य संकेतों से परस्पर संपर्क रखते थे। फिर जब उनकी आवश्यकताएं बढ़ीं उन्होंने एक साथ मिलकर विभिन्न पदार्थों, क्रियाओं आदि के लिए ध्वनि संकेत निर्धारित कर लिए।

यह मत निरर्थक है क्योंकि यह पूर्णरूप से अनुमान पर आधारित है। अन्यथा यह जानी मानी बात है कि भाषा के अभाव में यह संभव ही नहीं हो सकता कि पदार्थों के नाम निर्धारित किए जायं। जब भाषा ही नहीं है तब विचार-विमर्श

कैसे होगा ? जब किसी शब्द का ज्ञान ही नहीं है तब किसी पदार्थ के लिए कोई शब्द कैसे निश्चित किया जायगा ?

(ख) डिंगडांग अथवा धातु सिद्धांत

'डिंग-डांग' अथवा 'धातु' सिद्धांत के अनुसार प्रत्येक वस्तु से एक विशेष प्रकार की ध्वनि प्रकट होती है (यथा–किसी वस्तु पर चोट करने से एक प्रकार की आवाज निकलती है) । आदिम मनुष्य में एक प्राकृतिक शक्ति थी कि वह किसी वस्तु के संपर्क में आने पर एक विशेष प्रकार की ध्वनि करता था । उन सहज अभिव्यक्त ध्वनियों एवं उनसे संबंधित पदार्थों के मध्य एक अज्ञात संबंध स्थापित था । इस सिद्धांत के मानने वालों ने इन अनायास रूप से अभिव्यक्त ध्वनियों को 'धातु' की संज्ञा दी है । उनके कथनानुसार इन्हीं धातुओं में से भाषा का विकास हुआ ।

उपर्युक्त कल्पना मात्र अटकल (Speculation) है । आदि मानव में ऐसी प्राकृतिक शक्ति की कल्पना के लिए कोई आधार नहीं है । फिर धातुओं में से समस्त शब्दों एवं पूरी भाषा के विकास की कल्पना, भारोपीय परिवार से तो चाहे मेल खा जाय, संसार की समस्त भाषाओं से उसका ताल मेल बिठाना संभव नहीं है ।

(ग) संगीत सिद्धांत

इस सिद्धांत के अनुसार आदिम मनुष्य, खाली समय में मन बहलाव के लिए उच्चारण अंगों को चलाकर गुनगुनाता होगा । गुनगुनाने की उन निरर्थक ध्वनियों से ही भाषा की उत्पत्ति हुई है ।

वास्तव में यह भी मात्र अनुमान ही है । गुनगुनाहट की निरर्थक ध्वनियाँ कैसे सार्थक प्रतीक बन गयीं, इस शंका का कोई समुचित समाधान नहीं है ।

आंशिक अनुमानित मत :

इस वर्ग के अंतर्गत उन सिद्धांतों की गणना की जा सकती है जिनमें थोड़े से शब्दों के निर्माण के लिए अनुमान का सहारा लिया गया है । इस वर्ग में 'अनुकरण-सिद्धांत', 'भावाभिव्यक्ति-सिद्धांत' एवं 'श्रमनिवारण-सिद्धांत' को रखा जा सकता है ।

(च) अनुकरण-सिद्धांत

अनुकरण सिद्धांत के अनुसार मनुष्य ने अपने इर्द-गिर्द होने वाली पशु-पक्षियों

अथवा प्राकृतिक पदार्थों की ध्वनियों का अनुकरण करके भाषा सीखी। इसके प्रमाण में हरेक भाषा के कुछ अनुकरणात्मक शब्दों का उल्लेख किया जाता है। जैसे 'का....का' के आधार रखा हुआ हिंदी नाम 'कागा' अथवा 'म्याउं' ध्वनि के आधार पर बिल्ली के लिए चीनी भाषा में प्रयुक्त 'मिआऊ' अथवा हिंदी 'म्याऊं' आदि। या फिर, पेड़ से कुछ गिरने से आवाज हुई 'पत्'; और 'पत्' का अर्थ हो गया 'गिरना' और गिरने वाला पदार्थ कहलाया 'पत्ता'।

(छ) भावाभिव्यक्ति-सिद्धांत

इस सिद्धांत के अनुसार भावों की तीव्रता के फलस्वरूप मनुष्य के मुख से अनायास ही कुछ ध्वनियां निकल पड़ीं होंगी। भावाभिव्यक्ति की इन ध्वनियों से उस भाव विशेष का संपर्क हो गया होगा एवं आगे चलकर इन्हीं ध्वनियों से भाषा का विकास हुआ होगा। अपनी बात की पुष्टि के लिए ये लोग विभिन्न भाषाओं के कुछ विस्मयादि बोधक शब्दों का उल्लेख करते हैं यथा–हिन्दी का आह! अंग्रेजी का ओह! (Oh!) आदि।

(ज) श्रम निवारण-सिद्धांत

इस सिद्धांत के माननेवालों का विचार है कि श्रम की थकान को दूर करने हेतु कुछ ध्वनियों का स्वाभाविक रूप से ही उच्चारण करना पड़ता है। यथा धोबी लोग कपड़े धोते समय कुछ ध्वनियों का उच्चारण करते रहते हैं अथवा भारी बोझा उठाते समय मजदूर लोग एक साथ आवाज करते हैं। इसी प्रकार आदि मानव भी अपने श्रम निवारण हेतु कुछ ध्वनियों का उच्चारण करता रहा होगा, और इन्हीं ध्वनियों से भाषा का विकास हुआ होगा।

उपर्युक्त तीनों मतों के विरुद्ध प्रायः समान तर्क हैं। सबसे पहली बात तो यह है कि किसी भी भाषा में इस प्रकार से निर्मित शब्द बहुत ही कम है। इन थोड़े से शब्दों से भाषा की उत्पत्ति संभव ही नहीं दिखाई पड़ती। फिर ये शब्द समस्त भाषाओं में समान नहीं हैं। न तो कौए को सब भाषाओं में 'कागा' कहा जाता और न ही बिल्ली को सब भाषाओं में 'म्याऊं' कहते हैं। भावाभिव्यक्ति एवं श्रम निवारण वाले शब्द भी समस्त भाषाओं में समान नहीं हैं। भावाभिव्यक्ति एवं श्रम निवारण हेतु अभिव्यक्त शब्द तो वाक्यों में प्रयुक्त ही नहीं होते (यथा—हाय! वह मर गया। यहां हाय! वाक्य से अलग है)। अनुकरणात्मक मत के विरोध में यह भी कहा जा सकता हैं कि यदि प्रकृति के अन्य पदार्थों (पशु-पक्षियों आदि) को ध्वनि करने की शक्ति थी तो ऐसा

क्योंकर माना जाय कि मनुष्य उस शक्ति से वंचित था।

विकासवादो सिद्धांत :

इस वर्ग में वे मत आते हैं, जो भाषा की उत्पत्ति की अपेक्षा भाषा की विकास प्रक्रिया पर अधिक बल देते हैं एवं भाषा को किसी एक समय में उत्पन्न मानने की अपेक्षा विभिन्न अवस्थाओं का परिणाम मानते हैं। भाषा उत्पत्ति संबंधी ये मत अधिक तथ्यात्मक हैं। इस वर्ग के अंतर्गत 'इंगित-सिद्धांत', 'संपर्क-सिद्धांत' एवं 'मिश्रित-सिद्धांत' को रखा जा सकता है।

(ट) इंगित-सिद्धांत

इस सिद्धांत के अनुसार भाषा के विकास के चार सोपान माने जाते हैं। पहले सोपान में—हर्ष, शोक आदि भाव व्यंजक ध्वनियों का निर्माण हुआ। दूसरे सोपान में अनुकरणात्मक ध्वनियों की रचना हुई। तीसरे सोपान में जीभ आदि उच्चारण अंगों द्वारा शरीर की विभिन्न कियाओं, शारीरिक संकेतों की अनुकरणात्मक ध्वनियों का निर्माण हुआ। (उदाहरणार्थ मनुष्य दौड़ता तो उसका अनुकरण करती हुई, जीभ मुख में दौड़ती और इसी से 'गति' सूचक बहुत से शब्द 'र' से आरंभ होते हैं क्योंकि 'र' के उच्चारण में जीभ को बहुत बार मुख के उपरी भाग को छूना पड़ता है।) और चौथे सोपान पर सूक्ष्म भावों की अभिव्यक्ति के शब्द बने होंगे।

इस मत के अनुसार भाषा की आरंभिक स्थिति का तो बोध हो जाता है किंतु तीसरी अवस्था जीभ द्वारा शरीर के अन्य अंगों का अनुकरण करने वाली बात इतनी सहजता से गले से नहीं उतरती। फिर समस्त भाषाओं में गति सूचक शब्द 'र' से आरंभ नहीं होते एवं न तो 'म' से आरंभ होने वाले समस्त शब्द 'शांति' का अर्थ देते हैं।

(ठ) संपर्क-सिद्धांत

संपर्क सिद्धांत का मुख्य आधार मनोवैज्ञानिक विश्लेषण है। इस सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य में संपर्क स्थापित करने की सहज प्रवृत्ति है। आरंभ में चिल्लाना, पुकारना आदि जैसी सामान्य ध्वनियों के द्वारा मनुष्य संबंध स्थापित करता होगा। ज्यों-ज्यों उसके संपर्क की आवश्यकता बढ़ती गई उसके अनुरूप ध्वनियों का विकास होता गया। ध्वनियों एवं स्थितियों में संबंध स्थापित होता गया एवं

आगे चलकर किसी विशेष ध्वनि से उस स्थिति का बोध होने लगा। इस तरह ध्वनियों में अर्थत्व का समावेश हो गया। आरंभ में छोटे-छोटे कथन (एक शब्द जैसे) रहे होंगे, जिनसे प्रायः क्रिया का भाव ही अभिव्यक्त होता था।

यह सिद्धांत मानव-मन की स्वाभाविक प्रकृति एवं उसकी विकास प्रक्रिया पर आधारित होने के कारण अधिक तर्कसंगत है; किंतु इस सिद्धांत के द्वारा भाषा की उत्पत्ति के संबंध में विशिष्ट एवं भाषा वैज्ञानिक जानकारी प्राप्त नहीं होती।

(ड) मिश्रित सिद्धांत

यह सिद्धांत उपर्युक्त बहुत से सिद्धांतों का मिश्रित रूप है।

इस सिद्धांत के अनुसार भाषा आरंभ में इंगित एवं ध्वनि दोनों पर आधारित थी। विभिन्न ध्वनि-समूहों से ही आगे चलकर भाषा का विकास हुआ। इस सिद्धांत के अनुसार आरंभ में शब्द अनुकरणात्मक, भाव व्यंजक एवं प्रतीकात्मक थे। तीसरे प्रकार के शब्दों का भाषा के विकास में महत्त्वपूर्ण हाथ रहा है। उदाहरणार्थ, बच्चा मां-बाप के होठों की गति का अनुकरण करता हुआ अपने होंठ चलाने का प्रयत्न करता है, जिससे अनायास ही कुछ ओष्ठ्य ध्वनियों की अभिव्यक्ति हो जाती है और उनके परिवार वाले समझते हैं कि वह उन्हें पुकार रहा है। यथा, बच्चा सहज भाव से पा ·· पा, मा ···मा, अ···· मा आदि ध्वनियों (ध्वनिसमूहों) का उच्चारण करता है। लोग समझते हैं कि वह 'मां' अथवा 'बाप' को पुकार रहा है। इस प्रकार ध्वनियों में अर्थ निहित हो जाता है एवं प्रतीकात्मक शब्दों का निर्माण हो जाता है। इसके अतिरिक्त बहुत से शब्द सादृश्य के आधार पर बने होंगे।

उवर्युक्त विवेचन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि भाषा की उत्पत्ति संबंधी विषय अब उतना उलझा हुआ नहीं है जितना कि वह आरंभ में था; किंतु ऐसा भी नहीं कहा जा सकता कि भाषा-उत्पत्ति की समस्या पूर्णरूप से सुलझ गयी है। एक बात अवश्य निश्चित है; और वह यह कि भाषा की उत्पत्ति का प्रश्न आधुनिक भाषा विज्ञान की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण प्रश्न नहीं है।

१.९ भाषा में परिवर्तन (विकास) :

भाषा की प्रकृति का विवेचन करते समय यह बता दिया गया है कि परिवर्तन भाषा की प्रकृति का अनिवार्य अंग है। जो भाषा जीवित है (व्यवहार में लायी

जाती है) उसमें परिवर्तन होगा ही ।

१.९.१ भाषा-परिवर्तन का अर्थ :

भाषा-परिवर्तन का सीधा एवं सरल अर्थ यह है कि एक समय में जो किसी भाषा का रूप होता है, दूसरे समय में वही रूप नहीं रहता; अर्थात **जैसे-जैसे समय व्यतीत होता है, भाषा में परिवर्तन आता जाता है। इस परिवर्तन को ही भाषा का विकास कहा जाता है।**

प्राय: लोग ऐसा समझते हैं कि भाषा-परिवर्तन का अर्थ है नये-नये शब्दों, विशेषकर दूसरी भाषा से लिए हुए शब्दों का प्रयोग। भाषा-परिवर्तन के लिए यह धारणा भ्रामक है। शब्दावली को भाषा की अमुख्य अथवा गौण संरचना माना जाता है; अत: शब्दों के परिवर्तन को मूल रूप से भाषा का परिवर्तन नहीं माना जा सकता। **भाषा का परिवर्तन तो तभी माना जा सकता है जबकि भाषा की संरचना (ध्वन्यात्मक व्याकरणात्मक एवं अर्थ संरचना) में किसी प्रकार का परिवर्तन उपस्थित हो।**

१.९.२ परिवर्तन एवं स्थरीकरण :

सैद्धांतिक दृष्टि से देखा जाय तो जैसे नदी में लगायी हुई दो डुबकियों का पानी समान नहीं रहता; उसी तरह एक ही व्यक्ति द्वारा; एक ही शब्द का दो बार किया गया उच्चारण भी एकदम समान नहीं होता। ऐसी स्थिति में प्रत्येक भाषा के अंतर्गत परिवर्तन की बहुत अधिक गुंजाइश है, क्योंकि प्रत्येक भाषा के लाखों-करोड़ों बोलने वाले होते हैं (अपवादस्वरूप कुछ भाषाओं को छोड़कर जिनके बोलने वालों की संख्या केवल सैकड़ों-हजारों में होती है) तथा प्रत्येक व्यक्ति दिन का बहुत बड़ा भाग बोलता रहता है। उच्चारण के समान ही अर्थ-भिन्नता का क्षेत्र भी अत्यंत विस्तृत है। अर्थ का संबंध व्यक्ति की मानसिक अवस्था से है; और न केवल दो व्यक्तियों की मानसिक अवस्थाएं कभी समान नहीं होतीं वरन् एक ही व्यक्ति की, प्रत्येक क्षण में मानसिक अवस्था बदलती रहती है।

इस प्रकार विचार करने पर, भाषा में जितने अधिक परिवर्तन की कल्पना की जा सकती है, वास्तव में उतना परिवर्तन भाषा में होता नहीं है। इसका मुख्य कारण यह है कि भाषा एक सामाजिक वस्तु एवं विचार-विनिमय अथवा विचार-संपर्क का साधन है। विचार-संपर्क के इस

बंधन के कारण ही भाषा में इतना परिवर्तन नहीं आता कि एक ही भाषा का प्रयोग करने वाले व्यक्ति एक दूसरे को समझ न सकें तथा उनके मध्य विचार-संपर्क टूट जाय।

इस प्रकार भाषा में एक साथ दो विरोधी शक्तियां क्रियाशील रहती हैं। परिवर्तन की शक्ति भाषा को बदलने का प्रयास करती रहती है तो स्थिरता की शक्ति उसे समान बनाये रखने का प्रयत्न करती है। इन दो विरोधी प्रवृत्तियों के मध्य भाषा का संतुलन बना रहता है; अर्थात भाषा परिवर्तित तो होती रहती है किंतु इतनी धीमी गति से कि समय के एक बिंदु अथवा दो पीढ़ियों के मध्य हुए भाषाई परिवर्तनों की अनुभूति नहीं होती।

१.९.३ परिवर्तन की गति के नियामक तत्व :

ऊपर के विवेचन से यह भाव ग्रहण नहीं करना चाहिए कि भाषा-परिवर्तन की गति सदैव समान रहती है। भाषा के परिवर्तन का आधार, भाषा की आंतरिक संरचना के साथ बाह्य परिस्थितियों पर भी है। इन परिस्थितियों के कारण भाषा-परिवर्तन की गति मंद अथवा तीव्र हो सकती है। उदाहरणार्थ यदि किसी भाषा के बोलने वालों की संख्या थोड़ी है, भौगोलिक दृष्टि से वे संगठित हैं; उनका परस्पर संबंध जुड़ा हुआ है तथा अन्य भाषा-भाषियों से उनका संबंध नहीं है अथवा बहुत कम है तो उनकी भाषा में परिवर्तन की गति मंद होगी तथा उस भाषा में हुए परिवर्तनों की अनुभूति शताब्दी या उससे भी अधिक समय गुजरने पर ही हो सकेगी। इसके विपरीत यदि किसी भाषा के बोलने वालों की संख्या अधिक है; भौगोलिक दृष्टि से वे इस प्रकार बिखरे हुए हैं कि उनके लिए परस्पर संबंध स्थापित करना सरल न हो तथा अन्य भाषा-भाषियों के साथ उनका निकट संबंध हो तो उनकी भाषा में परिवर्तन की गति तीव्र होगी तथा भाषा में आये हुए परिवर्तनों का बोध कुछ दशकों के भीतर ही हो सकता है। स्थानांतर, राज्य परिवर्तन, विदेशी आक्रमण, सांस्कृतिक-धार्मिक जागृति आदि कुछ ऐसी घटनाएं हैं जिनके कारण भाषा में परिवर्तन की गति अत्यंत तीव्र हो जाती है तथा उसका अनुभव १०-२० वर्षों के अंदर ही किया जा सकता है। इस संदर्भ में सिंधी भाषा का उल्लेख किया जा सकता है। भारत-विभाजन के पश्चात्, भारत में आ गये सिंधियों की भाषा इन २०-२५ वर्षों में ही इतनी बदल गयी है कि उसके इस बदलाव की अनुभूति सरलता से की जा सकती है।

१.९.४ भाषा-परिवर्तन का स्वरूप (प्रकार) :

जब हम यह कहते हैं कि भाषा में परिवर्तन होता है तब हमारा तात्पर्य यह है कि भाषा की **संपूर्ण रचना अर्थात् उसके समस्त अंगों में परिवर्तन होता** है। भाषा के अंग हैं—**ध्वनि, रूप, शब्द,** वाक्य एवं अर्थ। इसी आधार पर भाषा परिवर्तन के प्रकार होंगे :

ध्वनि-परिवर्तन, रूप-परिवर्तन, शब्द-परिवर्तन, वाक्य-परिवर्तन एवं अर्थ-परिवर्तन।

ध्वनि-परिवर्तन

ध्वनि-परिवर्तन का संबंध ध्वनियों से है। इसमें मुख्य रूप से चार प्रकार के परिवर्तन होते हैं :

(१) ध्वनियों का ह्रास (जैसे संस्कृत की मूर्धन्य 'ष' का उच्चारण अब हिंदी में नहीं रहा है)।

(२) ध्वनियों का विकास (जैसे फारसी-अरबी शब्दों के प्रभाव से ग़, ज़, आदि नयी ध्वनियां हिंदी में विकसित हो रही हैं)।

(३) ध्वनियों के उच्चारण में अंतर (जैसे वैदिक-संस्कृत में 'ऐ', 'औ' संयुक्त स्वरों का उच्चारण क्रमशः आइ, आउ, जैसा था जबकि हिंदी में इन स्वरों का उच्चारण क्रमशः अइ, अउ, जैसा हो गया है)।

(४) ध्वनियों के वितरण अर्थात प्रयोग भी स्थितियों में परिवर्तन (जैसे अपभ्रंश में 'ण' ध्वनि शब्द के आरंभ में प्रयुक्त हो सकती थी; यथा, 'णाच' किंतु हिंदी में शब्द के आरंभ में 'ण' ध्वनि का प्रयोग नहीं होता है)।

रूप-परिवर्तन

रूप-परिवर्तन से भाषा की रूप-रचना में अंतर आ जाता है। उदाहरणार्थ संस्कृत में शब्दों के रूप तीन वचनों एवं आठ कारकों में बदलते थे किंतु हिंदी में शब्दों के रूप दो वचनों एवं दो अथवा तीन कारकों में बदलते हैं।

शब्द-परिवर्तन

इस परिवर्तन के कारण कितने ही पुराने शब्दों का प्रयोग समाप्त हो जाता है तथा कितने ही नये शब्द भाषा में प्रयुक्त होने लगते हैं। उदाहरणार्थ कभी पाई, आना, दुअन्नी आदि शब्दों का प्रयोग होता था। मुद्रा-प्रणाली के बदलने

से इन शब्दों का चलन अब समाप्त हो रहा है। नयी प्रणालियों के फलस्वरूप, ग्राम, लिटर, किलो जैसे शब्द चल पड़े हैं।

वाक्य-परिवर्तन

वाक्य-परिवर्तन के अंतर्गत, वाक्य रचना में होने वाले परिवर्तनों को गिना जाता है। जैसे अंग्रेजी के प्रभाव से हिंदी वाक्यों में विभिन्न प्रकार के विराम-चिह्नों का प्रयोग किया जाने लगा है जिससे वाक्य साधारण की अपेक्षा अधिक बड़े हो जाते हैं।

अर्थ-परिवर्तन

अर्थ-परिवर्तन में शब्दों का अर्थ बदल जाता है। जैसे कभी 'मृग' शब्द का अर्थ था 'पशु' (जैसे मृगराज अर्थात् पशुओं का राजा) लेकिन आज 'मृग' का अर्थ हो गया है 'हिरन'।

१.९.५ भाषा-परिवर्तन के कारण :

भाषा-परिवर्तन के कारणों का तर्कपूर्ण विवेचन कर पाना कठिन है। इसका मुख्य कारण यह है कि भाषा एक संश्लिष्ट संरचना है जिसमें एक से अधिक संरचनाएं जुड़ी हुई हैं। उदाहरणार्थ ध्वनि-परिवर्तन का संबंध उच्चारण अंगों से है तो अर्थ-परिवर्तन का मानसिक अवस्था से। फिर शब्दावली के परिवर्तन का कारण मुख्य रूप से सामाजिक परिस्थितियां हैं। प्रायः ऐसा होता है कि एक ही परिवर्तन के अनेक कारण होते हैं। इसलिए यह कहना सरल नहीं है कि अमुक परिवर्तन का अमुक कारण है।

अध्ययन की सुविधा के लिए कारणों का विवेचन किया जा सकता है। ऐसी स्थिति में इन कारणों को दो वर्गों में विभाजित करना होगा। एक वर्ग में आंतरिक कारण एवं दूसरे वर्ग में बाह्य कारण रखे जायंगे।

(क) आंतरिक कारण

इस वर्ग में वे कारण आते हैं जिनका संबंध भाषा की रचना एवं उसके प्रयोग से है। ये कारण हैं—

(१) ध्वनि यंत्र की भिन्नता
(२) मानसिक अवस्था में अंतर
(३) अनुकरण की अपूर्णता
(४) मुख-सुख

यह पहले ही बताया जा चुका है कि प्रत्येक व्यक्ति का ध्वनि-यंत्र दूसरे व्यक्ति के ध्वनि-यंत्र से भिन्न होता है। इसलिए उच्चारण में अंतर आ जाना स्वाभाविक है।

अर्थ का परिवर्तन भी अनिवार्य है; क्योंकि अर्थ का संबंध व्यक्ति की मानसिक अवस्था से है; और एक व्यक्ति की मानसिक अवस्था, दूसरे व्यक्ति की मानसिक अवस्था से भिन्न होती है।

अनुकरण की अपूर्णता, यह तीसरा कारण है। भाषा अनुकरण से सीखी जाती है। अनुकरण कितना ही ध्यानपूर्वक क्यों न किया जाय वह मूल के समान नहीं हो सकता। अनुकरण की अपूर्णता के भी अनेक कारण होते हैं। जिनमें मुख्य हैं—अज्ञान, अशिक्षा, आलस्य तथा शारीरिक अथवा मानसिक रोग।

आंतरिक कारणों में सबसे प्रभावशाली कारण माना जाता है मुख-सुख। मुख-सुख का संबंध उच्चारण से है। मनुष्य के स्वभाव की यह सामान्य प्रवृत्ति है कि वह कम श्रम करके अधिक सुख प्राप्त करना चाहता है। उसकी यही प्रवृत्ति भाषा में भी कार्य करती है। मुख-सुख के कारण ही 'स्त्री' का उच्चारण 'इस्त्री' हो जाता है तथा इसी मुख-सुख के फलस्वरूप 'अनाज' बदल कर 'नाज' हो जाता है।

(ख) बाह्य कारण

इस वर्ग में वे कारण गिने जाते हैं जिनका संबंध परिस्थितियों से है। ये परिस्थितियां कई प्रकार की हो सकती हैं; यथा, राजनैतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक आदि।

इन परिस्थितियों में राजनैतिक परिस्थितियां सबसे प्रभावशाली होती हैं। मुसलमानी शासन के कारण हजारों फ़ारसी-अरबी शब्द हिंदी में आ गये हैं; और अब इन शब्दों के कारण ग़, ज़, फ़ जैसी ध्वनियां हिंदी में विकसित हो रही हैं। अंग्रेजी शासन के कारण अंग्रेजी का कितना प्रभाव हिंदी पर पड़ा है, यह किसी से छिपा नहीं है।

धार्मिक परिस्थितियां भी भाषा के विकास में बहुत अधिक योगदान करती हैं। मध्यकालीन कृष्ण भक्ति के प्रभाव के कारण ही ब्रजभाषा का प्रभाव ब्रजभूमि से लेकर बंगाल तक की भाषाओं मे पाया जाता है।

व्यक्तियों के समान ही संस्कृतियां भी एक-दूसरे से प्रभावित होती हैं। वे एक-दूसरे से बहुत कुछ लेती और देती हैं। इस सांस्कृतिक आदान-प्रदान का

माध्यम होती है भाषा। उदाहरणार्थ आर्य एवं द्रविड़ संस्कृतियों के मिलने का परिणाम यह हुआ कि द्रविड़ भाषाएं संस्कृत से प्रभावित हुईं तथा संस्कृत में भी बहुत-सी द्रविड़ भाषाओं की विशेषताएं आ गयीं।

१.९.६ भाषा-परिवर्तन की क्रियाविधियां (Mechanisms) :

भाषा-परिवर्तन के कारणों का विवेचन करते हुए यह स्पष्ट कर दिया गया था कि भाषा-परिवर्तन के कारणों का तर्कसंगत विश्लेषण कर सकना कठिन है। इस कारण आधुनिक भाषा-वैज्ञानिक कारणों की अपेक्षा उन क्रियाविधियों का विवेचन करना अधिक उचित समझता है जिनके द्वारा भाषा में परिवर्तन घटित होता है।

भाषा-परिवर्तन की मुख्य क्रियाविधियां तीन हैं :

(१) ध्वनि-परिवर्तन (Sound change)
(२) आदान (Borrowing)
(३) सादृश्य (Analogy)

१.९.६.१ ध्वनि-परिवर्तन एक क्रियाविधि :

ध्वनि-परिवर्तन एक प्रकार का परिवर्तन तो है ही, वह एक प्रकार की क्रियाविधि भी है, जिसके द्वारा अन्य परिवर्तन घटित होते हैं। उदाहरणार्थ मध्यकालीन आर्य भाषाओं (पालि, प्राकृत, अपभ्रंश) में एक ध्वनि-परिवर्तन यह हुआ कि अंतिम व्यंजन लोप हो गया। एक ध्वनि-परिवर्तन यह भी हुआ कि स्वर—मध्य-यग अघोष व्यंजन घोष व्यंजन बन गये (ट > ड)। इन ध्वनि परिवर्तनों के फलस्वरूप प्राचीन शब्द 'घोटक' बदल कर 'घोडअ' हो गया। यही 'घोडअ' आधुनिक आर्य भाषा हिंदी में 'घोड़ा' बन गया। इन ध्वनि-परिवर्तनों के कारण न केवल शब्द के रूप में परिवर्तन हो गया वरन् उसकी व्याकरणात्मक स्थिति में भी अंतर आ गया। आकारांत हो जाने के कारण 'घोड़ा' का तिर्यक रूप तथा बहुवचन रूप 'घोड़े' बना (तिर्यक रूप—घोड़े से, घोड़े को आदि; तथा बहुवचन रूप—बहुत से घोड़े)। इस प्रकार ध्वनि-परिवर्तन एक क्रियाविधि का कार्य करता है।

१.९.६.२ आदान :

'आदान' से तात्पर्य उस क्रियाविधि से है जिसके अंतर्गत एक भाषा के कुछ तत्व दूसरी भाषा में ले लिए जाते हैं। इसको आगम अथवा भाषाई उधार भी कहते हैं।

यह आदान केवल दो भाषाओं में ही नहीं होता, एक ही भाषा की दो आंचलिक बोलियों के मध्य भी हो सकता है। आधुनिक उपन्यासों के माध्यम से आज कितने ही शब्द विभिन्न बोलियों से साहित्यिक हिंदी में आ गये हैं। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि कोई भाषा अपने पूर्ववर्ती रूप से बहुत-सी चीजें फिर से ग्रहण करने लगती हैं। जैसे आज हिंदी में फिर से अनेक संस्कृत शब्द प्रयुक्त होने लगे हैं। यह एक ही भाषा के दो भिन्न सामयिक रूपों के मध्य आदान है।

आदान मुख्य रूप से शब्दों का होता है किंतु शब्दों के माध्यम से दूसरे भाषाई परिवर्तन भी घटित हो जाते हैं। उदाहरणार्थ हिंदी ने फारसी-अरबी के अनेक शब्द ले लिए हैं। इन शब्दों में ग़, ज़, फ़ जैसी ध्वनियां भी हैं (जैसे बग़ीचा, हज़ार, फ़कीर) जिनका हिंदी में अभाव है। इन शब्दों के कारण अब ये ध्वनियां भी हिंदी में विकसित हो रही हैं। इन शब्दों के कारण कुछ व्याकरणात्मक परिवर्तन भी आया है। जैसे हिंदी में—'आत' लगाकर बहुवचन बनाने की पद्धति नहीं है किंतु अब 'काग़ज' का बहुवचन 'काग़जात' चलने लगा है।

१.९.६.३ सादृश्य :

सादृश्य का अर्थ है किसी प्रस्तुत भाषाई आकृति (शब्द, वाक्य आदि) की समानता पर नई भाषाई आकृति का निर्माण। आज-कल जो अनेक नये शब्द हिंदी में बन रहे हैं, उनमें से अधिकांश का आधार सादृश्य ही है। ईकारांत स्त्रीलिंग शब्दों से संबंधित पुल्लिंग शब्द आकारांत होते ही हैं; जैसे लड़की : लड़का। इसी के आधार पर तितली से तितला बन गया। 'उठाना', 'चलना' के ताल पर ही 'फिलमाना', 'मंचाना' आदि बन गये हैं। अंग्रेजी वाक्यों के सादृश्य पर हिंदी वाक्य-रचना में भी अंतर आ गया है। आज-कल ऐसे अनेक वाक्य पढ़ने को मिल जाते हैं जिनमें अंग्रेजी के सादृश्य पर क्रिया वाक्य के मध्य में प्रयुक्त होती है। जैसे, 'मैं करता कुछ नहीं, खाता हूँ ग़म और पीता हूं आंसू'।

१.९.६.४ अन्य क्रियाविधियां :

उपर्युक्त मुख्य विधियों के अतिरिक्त कुछ अन्य साधारण क्रियाविधियां भी हैं, जो उपर्युक्त क्रियाविधियों से मिलकर अथवा स्वतंत्र रूप से कार्य करती हैं। इन क्रियाविधियों के द्वारा मुख्य रूप से ध्वनि संबंधी परिवर्तन ही उपस्थित होते हैं। इनमें से कुछ का संक्षिप्त परिचय नीचे दिया जा रहा है।

संमिश्रण अथवा समोच्चारण

दो शब्द जो प्रायः एक ही स्थान पर प्रयुक्त होते हैं उनमें उच्चारण-समानता उत्पन्न हो जाती है। जैसे 'द्वादश' के साथ प्रयुक्त होने के कारण 'एकदश' बदल कर 'एकादश' हो गया है।

विपर्य

इस क्रियाविधि में एक या एक से अधिक ध्वनियां अपना स्थान बदल देती हैं। 'अमरूद' 'अरमूद', तथा 'लखनऊ' का 'नखलऊ' विपर्य के ही उदाहरण हैं।

समीकरण

समीकरण में एक ध्वनि दूसरी भिन्न ध्वनि को अपने समान बना लेती है। जैसे, प्राचीन शब्द 'चक्र' मध्यकाल में 'चक्क' बन गया। यहां 'क' ने अपने प्रभाव से 'र' को भी 'क' बना दिया।

विषमीकरण

विषमीकरण की क्रियाविधि, समीकरण से विपरीत दिशा में कार्य करती है। समीकरण में भिन्न ध्वनि समान बन जाती है पर विषमीकरण में समान ध्वनि भिन्न बन जाती है। जैसे 'दरिद्र' बदलकर 'दलिद्र' होने लगा है। यहां 'र' ध्वनि बदल कर 'ल' बन गयी है।

स्मरण-संकेत

१.१ समाज की रचना एवं सभ्यता के विकास का मुख्य आधार भाषा है।

१.२ सामान्य व्यक्ति का संबंध भाषा के प्रयोग से है। कुछ व्यक्ति (शिक्षक, समाजशास्त्री आदि) भाषा का अध्ययन साधन रूप में करते हैं। भाषा वैज्ञानिक के लिए भाषा का अध्ययन साध्य अथवा उद्देश्य है।

१.३ भाषा ध्वनि संकेतों की ऐसी व्यवस्था है जिसके द्वारा विचार-संपर्क स्थापित किया जाता है।

१.४ भाषा के दो पक्ष हैं : भौतिक (ध्वनियां) एवं बौद्धिक (अर्थ)। भाषा एक मिश्रित संरचना है जिसमें सम्मिलित हैं—ध्वनि संरचना, ध्वनिग्रामिक संरचना, रूपात्मक संरचना, वाक्यात्मक संरचना, अर्थ संरचना, रूप ध्वनिग्रामिक संरचना एवं शब्द संरचना, ।

१.५ भाषा के अंग हैं : ध्वनि, रूप, शब्द, वाक्य एवं अर्थ।

१.६ ध्वनितत्त्व एवं अर्थतत्त्व भाषा के वे तत्त्व हैं जिनसे समस्त भाषा की रचना होती है।

१.७ भाषा की रचनागत विशेषताएं हैं :—
उच्चरित ध्वनियां, प्रतीकात्मकता, ऐच्छिकता, क्रमबद्धता, व्यवस्था एवं संपर्क।

भाषा की स्वभावगत विशेषताएं हैं :—

अर्जित, अनुकृत, सामाजिक, अवैयक्तिक, अनिवार्य एवं व्यापक, विविध, संग्रहित, परिवर्तनशील, नियमनशील तथा सरलतागामी।

१.८ भाषा की उत्पत्ति का प्रश्न भाषाविज्ञान के साथ प्राचीन इतिहास, मनोविज्ञान तथा दर्शनशास्त्र से भी जुड़ा हुआ है। आधुनिक भाषा वैज्ञानिक इस प्रश्न को महत्त्वपूर्ण नहीं समझते। भाषा की उत्पत्ति संबंधी अनेक मत हैं। जिनमें से कुछ श्रद्धा पर आधारित हैं, कुछ अनुमान पर एवं कुछ विकासवाद के सिद्धांत पर।

१.९ भाषा सदैव परिवर्तित होती रहती है। परिवर्तन एवं स्थिरीकरण की शक्तियां भाषा का संतुलन बनाए रखती हैं। भाषा परिवर्तन की मंद अथवा तीव्रगति का आधार बाह्य परिस्थितियों पर है। परिवर्तन भाषा के समस्त अंगों—ध्वनि, रूप, शब्द, वाक्य, अर्थ—में होता है। भाषा परिवर्तन के अनेक कारण हैं जिन्हें आंतरिक एवं बाह्य वर्गों में विभाजित किया जाता है। भाषा-परिवर्तन की मुख्य क्रियाविधियां हैं : ध्वनि-परिवर्तन, आदान एवं सादृश्य। इनके अतिरिक्त कुछ दूसरी साधारण क्रियाविधियां भी हैं।

२ भाषाविज्ञान

- भाषाविज्ञान का अर्थ
- भाषाविज्ञान का नाम
- भाषाविज्ञान का स्वरूप
- भाषाविज्ञान के विभाग
- भाषाविज्ञान के अध्ययन की पद्धतियाँ
- भाषाविज्ञान एवं अन्य शास्त्र । विज्ञान
- भाषाविज्ञान की उपयोगिता
- भाषाविज्ञान के अध्ययन का इतिहास

२.१ भाषाविज्ञान का अर्थ :

भाषाविज्ञान का शाब्दिक अर्थ है 'भाषा का विज्ञान'। भाषा का विवेचन पूर्व-परिच्छेदों में किया गया है, यहां उसकी पुनरावृत्ति अनावश्यक है।

'विज्ञान' का सामान्य अर्थ ऐसे विशुद्ध ज्ञान से लिया जाता है जो देश एवं काल की दृष्टि से अपरिवर्तनशील हो। परंतु विज्ञान का वास्तविक अर्थ है किसी भी विषय का 'व्यवस्थित ज्ञान'। 'व्यवस्थित ज्ञान' से तात्पर्य उस ज्ञान से है जो सामग्री (data) के विश्लेषण से प्राप्त होता है। यह विश्लेषण कार्य-कारण संबंध पर आधारित होता है तथा इस विश्लेषण से कुछ सामान्य नियमों का निर्धारण होता है।

इस दृष्टि से **भाषाविज्ञान, भाषा का 'व्यवस्थित ज्ञान'** है। भाषा (सामान्य अथवा विशेष) का विभिन्न दृष्टियों से अध्ययन करना एवं उसे व्यवस्थित ढंग से प्रस्तुत करना ही भाषाविज्ञान का कार्य है। भाषाविज्ञान भाषा-सामग्री का विवेचन-विश्लेषण करता है तथा भाषा की रचना तथा उसके प्रयोग से संबंधित कुछ सामान्य नियमों की रचना करता है।

२.२ नाम :

आज-कल भाषाविज्ञान का प्रयोग, अंग्रेजी शब्द, लिंग्विस्टिक्स (Linguei-stics) के अर्थ में होता है। यों इसी अर्थ के द्योतक अन्य कई नाम प्रचलित हैं; यथा, भाषाशास्त्र, तुलनात्मक भाषाशास्त्र, भाषिकी, भाषालोचन, भाषा-तत्व, भाषाविचार आदि। तात्त्विक दृष्टि से इन नामों में कोई अंतर नहीं है। यह सोचना भ्रामक होगा कि 'शास्त्र' शब्द से इस विषय के कलात्मक अथवा अवैज्ञानिक होने का बोध होता है; एवं 'विज्ञान' शब्द जोड़ने से भाषा-संबंधी अध्ययन अन्य प्राकृतिक विज्ञानों (यथा भौतिक-विज्ञान, जीव-विज्ञान आदि) के समान हो जाता है। 'रसायन-शास्त्र' कहने पर भी रसायन संबंधी अध्ययन का यह विशुद्ध विज्ञान है तथा 'मनोविज्ञान' कहने पर भी मानव-मन का यह अध्ययन भौतिक विज्ञान के समान विशुद्ध विज्ञान नहीं है। इस विषय का 'भाषाविज्ञान' नाम प्रयोग की दृष्टि से इतना ग्राह्य हो चुका है कि अब उसे बदलने का प्रयत्न व्यर्थ है। यों यह नाम निश्चित रूप से सार्थक भी है।

२·३ भाषाविज्ञान का स्वरूप :

स्वरूप अर्थात 'प्रकृति' के संबंध में मुख्य प्रश्न यह उठाया जाता है कि संबंधित विषय 'विज्ञान' है अथवा 'कला'। भाषाविज्ञान की प्रकृति का निर्णय करने से पूर्व विज्ञान एवं कला के अंतर को समझ लेना आवश्यक है। विज्ञान 'सामग्री-प्रधान' होता है जबकि कला 'रुचि-प्रधान' होती है। इसलिये जहां वैज्ञानिक अध्ययन में समान सामग्री से समान निर्णय निकलना आवश्यक है, वहां एक ही विषय से संबंधित विभिन्न रुचियोंवाले कलाकारों द्वारा विभिन्न रचनाएं संभव हैं। उदाहरणार्थ—एक पौधे का एक से अधिक वैज्ञानिक समान विवरण प्रस्तुत करेंगे किंतु एक ही पौधे को अलग-अलग चित्रकार अलग-अलग ढंग से चित्रित कर सकते हैं। विज्ञान एवं कला में दूसरा महत्त्वपूर्ण अंतर यह है कि विज्ञान के अध्ययन का उद्देश्य, मात्र उत्कंठा की तृप्ति करना होता है किंतु कला के पीछे एक निश्चित ध्येय अथवा उपयोगिता होती है। इस दृष्टि से विज्ञान के लिये विषय 'साध्य' होता है किंतु कला के लिये 'साधन'। उदाहरणार्थ—रेखाओं का अध्ययन यदि साध्य रूप में किया जाता है तो उसे रेखागणित-विज्ञान के अंतर्गत गिना जाता है किंतु उन्हीं रेखाओं का साधन रूप में अध्ययन करने से चित्रकला का निर्माण होता है। फिर विज्ञान अपवाद अथवा वैकल्प रहित होता है किंतु कला विकल्प को लेकर चलती है।

जहां तक भाषाविज्ञान का संबंध है, वह मुख्य रूप से विज्ञान है। भाषा-विज्ञान के अध्ययन की सामग्री भाषा है; अतः यह सामग्री-प्रधान विषय है। व्यक्ति-रुचि का इसमें महत्व नहीं। भाषा का अध्ययन, भाषाविज्ञान का साध्य है। वह और किसी विषय के अध्ययन का साधन नहीं है। भाषा-रचना संबंधी निर्मित नियम तात्विक दृष्टि से अपवाद रहित होते हैं। इतना होने पर भी भाषाविज्ञान को प्राकृतिक विज्ञानों (Natural Sciences) के समकक्ष नहीं रखा जा सकता। इसका मुख्य कारण यह है कि प्राकृतिक विज्ञान जड़ एवं विचार-रहित पदार्थों का अध्ययन करते हैं जबकि भाषाविज्ञान भाषा का अध्ययन करता है, जिसका प्रयोग मनुष्य करता है जो कि चेतन एवं विचारशील प्राणी है। इस दृष्टि से भाषाविज्ञान को अन्य सामाजिक विज्ञानों यथा मनोविज्ञान, समाजशास्त्र आदि के समान ही समझना चाहिए। फिर भाषाविज्ञान के द्वारा प्रस्तुत भाषा संबंधी सामग्री का बहुत कुछ उपयोग भी होता है। यह 'उपयोगिता' उसे कला की ओर खींच ले आती है। अतः **भाषाविज्ञान को वैज्ञानिक कला अथवा कलात्मक विज्ञान का कहना अधिक उपयुक्त होगा।**

२.४ भाषाविज्ञान के विभाग

प्रत्येक विषय, अपने आप में पूर्ण एवं समग्र होता है। उसे विभाजित करने का कोई तार्किक एवं तात्विक कारण नहीं होता। अतः किसी भी विषय का विभाजन केवल अध्ययन की सुविधा के लिए ही किया जाता है। इसी सुविधा का विचार करते हुए भाषा के विभिन्न अंगों का विवेचन किया गया है और इसी सुविधा को उद्देश्य बनाकर भाषाविज्ञान के विभिन्न विभाग किये गये हैं।

भाषाविज्ञान के विभागों का आधार है भाषा के अंग। जितने भाषा के अंग हैं उतने ही भाषाविज्ञान के मुख्य विभाग हैं।

भाषा के अध्याय में यह बताया जा चुका है कि भाषा के दो पक्ष होते हैं : अनुभूति पक्ष एवं अभिव्यक्ति पक्ष। अनुभूति पक्ष में अर्थ की गणना की जाती है। भाषाविज्ञान का वह भाग जो अर्थ का अध्ययन करता है 'अर्थ-विज्ञान' कहलाता है।

अभिव्यक्ति पक्ष के अंतर्गत भाषा की पूर्ण इकाई है 'वाक्य'। भाषाविज्ञान का वह भाग जो वाक्य का अध्ययन करता है 'वाक्य-विज्ञान' कहलाता है।

वाक्य एक विभाज्य इकाई है। वाक्य जिन सार्थक लघुतम इकाइयों में विभाजित हो सकता है उन्हें 'रूप' कहते हैं। भाषाविज्ञान का वह भाग जो रूपों का अध्ययन करता है, उसे 'रूप-विज्ञान' कहते हैं।

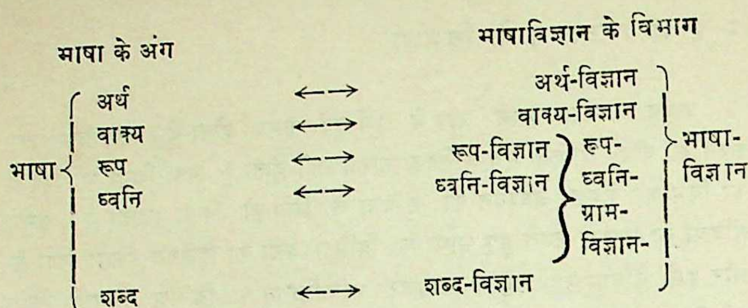
रुपों की रचना ध्वनियों से होती हैं। 'ध्वनि' भाषा की अंतिम लघुतम इकाई है। 'ध्वनि-विज्ञान' भाषाविज्ञान का वह भाग है जो ध्वनियों का अध्ययन करत है।

भाषाविज्ञान का एक और भाग है—'रूप-ध्वनिग्राम-विज्ञान'। इसके अंतर्गत रूपों में होनेवाले ध्वनिग्रामिक परिवर्तनों का अध्ययन किया जाता है।

कुछ लोग शब्दों के अध्ययन का एक अलग विभाग 'शब्द-विज्ञान' अथवा 'शब्दावली–विज्ञान' मानते हैं। यों 'रूप-विज्ञान' के अंतर्गत ही शब्दों का अध्ययन भी होता है।

नीचे की तालिका में भाषा के अंगों एवं भाषाविज्ञान के विभागों का परस्पर संबंध दर्शाया गया है।

४



आगामी परिच्छेदों में भाषाविज्ञान के उपर्युक्त विभागों का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

अर्थ-विज्ञान

अर्थ-विज्ञान, भाषाविज्ञान का वह भाग है जो भाषा के अर्थ-तत्त्व का अध्ययन करता है। अर्थ-विज्ञान के अंतर्गत ध्वनि एवं अर्थ के परस्पर संबंध का विवेचन होता है। इसमें अर्थ की संरचना, उसकी विभिन्न स्थितियों, अर्थ-परिवर्तन के कारणों, दिशाओं एवं परिणामों का अध्ययन-विश्लेषण होता है। अर्थ-विज्ञान के अंतर्गत किसी भाषा विशेष की अर्थ-व्यवस्था का वर्णन भी होता है। उदारणार्थ यह बतलाना अर्थ-विज्ञान का कार्य है कि 'मृग' शब्द का अर्थ कैसे संकुचित होकर 'प्रत्येक प्राणी' के स्थान पर एक विशेष प्राणी (हिरन) हो गया है। यह भी अर्थ-विज्ञान ही बतलाएगा कि 'तैल' शब्द का अर्थ कैसे विकसित होकर 'तिल से निकला हुआ तरल पदार्थ' के स्थान पर 'किसी भी पदार्थ से निकला हुआ चिकना-तरल पदार्थ' हो गया।

वाक्य-विज्ञान

वाक्य-विज्ञान के अध्ययन का क्षेत्र है वाक्य। वाक्य-विज्ञान में वाक्य की रचना अथवा गठन का विवेचन-विश्लेषण किया जाता है। यह अध्ययन सैद्धांतिक भी हो सकता है तो किसी भाषा विशेष का भी। वाक्य-विज्ञान के अंतर्गत वाक्य की सीमाओं, वाक्य के विभिन्न भागों, वाक्य के संचालक तत्वों आदि का अध्ययन होता है। वाक्य के विभिन्न प्रकारों एवं उनकी समानता-भिन्नता का वर्णन भी 'वाक्य-विज्ञान' के अंतर्गत ही आता है। उदाहरणार्थ 'अच्छा घोड़ा अच्छा चलता है' इस वाक्य में 'अच्छा' शब्द दो बार आया है किंतु दोनों बार उसकी स्थिति समान नहीं है। वाक्य-विज्ञान की सहायता से हमें ज्ञात होता

है कि प्रथम बार आया हुआ 'अच्छा' शब्द 'घोड़ा' संज्ञा से संबंधित होने के कारण विशेषण और दूसरी बार आया हुआ 'अच्छा' शब्द 'चलता' क्रिया से संबंधित होने के कारण क्रिया विशेषण हैं।

रूप-विज्ञान

'रूप-विज्ञान' रूपों के अध्ययन का नाम है। 'रूप' भाषा की सार्थक लघुतम इकाई है। यदि किसी वाक्य को सार्थक इकाइयों में विभाजित करते जायं तो जो अंतिम अविभाजित सार्थक इकायां प्राप्त होंगी वे 'रूप' कहलाएंगी। रूप-विज्ञान के अंतर्गत की रचना, रूपों के प्रकार, रूपात्मक प्रक्रिया, अर्थ तत्व एवं संबंध तत्व आदि का विवेचन होता है। रूप-विज्ञान में ही शब्दों के निर्माण (किसी शब्द में उपसर्ग, प्रत्यय आदि लगाकर दूसरे शब्द बनाना; यथा, 'कर्म' शब्द से सुकर्म, कुकर्म, कुकर्मी आदि) एवं शब्दों के रूपांतर (विभक्ति आदि के द्वारा किसी शब्द के विभिन्न विकारी रूप बनाना; यथा 'लड़का' से लड़के का विवेचन होता है। विभिन्न व्याकरणात्मक शब्दों (संज्ञा, सर्वनाम आदि) का विवेचन भी रूप-विज्ञान का विषय है।

ध्वनि-विज्ञान

'ध्वनिविज्ञान, का संबंध 'ध्वनि' के अध्ययन से है। उच्चारण अंगों की रचना, ध्वनियों का निर्माण, ध्वनियों का वहन एवं श्रवण, ध्वनियों का वर्गीकरण, ध्वनि-योगों की रचना आदि विषयों का विवेचन ध्वनि-विज्ञान के क्षेत्र में आता है। किसी भाषा विशेष के क्षेत्र में आता है। किसी भाषा विशेष की ध्वनि-संरचना का वर्णन-विश्लेषण भी ध्वनि-विज्ञान का विषय है। ध्वनि के अध्ययन की अनेक पद्धतियां हैं। यदि ध्वनि का अध्ययन उच्चारण अंगों के संदर्भ में किया जाता है तो यह 'उच्चारणात्मक पद्धति' कहलाती है। उच्चारण के पश्चात् ध्वनि वायु-तरंगों पर प्रवाहित होती है। इस स्थिति में यदि ध्वनियों का अध्ययन किया जाता है तो उसे 'तरंगात्मक पद्धति' कहते हैं। ध्वनि श्रवण का विषय है। यदि श्रवण को आधार बनाकर ध्वनियों का अध्ययन किया जाय तो यह 'श्रवणात्मक पद्धति' कहलाएगी। विभिन्न यंत्रों की सहायता से किया गया ध्वनियों का अध्ययन 'प्रायोगिक पद्धति' के अंतर्गत आता है।

ध्वनि-विज्ञान के मुख्य रूप से दो भाग किये जाते हैं। एक है ध्वनि-विज्ञान (Phonetics) एवं दूसरा है ध्वनिग्राम-विज्ञान (Phonemics)। ध्वनि-विज्ञान समस्त ध्वनियों का अध्ययन करता है जबकि ध्वनिग्राम-विज्ञान विशिष्ट ध्वनियों (Significant Sounds) का अध्ययन करता है।

रूप ध्वनिग्राम-विज्ञान

रूप ध्वनिग्रामविज्ञान के अंतर्गत रूपों में होनेवाले ध्वनिग्रामिक परिवर्तनों का विवेचन होता है। कभी-कभी एक ही रूप के एक से अधिक ध्वन्यात्मक आकार होते हैं। ऐसी स्थिति में उन्हें अनेक रूप न मानकर एक ही रूप माना जाता है। यह रूपध्वनिग्रामिक नियमों से ही संभव होता है। उदाहरणार्थ चार, चौबीस, चौंतीस इन तीन संख्याओं में ४ संख्या सूचक निम्नलिखित रूप हैं :

चार
चौ—(चौ + बीस = चौबीस)
चौं—(चौं + तीस = चौंतीस)

रूप ध्वनिग्रामिक नियमों के द्वारा ही यह ज्ञात हो सकेगा कि चार, चौ—, चौं—, तीन भिन्न रूप न होकर एक ही रूप की तीन भिन्न ध्वन्यात्मक आकृतियां हैं।

शब्द-विज्ञान

शब्दों के अध्ययन को ही 'शब्द-विज्ञान' कहा जाता है। इसके अंतर्गत शब्दों के प्रकार, शब्दों की रचना, शब्दों का आगम आदि विषयों का विवेचन होता है। शब्दकोश निर्माण का संबंध शब्द-विज्ञान से ही है। सामान्य रूप से रूप-विज्ञान के अंतर्गत ही शब्दों का अध्ययन भी होता है किंतु प्रत्येक विषय में विशिष्टता (Specialization) के कारण शब्द-विज्ञान अपने आप में अध्ययन की एक अलग शाखा बन गया है।

२.५ भाषाविज्ञान के अध्ययन की पद्धतियां :

भाषा एक ऐसी महत्त्वपूर्ण एवं संश्लिष्ट व्यवस्था है कि इसका अध्ययन अनेक दृष्टियों से किया जा सकता है। भाषा-अध्ययन की ये विभिन्न दृष्टियां ही भाषा के अध्ययन की विभिन्न पद्धतियां कहलाती हैं।

भाषा के अध्ययन की मुख्य पद्धतियां निम्नलिखित हैं :

(क) वर्णनात्मक पद्धति (अर्थात वर्णनात्मक भाषाविज्ञान)
(ख) ऐतिहासिक पद्धति (अर्थात ऐतिहासिक भाषाविज्ञान)
(ग) तुलनात्मक पद्धति (अर्थात तुलनात्मक भाषाविज्ञान)
(घ) व्यावहारिक पद्धति (अर्थात व्यावहारिक भाषाविज्ञान)

२.५.१ वर्णनात्मक पद्धति

इस पद्धति के अंतर्गत उन सिद्धांतों का उल्लेख होता है जिनकी सहायता से किसी एक समय की, किसी एक भाषा की रचनात्मक विशेषताओं का वर्णन किया जा सके। इस प्रकार इस पद्धति के दो पहलू हैं। एक पहलू है सैद्धांतिक और दूसरा पहलू है भाषा-संबद्ध। सैद्धांतिक पक्ष में उन सिद्धांतों का विवेचन होता है जिनके आधार पर किसी भाषा विशेष का वर्णन प्रस्तुत किया जाता है। किसी भाषा का रचनागत विवेचन प्रस्तुत करना ही इस पद्धति का भाषा-संबद्ध पहलू हैं। इस पद्धति को 'एक कालिक' (Sinchronic) भी कहा जाता है क्योंकि इस पद्धति का संबंध किसी एक विशेष काल की भाषा से रहता है।

इसी पद्धति का विकसित रूप संरचनात्मक पद्धवि (Structural Method) कहलाता है।

२.५.२ ऐतिहासिक पद्धति

भाषा के अध्ययन की ऐतिहासिक पद्धति में भाषा के इतिहास का अध्ययन किया जाता है। इस पद्धति में एक ही भाषा के दो भिन्न समयों के मध्य हुए परिवर्तनों का अध्ययन कर, उन परिवर्तनों से संबंधित नियमों की रचना की जाती है। उदाहरणार्थ यदि मध्यकालीन हिंदी एवं आधुनिक हिंदी के मध्य हुए परिवर्तनों का अध्ययन-विश्लेषण किया जाय एवं यह निश्चित किया जाय कि वे किन नियमों के आधार पर हुए हैं, तो यह हिंदी का ऐतिहासिक अध्ययन ही होगा।

यह अध्ययन सदैव दो समयों या समय के दो बिंदुओं के संदर्भ में किया जाता है इस कारण इसे 'द्विकालिक पद्धति' (Diochronic Method) भी कहते हैं। वर्णनात्मक पद्धति से जहां भाषा के 'क्या' का बोध होता है, वहां ऐतिहासिक पद्धति से भाषा के 'कैसे' का ज्ञान होता है; अर्थात् किसी भाषा का 'क्या' रूप है, यह वर्णनात्मक पद्धति से ही होगा। इसी अध्ययन के आधार पर किसी भाषा से संबंधित ध्वनि-नियमों (Phonetic Laws) की रचना होती है।

इस पद्धति के भी सैद्धांतिक एवं भाषा संबद्ध दो पहलू हैं।

२.५.३ तुलनात्मक पद्धति

तुलनात्मक पद्धति में एक से अधिक भाषाओं की तुलना की जाती है। उदाहरणार्थ यदि हिंदी, गुजराती, मराठी आदि की भाषागत विशिष्टताओं की

तुलना की जाय तो यह तुलनात्मक पद्धति कहलाएगी। यह तुलना भाषाओं के किसी भी समय की हो सकती है। आधुनिक हिंदी एवं आधुनिक मराठी की भी हो सकती है तो आज से एक हजार वर्ष पूर्व की हिंदी एवं उसी समय की मराठी की तुलना भी हो सकती है। तुलना केवल निकटवर्ती भाषाओं की ही नहीं होती, किंहीं भी भाषाओं की हो सकती है। उदाहरणार्थ हिंदी एवं रूसी अथवा हिंदी एवं अरबी की भी तुलना की जा सकती है।

इस अध्ययन के आधार पर ही भाषाओं का वर्गीकरण किया जाता है तथा विभिन्न भाषा-परिवार बनाये जाते हैं।

२.५.४ व्यावहारिक पद्धति

जिस पद्धति में भाषा संबंधी जानकारी का प्रयोग, अन्य विषयों में किया जाता है, उस पद्धति को 'व्यावहारिक पद्धति' अथवा व्यावहारिक भाषाविज्ञान (Applied Linguistics) कहते हैं। इस दृष्टि से व्यावहारिक पद्धति, भाषा के अध्ययन की कोई पद्धति नहीं है; वह तो भाषा संबंधी जानकारी के प्रयोग की पद्धति है। उदाहरणार्थ विभिन्न पद्धतियों द्वारा भाषा संबंधी प्राप्त जानकारी का प्रयोग विदेशी भाषा सिखलाने; किसी जाति अथवा जन-जाति की संस्कृति का विवेचन करने; किसी व्यक्ति अथवा समूह की मानसिक अवस्था को समझने के लिये किया जा सकता है। आजकल तो भाषा संबंधी जानकारी का प्रयोग बोलने की त्रुटियों (तुतलाहट आदि) को दूर करने के लिए भी किया जाता है। पाठ्य-पुस्तकों की रचना, व्याकरण निर्माण, नवीन लिपि की रचना आदि कार्यों में तो भाषा संबंधी जानकारी की अनिवार्यता निर्विवाद है। भाषाविज्ञान के इस व्यावहारिक पक्ष की तुलना इंजीनियरिंग एवं डाक्टरी शिक्षा से की जा सकती है। गणित एक विज्ञान है। गणित संबंधी जानकारी का प्रयोग इंजीनियरिंग में किया जाता है, अतः इंजीनियरिंग को 'व्यावहारिक गणित' कहा जायगा। वैसे ही डाक्टरी विद्या को 'व्यावहारिक रसायन शास्त्र' कहा जा सकता है।

२.६ भाषाविज्ञान एवं अन्य शास्त्र :

भाषाविज्ञान, भाषा का अध्ययन करता है। भाषा के प्रयोग का क्षेत्र अत्यंत विस्तृत है। प्रायः प्रत्येक शास्त्र (किसी भी प्रकार के ज्ञान) को भाषा का उपयोग करना ही पड़ता है। इस कारण भाषाविज्ञान का संबंध प्रायः समस्त शास्त्रों से है। समस्त शास्त्रों के दो वर्ग किए जाते हैं। एक वर्ग में

भौतिक शास्त्र (Natural Sciences) एवं दूसरे वर्ग में मानविक शास्त्र (Humanities) रखे जाते हैं। इनमें से कुछ शास्त्रों के साथ भाषाविज्ञान का पर्याप्त संबंध है और कुछ के साथ उसका थोड़ा सा संपर्क है। जिन शास्त्रों के साथ उसका निकट का संबंध है, वे हैं, साहित्य, व्याकरण, इतिहास, मनोविज्ञान, समाज-शास्त्र प्रजातीय शास्त्र एवं शिक्षा-शास्त्र। जिन शास्त्रों से उसका थोड़ा संबंध है, वे हैं, शरीर शास्त्र, पदार्थ शास्त्र, भू शास्त्र (भूगोल), संचार शास्त्र (Communication Engineering) एवं दर्शन शास्त्र।

भाषाविज्ञान एवं साहित्य

साहित्य एवं भाषाविज्ञान में यथेष्ट संबंध है। अपनी प्रकृति में साहित्य एक प्रकार की कला है जबकि भाषाविज्ञान एक प्रकार का विज्ञान है। दोनों के मध्य संबंध का मुख्य कारण है 'भाषा'। भाषाविज्ञान के लिए भाषा अध्ययन का साध्य है। साहित्य के लिए भाषा अभिव्यक्ति का माध्यम है। साहित्य मुख्य रूप से भाषाविज्ञान के लिये सामग्री जुटाने का कार्य करता है। किसी भी भाषा का ऐतिहासिक अध्ययन उस भाषा की उपलब्ध साहित्यिक सामग्री के प्रयोग से ही हो सकता है। प्राचीन भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन में भी संबंधित भाषाओं के साहित्य से ही सामग्री प्राप्त की जाती है। उदाहरणार्थ हिंदी के ऐतिहासिक विकास का अध्ययन करना हो तो उसकी पुरानी रचनाओं के आधार पर ही किया जा सकता है। संस्कृत, लैटिन, ग्रीक आदि प्राचीन भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन भी उन भाषाओं के साहित्य की सहायता से ही किया जा सकता है।

जीवित भाषाओं के अध्ययन में भी साहित्य से भाषाविज्ञान को सहायता मिलती है। साहित्यिक भाषा सामान्य भाषा से कुछ भिन्न है। भाषावैज्ञानिक के लिए यह अध्ययन का विषय है कि एक ही समुदाय में प्रचलित साहित्यिक भाषा, सामान्य भाषा से किन बातों में भिन्न है तथा उस भिन्नता की क्या सामान्य विशेषताएं हैं।

एक ओर यदि साहित्य के द्वारा भाषाविज्ञान के अध्ययन में सहायता मिलती है तो दूसरी ओर भाषा की व्यवस्थित जानकारी से कई साहित्यिक समस्याओं को सुलझाने में सहायता मिलती है। साहित्यिक रचनाओं की प्राचीनता, प्रामाणिकता एवं शुद्धपाठ के निर्णय में भाषाविज्ञान से बहुत सहायता मिलती है। उदाहरणार्थ हिंदी साहित्य के वीरगाथा-काल की रचनाओं की

प्रामाणिकता-अप्रामाणिकता का निर्णय मुख्य रूप से भाषा के आधार पर ही किया गया है ।

भाषाविज्ञान एवं व्याकरण

एक समय था जब व्याकरण एवं भाषाविज्ञान को एक ही विषय समझा जाता था । आज ऐसा नहीं समझा जाता ।

व्याकरण किसी विशेष समय की, किसी विशेष भाषा के शुद्ध प्रयोग संबंधी नियमों का समूह है । भाषाविज्ञान की वर्णनात्मक पद्धति द्वारा किसी भी भाषा की समस्त संरचनात्मक विशेषताओं का वर्णन प्रस्तुत किया जाता है । व्याकरण भाषाविज्ञान द्वारा प्रस्तुत उस सामग्री का प्रयोग करते हुए ऐसे नियमों का निर्माण करता है, जिनसे भाषा का शुद्ध प्रयोग (अर्थात भाषा का ऐसा प्रयोग जो शिष्ट जनों को स्वीकृत हो) किया जा सके ।

ऐतिहासिक व्याकरण का आधार ऐतिहासिक भाषाविज्ञान पर है एवं एक से अधिक भाषाओं का तुलनात्मक व्याकरण, तुलनात्मक भाषाविज्ञान की सहायता से ही तैयार किया जा सकता है ।

भाषाविज्ञान यथार्थवादी है क्योंकि वह भाषा में प्रचलित समस्त प्रयोगों को स्वीकार करता है; किंतु व्याकरण आदर्शवादी है क्योंकि व्याकरण में उन्हीं प्रयोगों को स्वीकार किया जाता है जो शिष्ट जनों द्वारा स्वीकृत हों । पाणिनि भाषावैज्ञानिक एवं वैयाकरण दोनों थे । भाषावैज्ञानिक के रूप में उन्होंने उस समय में प्रचलित समस्त संस्कृत रूपों का विवेचन किया है । वैयाकरण के रूप में उन्होंने उन रूपों में से कुछ रूपों को स्वीकार किया है एवं अन्य रूपों को या तो अमान्य किया है या तो उन्हें अपवाद के रूप में रखा है ।

भाषाविज्ञान एवं इतिहास

संस्कृतियों एवं देशों के समान, भाषाओं का भी इतिहास होता है । भाषाओं का इतिहास दो प्रकार का होता है—भीतरी इतिहास एवं बाहरी इतिहास । भाषा के बाहरी इतिहास का संबंध भाषा की बाह्य परिस्थितियों से है । यहीं पर भाषा एवं इतिहास का संबंध जुड़ता है । इतिहास ऐसी घटनाओं (वास्तव में परिस्थितियों) का चिट्ठा है, जिन घटनाओं ने समाज की दिशा बदलने में योग दिया है । भाषा समाज से संबद्ध होने के कारण इन बाह्य परिस्थितियों से प्रभावित होती है । यह पहले ही बता दिया गया है कि कैसे

इस्लामी एवं अंग्रेजी शासन ने हिंदी को प्रभावित किया तथा भक्ति-आंदोलन ने ब्रजभाषा के विकास में सहायता प्रदान की। जब स्वतंत्र भारत का नया इतिहास लिखा जायगा तब भाषा पर आधारित प्रांत-रचना, भाषाई झगड़े, राजभाषा एवं संपर्क भाषा की समस्या तथा उसका प्रभाव आदि विषयों के विवेचन में हिंदी एवं अन्य भारतीय भाषाओं का विवेचन होगा ही। हिंदी के वर्तमान स्वरूप को तभी सही अर्थों में समझा जा सकता है जब उसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को समझा जाय।

इतिहास के अनेक तथ्यों को समझने में भाषागत सामग्री बहुत उपयोगी सिद्ध होती है। भाषा के प्रकाश में ही आर्यों के इतिहास के अनेक तथ्य स्पष्ट हो सके हैं।

भाषाविज्ञान एवं मनोविज्ञान

विचार एवं भाषा में निकट संबंध है। विचार को अव्यक्त भाषा तथा भाषा को व्यक्त विचार कहा जाता है।

विचार का अध्ययन मनोविज्ञान का विषय है। विचार अमूर्त होता है। उसका अध्ययन तभी किया जा सकता है जब वह मूर्त रूप धारण करे। भाषा, विचार का मूर्त रूप है। अतः विचार के अध्ययन में भाषा का अध्ययन (भाषाविज्ञान) सहायक सिद्ध होता है। इसी से आज-कल मानसिक रोगियों की मानसिक स्थिति को समझने तथा उनका उपचार करने में भाषाविज्ञान से सहायता ली जाती है।

भाषा के अध्ययन में भी मनोवैज्ञानिक जानकारी का उपयोग किया जा सकता है। भाषा के बौद्धिक पक्ष अर्थात अर्थ का संबंध विचार से है। इसलिए शब्दों के अर्थ-निर्धारण, अर्थ-भिन्नता, अर्थ-परिवर्तन जैसे विषयों के विवेचन में मनोविज्ञान की सहायता ली जा सकती है।

ऐसा अध्ययन, जिसमें मनोविज्ञान एवं भाषाविज्ञान एक-दूसरे के सहायक हों मनोवैज्ञानिक भाषाविज्ञान (Psycho-linguistics) कहलाता है।

भाषाविज्ञान एवं समाजशास्त्र

भाषाविज्ञान का समाजशास्त्र से पर्याप्त संबंध है। समाजशास्त्र, मनुष्य का सामाजिक परिवेश में अध्ययन करता है। समाजशास्त्र में उन समस्त सामाजिक रूपों, परिस्थितियों एवं संस्थाओं का अध्ययन किया जाता है जो मनुष्य की जीवन-

पद्धति को प्रभावित करती हैं। भाषा एक सामाजिक संस्था है जो मनुष्य के संपूर्ण सामाजिक जीवन का आधार है। इसलिए समाजशास्त्र के लिए भाषा के अध्ययन की बहुत अधिक उपयोगिता है। बहुत से सामाजिक तथ्यों का पता भाषा के द्वारा ही लग पाता है। उदाहरणार्थ आर्यों के सामाजिक जीवन संबंधी बहुत-सी जानकारी आर्यों की भाषा से ही प्राप्त हुई है।

जैसे समाज के अध्ययन में भाषा संबंधी जानकारी उपयोगी सिद्ध होती है वैसे ही भाषा के अध्ययन में समाजशास्त्रीय अध्ययन से सहायता प्राप्त होती है। किसी भी जाति की सामाजिक रचना एवं संस्कृति को समझे बिना, उस जाति की भाषा का पूरा अध्ययन नहीं किया जा सकता। उदाहरणार्थ 'प्रेम' शब्द का जो अर्थ भारतीय समाज में है, अंग्रेजी का 'लव' (love) शब्द उस अर्थ को पूर्ण रूप से अभिव्यक्त नहीं कर पाता। भारतीय संस्कृति को समझे बिना प्रेम, श्रद्धा, भक्ति जैसे शब्दों के अर्थ को पूर्ण रूप से ग्रहण नहीं किया जा सकता।

भाषाविज्ञान एवं शिक्षाशास्त्र

शिक्षा, विशेषकर भाषा की शिक्षा के भाषाविज्ञान का निकट संबंध है। यह निर्णय करना भाषावैज्ञानिक का ही कार्य है कि भाषा में 'कब', 'क्या' सिखाया जाय। भाषा की पाठ्य एवं सहायक पुस्तकों की रचना, व्याकरण का निर्माण, वर्तनी का निर्द्धारण, लिपि का निर्माण एवं सुधार आदि शिक्षा के कुछ ऐसे विषय हैं जिनमें भाषा विज्ञान के अनिवार्य रूप से सहायता ली जानी चाहिए। किस अवस्था में कितनी और कौन-सी भाषाएं सिखलाई जायं, इसका निर्णय भी राजनीतिज्ञों को नहीं, भाषा वैज्ञानिकों को करना चाहिए।

मातृभाषा के सिवाय अन्य भाषाओं के सिखलाने में तो भाषा वैज्ञानिक जानकारी और भी उपयोगी सिद्ध हो सकती है। भाषा वैज्ञानिक जानकारी एवं यंत्रों की सहायता से बड़े थोड़ समय में बहुत उत्तम ढंग से विदेशी भाषा की शिक्षा दी जा सकती है।

इस प्रकार भाषा की शिक्षा में भाषा विज्ञान सहायक सिद्ध होता है।

भाषाविज्ञान एवं अन्य शास्त्र

उपर्युक्त विज्ञानों एवं शास्त्रों के अतिरिक्त भाषा विज्ञान का अन्य विज्ञानों शास्त्रों से संबंध है।

ध्वनियों का संबंद्ध उच्चारण अंगों एवं श्रवण अंगों से है। इसलिए ध्वनियों के अध्ययन में 'शरीर विज्ञान' से भी सहायता लेनी पड़ती है। वैसे ही उच्चारण की त्रुटियों (Speech defects) को समझने एवं सुधारने में भाषा विज्ञान से सहायता ली जा सकती है। 'उच्चारण उपचार' (Speech Therapy) अध्ययन की वह शाखा है जिसमें भाषा विज्ञान एवं शरीर विज्ञान के अध्ययन-क्षेत्र मिलते हैं।

उच्चारण के पश्चात ध्वनियां वायु तरंगों की सहायता से प्रसारित होकर दूसरे व्यक्ति के कान तक पहुंचती हैं। वायु-तरंगों एवं ध्वनि के परस्पर प्रभाव का अध्ययन 'पदार्थ विज्ञान' के अंतर्गत होता है। ध्वनियों के तरंगात्मक (Acoustic) एवं प्रायोगिक (Experimental) अध्ययन में भाषा विज्ञान से सहायता लेनी पड़ती है। इस प्रकार भाषा विज्ञान का संबंध पदार्थ विज्ञान से भी है।

'भूगोल' तथा 'भूशास्त्र' से भी भाषा विज्ञान का अच्छा संबंध है। भाषा विज्ञान के अध्ययन का एक विषय 'भाषा-भूगोल' भी है। अध्ययन में भाषा के भौगोलिक वितरण, भौगोलिक परिस्थितियों के कारण हुए भाषाई परिवर्तन किसी भाषा का बोलियों में विभाजन तथा उन बोलियों का परस्पर भौगोलिक संबंध आदि विषयों का विवेचन होता है। इन विषयों के अध्ययन में भाषाविज्ञान भूशास्त्र से सहायता लेता है। ऐसे ही भाषा में प्राप्त शब्दों के द्वारा कितने ही भौगोलिक तथ्यों का पता लगता है। 'पंजाब' शब्द से ही तो यह भौगोलिक जानकारी प्राप्त होती है कि इस स्थान पर पाँच नदियां स्थित हैं।

भाषा का संबंध 'प्रजातीय विज्ञान' (Ethnology) से भी पड़ता है। प्रजातीय विज्ञान का संबंध मनुष्य के सामाजिक विकास से है। जातियों एवं जन जातियों के अध्ययन में भाषा विज्ञान एवं प्रजातीय विज्ञान एक दूसरे के लिए सहायक सिद्ध होते हैं। इन दोनों के सम्मिलित अध्ययन का नाम 'प्रजातीय भाषा विज्ञान' (Ethno-linguistics) है।

'संचार विज्ञान' अथवा 'संचार प्राविधि' (Communication Engineering) भाषा के संचार अर्थात प्रसार का विज्ञान है। भाषा विज्ञान द्वारा जो भाषा की व्यवस्थित जानकारी प्राप्त होती है, उसका प्रयोग संचार-विज्ञान में किया जाता है। इस प्रकार भाषा विज्ञान एवं संचार-विज्ञान का आपस में संबंध है।

भाषाविज्ञान का संबंध 'दर्शनशास्त्र' से भी हैं। दर्शनशास्त्र में विचार का अध्ययन किया जाता है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि भाषा एक प्रकार का 'व्यक्त विचार' है, इसलिए भाषाविज्ञान एवं दर्शनशास्त्र में निकट का संपर्क है। भाषा के बौद्धिक पक्ष अर्थात अर्थ का संबंध विचार से है। अर्थ विवेचन में दर्शनशास्त्र की सहायता लेनी पड़ती है। वैसे ही भाषा विज्ञान द्वारा प्रस्तुत अर्थ संबंधी जानकारी का प्रयोग दर्शनशास्त्र में किया जाता है।

इस प्रकार से देखा जाय तो भाषाविज्ञान का संबंध प्रायः ज्ञान की समस्त शाखाओं से है।

२.७ भाषाविज्ञान के अध्ययन की उपयोगिता अथवा लाभ

सामान्य रूप से कला का उद्देश्य मनुष्य की भावात्मक तृषा एवं विज्ञान का उद्देश्य उसकी ज्ञानात्मक उत्कंठा को तृप्त करना है। इसलिए प्रत्येक विज्ञान का मुख्य हेतु केवल मनुष्य की जिज्ञासा को शांत करना होता है। उसके अन्य समस्त हेतु अथवा लाभ, उससे प्राप्त जानकारी का उपयोग करने से ही प्राप्त होते हैं। उदाहरणार्थ गणित-विज्ञान का उद्देश्य मनुष्य के ज्ञान की वृद्धि करना है। आज गणित-विज्ञान से प्राप्त जानकारी का प्रयोग कर अनेक लाभ उठाए जा रहे हैं।

उसी प्रकार भाषाविज्ञान के अध्ययन का मुख्य उद्देश्य मनुष्य की भाषा-संबंधी उत्कंठा को तृप्त करना है। यों भाषाविज्ञान द्वारा प्रस्तुत भाषा संबंधी व्यवस्थित जानकारी का विभिन्न क्षेत्रों में प्रयोग कर, उससे अनेक लाभ उठाए जा रहे हैं। इसे ही भाषाविज्ञान के लाभ अथवा उसकी उपयोगिता कहा जा सकता है। इस प्रकार भाषाविज्ञान के अध्ययन से कई लाभ होते हैं जिनमें से कुछ का यहाँ वर्णन किया जाता है।

(१) भाषा मनुष्य के दैनिक व्यवहार की वस्तु है किंतु वह अत्यंत चकित करनेवाली वस्तु है। भाषा की व्यवस्थित जानकारी से मनुष्य की भाषा संबंधी जिज्ञासा शांत होती है।

(२) भाषा की वैज्ञानिक जानकारी से प्राचीन इतिहास पर जोर पड़ता है। जैसे भारोपीय भाषा की जानकारी से आर्यों के प्राचीन इतिहास की प्रामाणिक जानकारी प्राप्त होती है।

(३) भाषा की वैज्ञानिक जानकारी से किसी जाति की संस्कृति को समझने में सहायता मिलती है। आर्यों की प्राचीन संस्कृति की बहुत-सी जानकारी, आर्यों की भाषा के माध्यम से ही प्राप्त हुई है।

(४) भाषाविज्ञान का कई मानवीय एवं भौतिक विज्ञानों से संबंध है। भाषाविज्ञान के अध्ययन से उन विज्ञानों को समझने में सहायता मिलती है। विशेषकर मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, शिक्षाशास्त्र, इतिहास आदि का तो भाषाविज्ञान से निकट का संबंध है। यों शरीर-विज्ञान, संचार-प्राविधि (Communication Engineeering) से भी उसका संबंध है। इसलिए आजकल जन-जातियों के अध्ययन; मानसिक रोगियों के परीक्षण; उच्चारणगत दोषों के निवारण आदि में भाषावैज्ञानिकों से सहायता ली जाती है। भाषा पर आधारित राज्य-गठन ने भाषावैज्ञानिक को राजनीति से भी जोड़ दिया है। भाषागत सीमा-विवादों को निपटाने के लिए आजकल भाषावैज्ञानिकों की सहायता ली जा रही है। राष्ट्रभाषा, संबंध भाषा या राज्य-भाषा अथवा शिक्षा के माध्यम की भाषा जैसे प्रश्न राजनीति के प्रश्न होने पर भी भाषाविज्ञान से जुड़े हुए हैं। ऐसी कई राजनैतिक समस्याएं भाषाविज्ञान की सहायता से सुलझाई जा सकती हैं।

(५) विदेशी भाषाओं को सीखने में भाषावैज्ञानिक से बहुत अधिक सहायता मिलती है। विदेशी भाषा सीखना कितना श्रमसाध्य है, इसका अनुमान इस बात से किया जा सकता है कि स्कूलों में १०-१२ वर्ष अंग्रेजी का अध्ययन करने पर भी साधारणतया भारतीय बालक में इतनी योग्यता नहीं होती कि वह अंग्रेजी के चार वाक्य शुद्ध लिख सके अथवा बोल सके। भाषा वैज्ञानिक पद्धति से, प्रयोगशाला की सहायता से यदि विदेशी भाषा सिखाई जाय तो ६ सप्ताहों के अभ्यास से विद्यार्थी इतनी योग्यता प्राप्त कर सकता है कि वह उस विदेशी भाषा में बड़ी सरलता एवं सहजता से वार्तालाप कर सके।

(६) भाषावैज्ञानिक जानकारी का एक लाभ शिक्षा के क्षेत्र में लिया जा सकता है। इस जानकारी के आधार पर भाषा संबंधी पाठ्य-पुस्तकों के तैयार करने में बड़ो सहाता मिलतो है। उदाहरणार्थ विद्यालयों में पहले दिन से 'क' 'ख' आदि वर्णों के लिखने से पढ़ाई आरंभ होती है। भाषाविज्ञान का यह माना हुआ तथ्य है कि सीखने की चार अवस्थाएं क्रम से 'सुनना', 'बोलना', 'पढ़ना' एवं 'लिखना' हैं अर्थात 'लिखना' अंतिम अवस्था है उसी से भाषा सीखने का आरंभ किया जाता है। फ़िर यह भी एक तथ्य है कि कंठ से निकलनेवाली ध्वनियों (प, फ आदि) से अधिक श्रम-साध्य होती हैं इसलिए भाषा सिखाते समय आरंभ प, फ से करना चाहिए न कि क, ख से।

(७) प्राचीन साहित्य के समझने एवं उसकी प्रामाणिकता को परखने में भाषावैज्ञानिक जानकारी उपयुक्त होती हैं। जब यह ज्ञात हो गया कि प्राचीन काल की मूर्धन्य ध्वनि 'ष' का उच्चारण मध्यकाल तक पहुंचते-पहुंचते कई स्थितियों में 'ख' हो गया, तब कबीर आदि मध्यकालीन कवियों में लिखित 'ष' का 'ख' उच्चारण कर उसके सही पाठ समझने में सुविधा प्राप्त हुई। वैसे ही पृथ्वीराज रासो आदि रचनाओं की प्रामाणिकता में सबसे बड़ा संदेह, भाषा के आधार पर उत्पन्न हुआ है। इन रचनाओं की भाषा-रचना, उस काल की भाषा के अनुरूप दिखाई नहीं पड़ती।

(८) आज का युग यंत्र-युग है। जीवन के अनेक क्षेत्रों में यंत्रों का प्रयोग हो रहा है। इनमें से कई यंत्रों का संबंध भाषा से है। ऐसे यंत्रों के निर्माण में, भाषावैज्ञानिक जानकारी से सहायता प्राप्त होती है। टंकण यंत्र, अनुवाद की मशीनें, तथा संचार के अन्य यंत्रों के निर्माण में भाषाविज्ञान की सहायता आवश्यक है।

(९) ऐसी भाषाएं जिनकी कोई लिपि नहीं हैं, उनकी लिपि का निर्माण करने के लिए उस भाषा की वैज्ञानिक जानकारी अत्यंत उपयोगी सिद्ध होती है। वैसे ही भाषा की वैज्ञानिक जानकारी के आधार पर लिपि में आवश्यक सुधार संभव होता है। उदाहरणार्थ देवनागरी लिपि में आज यदि सुधार करने का विचार किया जाय तो वह हिंदी भाषा की संरचनात्मक जानकारी के आधार पर ही किया जा सकता है।

(१०) भाषा की वैज्ञानिक जानकारी से सबसे बड़ा लाभ यह होता है कि भाषा संबंधी अहं भाव नहीं रहता। भाषाविज्ञान के अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि न तो कोई भाषा देववाणी है और न ही कोई दैत्यवाणी; न कोई भाषा ऊंच है और न कोई नीच; न तो कोई भाषा मधुर होती है न कोई कटु। प्रत्येक भाषा अपने आप में ऐसी सामर्थ्य रखती है कि उसके बोलनेवाले उसके माध्यम से अपने विचार सरलतापूर्वक अभिव्यक्त कर सकते हैं। भाषाविज्ञान के अध्ययन से भाषा संबंधी अनेक पूर्वाग्रह एवं दुराग्रह समाप्त हो जाते हैं। कहना न होगा कि आज भारत में भाषाविज्ञान के अध्ययन की बहुत अधिक आवश्यकता है। भाषाविज्ञान का अध्ययन न केवल भाषाई कटुता को दूर करने में सहायक सिद्ध हो सकता है, वरन् उससे राष्ट्र की भावात्मक एकता में भी सहायता मिल सकती है।

२.८ भाषावैज्ञानिक अध्ययन का इतिहास

मनुष्य एक विचारशील एवं तर्कशील प्राणी है। अपने आसपास के समस्त पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करने की उसमें बलवती इच्छा रहती है। भाषा के अध्ययन के पीछे भी उसकी यही उत्कंठा विद्यमान है।

भाषा के अध्ययन का इतिहास बहुत पुराना है। भाषा का अध्ययन एक प्रकार से जातियों एवं देशों के सांस्कृतिक विकास से जुड़ा हुआ है। जिन देशों की भाषाएं विकसित; साहित्य समृद्ध एवं संस्कृति उच्च रहा है, उन देशों में भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन भी अधिक हुआ हैं। यों तो चीन, जापान, अरबस्तान आदि देशों में भी भाषावैज्ञानिक कार्य हुआ है किंतु भारत एवं योरोप इस अध्ययन के केंद्र रहे हैं। यहां भारत एवं यूरोप में हुए भाषावैज्ञानिक अध्ययन का संक्षिप्त विवरण दिया जा रहा है।

२.८.१ भारत में भाषावैज्ञानिक अध्ययन

भाषावैज्ञानिक अध्ययन की दृष्टि से भारत का स्थान संसार के समस्त देशों में प्रमुख है। भारत में हुए इस अध्ययन की प्राचीनता का स्पष्ट प्रमाण है वैदिक साहित्य (जो संसार का प्राचीनतम साहित्य है) में ऐसा उल्लेख है कि देवताओं ने इंद्र से यह निवेदन किया कि वे उनकी वाणी को खंडों में विभाजित कर दें। वैदिक साहित्य का समय ई० पूर्व १५वीं शताब्दी से भी पहले का माना जाता है।

भारत में हुए भाषावैज्ञानिक अध्ययन को दो कालों—प्राचीनकाल एवं आधुनिककाल—से विभाजित किया जा सकता है। प्राचीन अध्ययन मुख्य रूप से व्याकरणिक है तथा आधुनिक काल के अध्ययन का आधार आधुनिक भाषा-विज्ञान है। प्राचीन काल का अध्ययन मुख्य रूप से प्राचीन एवं मध्यकालीन आर्यभाषाओं के अध्ययन तक सीमित है। आधुनिक काल का अध्ययन प्रर्याप्त मात्रा में विस्तृत है। उसमें न केवल प्राचीन एवं तत्कालीन भाषाओं का अध्ययन हुआ है, वरन् भाषा से संबद्ध अनेक विषयों का विवेचन हुआ है।

प्राचीन अध्ययन

अध्ययन की सुविधा के लिए इस अध्ययन को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है: प्राचीन भाषाओं का अध्ययन एवं मध्यकालीन भाषाओं का अध्ययन।

प्राचीन भाषाओं का अध्ययन :

प्राचीन भाषाओं के अध्ययन को तीन काल-खंडों में विभाजित किया जा सकता है।

(क) पाणिनि से पूर्व का अध्ययन।
(ख) पाणिनिकालीन अध्ययन।
(ग) पाणिनि के पश्चात का अध्ययन।

(क) पाणिनि से पूर्व का अध्ययन :

पाणिनि से पूर्व का अध्ययन ब्राह्मण ग्रंथों से आरंभ होता है। ये ग्रंथ वेदों के पश्चात् रचे गए थे। ऐतरेय ब्राह्मण इस दृष्टि से मुख्य है। इन ग्रंथों में भाषा को खंडों में विभाजित करने तथा शब्दों के अर्थ समझाने का प्रयत्न किया गया है।

ब्राह्मण ग्रंथों के पश्चात 'पदपाठ' की पद्धति आरंभ हुई। इस पद्धति में वेद-वाक्य; पदों में विभाजित किये गए। इस विभाजन में संधि, समास, स्वराघात आदि पर ध्यान दिया गया।

भाषा का अधिक भाषावैज्ञानिक अध्ययन प्रातिशाख्यों एवं शिक्षाग्रंथों में मिलता है। प्रातिशाख्यों में वैदिक संहिताओं के उच्चारण को सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया गया है। इस कारण इनमें उच्चारण से संबद्ध विषयों, यथा ध्वनियों का वर्गीकरण, उच्चारण, मात्र, स्वराघात आदि की चर्चा है। इसके साथ ही प्रातिशाख्यों में शब्द-भेदों (नाम, आख्यात, उपसर्ग आदि) की भी चर्चा है। शिक्षाग्रंथों का संबंध भी मुख्य रूप से ध्वनि विवेचन से है।

वैदिक शब्दावली को सुरक्षित रखने के लिए उनका संग्रह किया गया जिन्हें निघंटु कहते हैं। निघंटु वैदिक शब्दों का कोश है।

पाणिनि पूर्व के भाषा अध्ययन में सबसे महत्त्वपूर्ण है 'यास्क' रचित 'निरुक्त'। निरुक्त का आधार निघंटु है। निघंटु में केवल शब्दों का संग्रह है, उनके अर्थ का विवेचन नहीं है। निरुक्त में, निघंटु के शब्दों के अर्थ का विवेचन किया गया है। वैदिक संहिता से प्रयोग के उदाहरण देकर उनके अर्थ को स्पष्ट किया गया है। 'निरुक्त' संभवतः विश्व का ऐसा सर्वप्रथम ग्रंथ है जिसमें अर्थ का ऐसा सूक्ष्म एवं विशद् विवेचन है। अर्थ विवेचन के अतिरिक्त निरुक्तकार ने भाषा की उत्पत्ति, रचना, शब्द एवं अर्थ का संबंध, शब्द-भेद आदि विषयों पर भी प्रकाश डाला है। पाणिनि ने जिस धातु सिद्धांत का प्रतिपादन किया था,

उसका संकेत यास्क ने ही किया था। यों तो पाणिनि से पूर्व के कुछ अन्य वैयाकरणों यथा आपिशलि, काशकृत्स्न, इंद्र आदि का उल्लेख भी मिलता है किंतु वे इतने प्रसिद्ध नहीं हुए।

(ख) पाणिनि कालीन अध्ययन

इसके पश्चात पाणिनि का आविर्भाव होता है। जिन्होंने संस्कृत भाषा का विवेचन करते हुए 'अष्टाध्यायी' की विस्मयकारी रचना की।

पाणिनि का जन्म भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश, गांधार के शालातुर नामक स्थान पर हुआ था। उनका समय ई० पूर्व ५वीं शताब्दी के आसपास माना जाता है।

पाणिनि निस्संदेह विश्व के सर्वश्रेष्ठ भाषावैज्ञानिक थे, जिन्होंने संस्कृत जैसी जटिल भाषा का वैज्ञानिक पद्धति से, सूत्र रूप में वर्णन किया है। यह वर्णन इतना पूर्ण, संक्षिप्त एवं तर्कपूर्ण है कि आधुनिक भाषावैज्ञानिक भी इसका लोहा मानते हैं।

अष्टाध्यायी में आठ अध्याय हैं; प्रत्येक अध्याय में चार पाद और प्रत्येक पाद में कई सूत्र हैं। कुल सूत्रों की संख्या चार हजार के लगभग है। इन चार हजार सूत्रों का आधार चौदह मुख्य सूत्र हैं, जिन्हें माहेश्वर सूत्र कहते हैं। मात्र चौदह सूत्रों में संस्कृत जैसी भाषा का संपूर्ण वर्णन प्रस्तुत करना सही अर्थों में बुद्धि के चमत्कार का ज्वलंत उदाहरण है। अष्टाध्यायी की मुख्य विशेषताएं हैं— ध्वनियों के निर्माण एवं वर्गीकरण का वर्णन; शब्दों का सुबंत एवं तिङ्न्त वर्गों में विभाजन; समस्त शब्दों को मूल धातु से जोड़ना; मूल इकाई के रूप में वाक्य की मान्यता।

पाणिनि काल में ही **कात्यायन एवं पतंजलि** की भी गणना की जानी चाहिए। यों उनका समय पाणिनि के कुछ बाद का है किंतु इनके कार्य का आधार पाणिनि की अष्टाध्यायी ही है।

कात्यायन का समय ई० पूर्व २–३ शताब्दी माना जाता है। कात्यायन ने 'वार्तिक' में पाणिनि के सूत्रों की विवेचना की एवं उनके दोष दिखलाने का प्रयत्न किया।

पतंजलि ने, जिसका समय ई० पूर्व १५० के आसपास माना जाता है, 'महाभाष्य' की रचना की। महाभाष्य का उद्देश्य कात्यायन के इस विचार

का खंडन करना था कि पाणिनि के सूत्रों में कोई दोष है। पतंजलि नें कात्यायन की उठाई हुई शंकाओं का उत्तर देने के साथ-साथ पाणिनि के कठिन सूत्रों की व्याख्या भी प्रस्तुत की।

पाणिनि, कात्यायन एवं पतंजलि को 'मुनित्रय' कहा जाता है। इन तीनों महान वैयाकरणों ने संस्कृत भाषा के अध्ययन को पूर्णता प्रदान की है।

(ग) पाणिनि के पश्चात का अध्ययन

प्राचीन भाषा, संस्कृत के अध्ययन की परंपरा यद्यपि पाणिनि काल के पश्चात भी बराबर चलती रही किंतु पाणिनि काल के पश्चात् किसी मौलिक वैयाकरण का प्रायः अभाव-सा रहा। परवर्ती वैयाकरण मुख्य रूप से टीकाकार थे, जिनका कार्य अष्टाध्यायी की टीका तक ही सीमित है। इन टीकाकारों में मुख्य थे काशिकाकार, जयादित्य एवं **वामन** तथा वाक्य-पदीयकार **भर्तृहरि**। टीकाओं के अतिरिक्त अष्टाध्यायी के स्पष्टीकरण के लिए कौमुदियों की रचना भी हुई। कौमुदीकारों में प्रसिद्ध हैं—'रूपमाला' के लेखक **विमल सरस्वती** तथा सिद्धांत कौमुदीकार भट्टोजि दीक्षित।

मध्यकालीन भाषाओं का अध्ययन

(य) पालि का अध्ययन

मध्यकालीन आर्य-भाषाओं के रूप में पालि, प्राकृत एवं अपभ्रंश भाषाओं का उल्लेख किया जाता है।

पालि के अध्ययन से संबद्ध तीन वैयाकरण प्रसिद्ध हैं; ये हैं—**कच्चायन, मोग्गलायन,** अग्गवंस। कच्चायन की रचना **'कच्चायन व्याकरण'** है। विमलवुद्धि द्वारा की गई कच्चायन की टीका बहुत प्रसिद्ध है। कच्चायन का समय ई० की ८वीं, ९वीं, शताब्दी के आसपास माना जाता है।

मोग्गलायन का समय १२वीं शताब्दी के निकट का है। इनकी प्रसिद्ध रचना **'मोग्गलायन व्याकरण'** है। मोग्गलायन ने स्वयं भी उस व्याकरण की टीका लिखी थी। इसके सिवाय कुछ दूसरी टीकाएं भी इस ग्रंथ पर लिखी गईं।

अग्गवंस का समय भी १२ शताब्दी माना जाता है। उनकी रचना है **'सिद्धनीति'**। यह रचना भारत की अपेक्षा बर्मा एवं लंका में अधिक प्रचलित है।

(र) प्राकृत एवं अपभ्रंश का अध्ययन

प्राकृत भाषाओं के अध्ययन से संबद्ध प्राचीनतम रचना वररुचि द्वारा रचित 'प्राकृत प्रकाश' है। वररुचि का समय ५वीं शताब्दी के आसपास माना जाता है। प्राकृत प्रकाश में विभिन्न प्राकृत भाषाओं का वर्णन है। महाराष्ट्री प्राकृत का वर्णन अधिक विस्तार से किया गया है।

प्राकृत पर लिखी अन्य प्रसिद्ध रचनाएं हैं—हेमचंद्र द्वारा रचित 'सिद्ध हेमचंद्र' (१२वीं शताब्दी) त्रिविक्रम द्वारा लिखित 'प्राकृत व्याकरण' (१३वीं शताब्दी), एवं मारकंडेय द्वारा रचित 'प्राकृत सर्वस्व' (१७वीं शताब्दी)। इनमें से हेमचंद्र की रचना में प्राकृत भाषाओं के साथ अपभ्रंश का भी विवेचन मिलता हैं। अपभ्रंश पर लिखी स्वतंत्र रचना का अभाव है। अपभ्रंश का विवेचन प्रायः प्राकृत भाषाओं के साथ ही मिलता है। अपभ्रंश का सबसे विस्तृत वर्णन हेमचंद्र की रचना 'सिद्ध हेमचंद्र शब्दानुशासन में, मिलता है।

(ल) अन्य

उपर्युक्त वैयाकरणों के अतिरिक्त साहित्याचार्यों, मीमांसकों एवं नैयायिकों ने अपनी रचनाओं में ध्वनि, शब्द-शक्ति आदि का विवेचन किया है। इस संदर्भ में ध्वन्यालोक, साहित्य-दर्पण, काव्य-प्रकाश, शब्द-शक्ति-प्रकाशिका आदि ग्रंथों का नाम लिया जा सकता है।

आधुनिक अध्ययन

जैसे साहित्य की नवीन प्रवृत्तियों का श्रेय यूरोप एवं यूरोपीय संस्कृत के संपर्क को दिया जाता है, वैसे ही आधुनिक भाषावैज्ञानिक अध्ययन का श्रेय भी यूरोपीय विद्वानों को है। इन विद्वानों ने आधुनिक भाषाविज्ञान के सिद्धांतों का प्रयोग करते हुए प्राचीन, मध्यकालीन एवं आधुनिक (आर्य एवं आर्येतर) भाषाओं का अध्ययन किया है। आधुनिक अध्ययन का आरंभ १९वीं शताब्दी से आरंभ होता हैं। इन यूरोपीय विद्वानों में से प्रसिद्ध विद्वानों का परिचय यहां दिया जा रहा है।

बिशप काल्डवेल, जिन्होंने १८५६ में 'द्रविड़ भाषाओं का तुलनात्मक व्याकरण' प्रस्तुत किया।

जान बीम्स, जिन्होंने १८७२–१८७५ में अपनी प्रसिद्ध रचना 'भारतीय आर्य-भाषाओं का तुलनात्मक व्याकरण' प्रकाशित की।

१८७२ में ट्रंप ने 'सिंधी व्याकरण' की रचना की।

केलाग की रचना 'हिंदी भाषा का व्याकरण' १८७६ में प्रकाशित हुई।

हार्नली का पूर्वी भाषाओं एवं हिंदी का तुलनात्मक अध्ययन १८८० ई० में प्रकाशित हुआ।

ग्रियर्सन का नाम भारतीय भाषाओं का अध्ययन करनेवाले विद्वानों में सबसे अधिक प्रसिद्ध है। यों तो विहारी भाषा, पैशाची भाषा एवं कश्मीरी भाषा पर प्रकाशित इनकी रचनाएं भी प्रसिद्ध हैं, किंतु भाषावैज्ञानिक अध्ययन के क्षेत्र में इनकी अमर रचना है 'भारतीय भाषाओं का सर्वेक्षण'। यह महान एवं विशाल ग्रंथ ११ खंडों में है तथा इसमें भारत की भाषाओं एवं उनकी बोलियों की व्याकणात्मक संरचना का विशद विवेचन है।

टर्नर का 'नेपाली कोश' भी एक अद्वितीय रचना है, जिसमें नेपाली शब्दों की व्युत्पत्ति देने के साथ-साथ भारत की मुख्य भाषाओं के तुलनात्मक शब्द भी दिए गए हैं। टर्नर की सिंधी, गुजराती एवं मराठी पर भी महत्त्वपूर्ण रचनाएं प्रकाशित हुई हैं।

जूल ब्लाख की प्रसिद्ध रचनाएं हैं, 'मराठी की रचना' एवं 'भारतीय आर्य भाषाएं'।

आधुनिक भाषाविज्ञान के प्रकाशन में अनेक भारतीय विद्वानों ने भी कार्य किया है। इन विद्वानों में से कुछ प्रसिद्ध विद्वान हैं: डॉ० तारापोरवाला, डॉ० सुनीति कुमार चटर्जी, डॉ० सुकुमार सेन, डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा, बाबू श्यामसुंदर दास, डॉ० बाबूराम सक्सेना, डॉ० धीरेंद्र वर्मा, डॉ० एस. एम. कत्रे, डॉ० ए. एम. घाटगे, डा० पी. बी. पंडित, डॉ० मेहंदले, डॉ० उदयनारायण तिवारी, डॉ० पटनायक, डॉ० केलकर, डॉ० भ० कृष्णामूर्ति, हरदेव बाहरी, अगास्तिलिंगमपिल्लई आदि।

वास्तविकता यह है कि भारत में आधुनिक भाषाविज्ञान का अध्ययन-अध्यापन बहुत तेजी से बढ़ रहा है। कई विश्वविद्यालयों में भाषाविज्ञान के अलग विभाग स्थापित किए गए हैं। पूना एवं अन्नामलाई में भाषाविज्ञान के विशेष केंद्र हैं। मैसूर में भारतीय भाषाओं का केंद्रीय संस्थान स्थापित किया गया है। आगरा में भी के. एम. इंस्टीच्यूट काम कर रहा है। आज भारत की विभिन्न भारतीय भाषाओं पर अनेक विद्वान् कार्य कर रहे हैं, जिनका विवेचन स्थान सापेक्ष है, जिसकी यहां गुंजाइश नहीं है।

२.८.२ यूरोप में भाषावैज्ञानिक अध्ययन

यूरोप में हुए भाषावैज्ञानिक अध्ययन को काल-क्रम से दो कालों में विभाजित किया जा सकता है। सुविधा के लिए इन्हें प्राचीन काल एवं आधुनिक काल नाम दिए गए हैं। १९वीं शताब्दी से पूर्व के संपूर्ण अध्ययन को प्राचीन काल के अंतर्गत रखा जा सकता है। इस प्रकार से १९ वीं शताब्दी एवं उसके पाश्चात का अध्ययन ही आधुनिक काल में आता है।

प्राचीन काल

यूनानी दार्शनिकों ने जीवन से संबद्ध अनेक विषयों की चर्चा की थी। भाषा के विवेचन का आरंभ भी मुख्य रूप से उन्हीं से होता है। इस दृष्टि से यूरोप में हुए भाषावैज्ञानिक अध्ययन का आरंभ सुकरात से मानना चाहिए।

सुकरात ने ध्वनि-प्रतीक (अर्थात शब्द) एवं उससे अभिव्यक्त अर्थ के मध्य ऐच्छिक संबंध की स्थिति को स्वीकार किया था।

प्लेटो ने ध्वनियों के वर्गीकरण एवं वाक्य को विभाजित करने का प्रयत्न किया था।

अरस्तू ने इस दिशा में सबसे अधिक कार्य किया। उन्होंने ध्वनियों के वर्गीकरण को अधिक व्यवस्थित रूप प्रदान किया। अरस्तू ने शब्द-भेदों (संज्ञा, क्रिया आदि), व्याकरणिक कोटियों (लिंग, वचन आदि) तथा वाक्य के विभागों का भी विवेचन किया।

उपर्युक्त समस्त विद्वान ईसा से पूर्व हुए।

भाषावैज्ञानिक दृष्टि से विधिवत लिखा गया प्रथम व्याकरण, **थ्रैक्स** द्वारा रचित 'ग्रीक भाषा का व्याकरण' है जो ईसा की दूसरी शताब्दी के आसपास लिखा गया था।

ग्रीस (जहां की मुख्य भाषा ग्रीक थी) एवं रोम (जहाँ की मुख्य भाषा लैटिन थी) में संपर्क बढ़ा। इसके फलस्वरूप, ग्रीक के साथ लैटिन भाषा के अध्ययन की रुचि भी बढ़ी। १५ वीं शताब्दी के आसपास **लारेंस** नामक विद्वान ने लैटिन भाषा का एक सुंदर व्याकण लिखा।

ईसाई धर्म के प्रसार से बाईविल की भाषा, हिब्रू का भी अध्ययन होने लगा, साथ ही ग्रीक, लैटिन एवं हिब्रू के तुलनात्मक अध्ययन की नींव पड़ी।

इस प्रकार देखा जाय तो १८ वीं शताब्दी के अंत तक, यूरोप में हुए भाषावैज्ञानिक अध्ययन में वह विस्तार, गंभीरता एवं वैज्ञानिकता नहीं है

जो ईसा से ५ शताब्दियां पूर्व के भारतीय वैयाकरण पाणिनि एवं पाणिनि से भी पूर्व के भारतीय वैयाकरणों में मिलती है।

आधुनिक काल

यूरोप में हुए भाषावैज्ञानिक अध्ययन का आधुनिक काल १९वीं शताब्दी के आसपास आरंभ होता है। यह कहना अनुचित न होगा कि यूरोप में आधुनिक काल का आरंभ संस्कृत के अध्ययन एवं विवेचन से आरंभ होता है।

अध्ययन की प्रवृत्तियों एवं उसकी प्रकृति को ध्यान में रखकर आधुनिक काल को तीन चरणों में विभाजित किया जा सकता है।

(क) प्रथम चरण

प्रथम चरण का आरंभ १९वा शताब्दी के आरंभ से मानना चाहिए। इसका विस्तार मोटे रूप से १९ शताब्दी के मध्य तक है।

इस समय का आरंभ **सरविलियम जोन्स** से होता है जिन्होंने कलकत्ता में संस्कृत सीखने के पश्चात यह घोषणा की कि संस्कृत, ग्रीक, लैटिन आदि प्राचीन भाषाओं में बहुत अधिक समानता है। जोन्स की इस घोषणा से यूरोप के अन्य विद्वानों का इस ओर ध्यान आकर्षित हुआ तथा इस दिशा में अनेक विद्वानों ने महत्वपूर्ण कार्य किया।

इस समय के अत्यंत प्रसिद्ध विद्वान हैं श्लेगल, रास्क, ग्रिम, वॉप आदि।

श्लेगल ने 'भारतीय भाषा एवं बुद्धिमत्ता' पुस्तक लिखकर, यूरोप में संस्कृत एवं भारतीय ज्ञान की महत्ता को स्थापित किया। श्लेगल ने ही तुलनात्मक व्याकरण, ध्वनि-परिवर्तन की नियमितता, भाषाओं की समानता एवं भिन्नता (वर्गीकरण) आदि विषयों की चर्चा की।

रास्क ने आइसलैंडिक भाषाओं का व्याकरण लिखा, जो उस समय का आदर्श व्याकरण समझा जाता था। रास्क ने भाषाओं के वर्गीकरण का अधिक विवेचन किया तथा संस्कृत एवं द्रविड़ भाषाओं की पूर्ण भिन्नता पर प्रकाश डाला।

ग्रिम, जर्मन विद्वान थे। जर्मन भाषा का लिखा हुआ उनका व्याकरण अत्यंत प्रसिद्ध है। ग्रिम ने ही जर्मन भाषा में हुए ध्वनि-परिवर्तनों का विवेचन किया जिन्हें आगे चलकर 'ग्रिम-नियम' की संज्ञा दी गई।

फ्रांस वॉप उस समय के सबसे अधिक प्रसिद्ध विद्वान हैं। वॉप को तुलनात्मक भाषाविज्ञान का पिता माना जाता है। वॉप ने संस्कृत, लैटिन, ग्रीक

आदि प्राचीन भाषाओं का तुलनात्मक व्याकरण प्रस्तुत किया। बॉप ने भाषाओं के वर्गीकरण को नया रूप प्रदान किया।

इस समय के भाषावैज्ञानिक अध्ययन की निम्नलिखित सामान्य प्रवृत्तियां दृष्टिगोचर होती हैं :

इस युग में संस्कृत भाषा के अध्ययन का विशेष महत्व रहा। संस्कृत के अतिरिक्त अन्य प्राचीन भाषाओं—लैटिन, ग्रीक आदि का भी अध्ययन हुआ। तुलनात्मक अध्ययन का आरंभ हुआ। तुलनात्मक अध्ययन के फलस्वरूप भाषाओं के वर्गीकरण का कार्य अधिक व्यवस्थित रूप से हुआ। भाषा-परिवर्तन, विशेष कर ध्वनि-परिवर्तन का दिशा-निर्देश किया गया।

(ख) द्वितीय चरण

द्वितीय चरण का आरंभ १९वीं शताब्दी के मध्य से होता है। १९वीं शताब्दी के अंत तक इसका विस्तार माना जा सकता है।

इस समय के प्रसिद्ध विद्वान थे : रैप, श्लाइखर, मैक्समूलर, ग्रासमैन, वर्नर, अस्कोली आदि।

रैप ने ध्वनियों का विस्तृत विवेचन किया। उन्होंने प्राचीन भाषाओं के साथ ही तत्कालीन अर्थात जीवित भाषाओं के अध्ययन की ओर भी ध्यान आकर्षित किया। ध्वनि एवं लिपि के संबंध के आधार पर रैप ने ध्वन्यात्मक अनुलेखन (जैसा उच्चार वैसा लेखन) का प्रयोग किया।

श्लाइखर ने यों तो अनेक भाषाओं विशेषकर सिलाविक, लिथुआनिन भाषाओं का विवेचन किया किंतु उनका सबसे महत्वपूर्ण कार्य था भारोपीय भाषा का पुनर्निर्माण करना।

मैक्समूलर का भाषाविज्ञान के क्षेत्र में सबसे महत्वपूर्ण कार्य है, भाषा-विज्ञान को लोकप्रिय बनाना तथा उसे विज्ञान के रूप में स्थापित करना। यों तो मैक्समूलर ने भाषा से संबद्ध विभिन्न विषयों की चर्चा की है किंतु उनका अर्थ-विवेचन महत्वपूर्ण है। मैक्समूलर भारत एवं भारतीय ज्ञान के प्रेमी थे। उन्होंने संस्कृत भाषा एवं नागरी लिपि की महत्ता को प्रतिपादित किया।

ग्रासमैन एवं **वर्नर** दोनों ही जर्मन विद्वान थे। इन दोनों विद्वानों ने जर्मन भाषा में हुए ध्वनि-परिवर्तन संबंधी ग्रिम-न्यिम के अपवादों को दूर करने के लिए नियम सुझाए जो आगे चलकर 'ग्रासमैन नियम' एवं 'वर्नर नियम' के नाम से प्रसिद्ध हुए।

अस्कोली प्रथम विद्वान थे जिन्होंने यह सिद्ध किया कि भारोपीय भाषा की समस्त विशेषताएं संस्कृत में सुरक्षित नहीं हैं। अस्कोली ने ही विद्वानों का ध्यान इस ओर आकर्षित किया कि भारोपीय भाषा की 'क' ध्वनि, उसकी कुछ शाखाओं में तो 'क' रही किंतु कुछ शाखाओं में स, श के रूप में विकसित हो गई। अस्कोली की इसी धारणा पर आगे चल भारोपीय परिवार में केंतुम एवं सतम समुदायों की स्थापना हुई।

उपर्युक्त विवेचन से इस समय की निम्नलिखित सामान्य प्रवृत्तियां दिखलाई पड़ती हैं।

इस समय में संस्कृत के महत्त्व में अपेक्षाकृत कमी आई। प्राचीन के साथ जीवित भाषाओं के अध्ययन की प्रवृत्ति जागृत हुई। भाषाविज्ञात को विज्ञान के रूप में स्थापित करने का प्रयत्न किया गया। भाषा एवं संस्कृति तथा भाषाविज्ञान एवं अन्य विज्ञानों के संबंध का विवेचन हुआ।

(ग) तृतीय चरण

इस चरण का आरंभ २०वीं शताब्दी के आरंभ से मानना चाहिए। **ब्रुगमैन** को इस चरण का प्रथम भाषावैज्ञानिक माना जा सकता है क्योंकि आगे चलकर भाषावैज्ञानिक अध्ययन में जिन नई प्रवृत्तियों का विकास हुआ, उनका सूत्रपात ब्रुगमैन में मिलता है। ब्रुगमैन ने भारोपीय भाषा के ऐसे विस्तृत व्याकरण की रचना की जो आधुनिक भाषाविज्ञान के सिद्धांतों पर आधारित है। उनका वाक्य-विवेचन भी अत्यत महत्वपूर्ण है।

इस समय के प्रसिद्ध भाषावैज्ञानिकों की एक लंबी सूची है। इन विद्वानों में से कुछ के नाम हैं: जेसपर्सन, स्वीट, ससूर, सपीर, ब्लूमफील्ड, हैरिस, हाकेट, नाइडा, ग्लीसन, पाईक, फर्थ, उल्लमन, डेन्यल जोन्स, याकोबसन, वांद्रिय, स्ट्रूटवां, हर्निग्ससवाल, चामस्की आदि।

इस युग में भाषाविज्ञान के अध्ययन का बहुत विस्तार हुआ है। इस समय में अनेक नई विचार-धाराओं एवं नई प्रवृत्तियों का उदय हुआ है। इस समय की कुछ मुख्य प्रवृत्तियां ये हैं।

इस समय में वर्णनात्मक भाषाविज्ञान का प्रचार खूब बढ़ा है। प्राचीन भाषाओं के अध्ययन को प्रश्रय दिया जा रहा है। ध्वनि, रूप, वाक्य, अर्थ— भाषा के समस्त पहलुओं पर कार्य हो रहा है। ध्वनियों के अध्ययन में विभिन्न यंत्रों का उपयोग होने लगा है। भाषाविज्ञान के अध्ययन में अन्य विज्ञानों

(यथा मनोविज्ञान, गणित, पदार्थविज्ञान आदि) से सहायता ली जाने लगी है तथा भाषावैज्ञानिक जानकारी का उपयोग विभिन्न क्षेत्रों में किया जाने लगा है। भाषा के ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक अध्ययन को अधिक व्यवस्थित एवं वैज्ञानिक बनाया गया है। भाषाविज्ञान के अध्ययन से संबद्ध विभिन्न विचार-धाराओं—यथा, लंडन स्कूल, अमेरीकन स्कूल, प्राग स्कूल—का उदय हुआ है। आज भाषाविज्ञान को एक विशिष्ट विज्ञान का स्थान प्राप्त हो चुका है तथा उसका अध्ययन अत्यंत उपयोगी एवं महपूर्ण समझा जाने लगा है।

स्मरण-संकेत

२.१ भाषा के व्यवस्थित ज्ञान को भाषाविज्ञान कहते हैं।

२.२ भाषा के अध्ययन के लिए अनेक नाम प्रचलित हैं किंतु उन सबमें सबसे अधिक प्रचलित नाम भाषाविज्ञान है।

२.३ भाषाविज्ञान, एक प्रकार का सामाजिक विज्ञान है। उसमें विज्ञान की नियमितता भी है तो कला की उपयोगिता भी।

२.४ भाषाविज्ञान के मुख्य विभाग हैं : अर्थ-विज्ञान, वाक्य-विज्ञान, रूप-विज्ञान, ध्वनि-विज्ञान, रूप-ध्वनिग्रामविज्ञान एवं शब्द-विज्ञान।

२.५ भाषाविज्ञान के अध्ययन की मुख्य पद्धतियां हैं—वर्णनात्मक पद्धति, ऐतिहासिक पद्धति, तुलनात्मक पद्धति एवं व्यावहारिक अथवा प्रायोगिक पद्धति।

२.६ भाषाविज्ञान का साहित्य, व्याकरण, इतिहास, मनोविज्ञान, समाज-शास्त्र एवं शिक्षा शास्त्र से निकट का संबंध है। उसका शरीर विज्ञान पदार्थ-विज्ञान, भू-शास्त्र प्रजातीय-विज्ञान, संचार विज्ञान एवं दर्शन-शास्त्र से भी संबंध है।

२ ७ भाषाविज्ञान के अध्ययन का मुख्य उद्देश्य भाषा संबंधी ज्ञान प्राप्त करना है। यों भाषा के अध्ययन से आज-कल अनेक लाभ होते हैं।

२.८ भाषा के अध्ययन का इतिहास बहुत पुराना है। भारत एवं यूरोप इस अध्ययन के मुख्य केंद्र रहे हैं। भारत में भाषावैज्ञानिक अध्ययन का आरंभ वैदिक वाङ्मय से होता है। पाणिनि विश्व के प्रथम भाषावैज्ञानिक माने जा सकते हैं। भारत में आधुनिक भाषावैज्ञानिक अध्ययन का आरंभ यूरोपीय विद्वानों से होता है। यूरोप में भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन का आरंभ सुकरात से होता है। यूरोप में भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन का आधुनिक काल संस्कृत के अध्ययन-विवेचन से आरंभ होता है। आज भाषावैज्ञानिक अध्ययन में पर्याप्त विस्तार हो चुका है तथा उसका अध्ययन अत्यंत महत्वपूर्ण एवं उपयोगी समझा जाने लगा है।

३ भाषाओं का वर्गीकरण एवं संसार के भाषा-परिवार

●

- भाषाओं का वर्गीकरण
- वर्गीकरण के आधार
  - —रचनागत समानता
  - —ऐतिहासिक संबंध
- आकृतिमूलक वर्गीकरण
  - —अयोगात्मक भाषाएं
  - —योगात्मक भाषाएं (अश्लिष्ट, श्लिष्ट, प्रश्लिष्ट)
- पारिवारिक वर्गीकरण
  - —भाषागत समानता
  - —परिवारों की रचना
  - —वर्गीकरण के आधार
- संसार के भाषा-परिवार
  - —भारोपीय, द्रविड़, सामी, हामी, बांटू, चीनी-तिब्बती, यूराल-अलताई, मलय-पालिनेशी, काकेशी, आस्ट्रिक, जापानी-कोरियाई, अमेरीकी
- भारत के भाषा-परिवार

●

३.१ भाषाओं का वर्गीकरण

भाषा-अध्ययन की तुलनात्मक पद्धति के अंतर्गत यह बताया जा चुका है कि इस पद्धति में एक से अधिक भाषाओं की परस्पर तुलना की जाती है। इस तुलना से यह ज्ञात हो जाता है कि कौन-सी भाषाएं एक-दूसरे से समानता रखती हैं तथा कौन-सी भाषाएं एक-दूसरे से पूर्ण रूप से भिन्न हैं। इस जानकारी के आधार पर समानता रखनेवाली भाषाओं को एक ही समूह अथवा वर्ग में रखा जाता है। इस प्रकार समानता के आधार पर भाषाओं को विभिन्न वर्गों में विभाजित करने की पद्धति को भाषाओं का 'वर्गीकरण' कहते हैं।

३.२ वर्गीकरण के आधार

भाषाओं में जो समानताएं प्राप्त होती हैं, वे मुख्य रूप से दो प्रकार की हैं। एक प्रकार की समानता को बाह्य अथवा रचना की समानता एवं दूसरे प्रकार की समानता को आंतरिक अथवा प्रकृति की समानता कहते हैं।

जब भाषाओं को उनकी आकृति अर्थात बाह्य समानता के आधार पर विभिन्न वर्गों में वर्गीकृत किया जाता है तब उसे 'आकृति मूलक वर्गीकरण' कहते हैं। इस वर्गीकरण को 'रचनात्मक वर्गीकरण'; 'रूपात्मक वर्गीकरण' अथवा 'वाक्यात्मक वर्गीकरण' भी कहा जाता है। जब भाषाओं को उनकी आंतरिक समानता के आधार पर विभिन्न समूहों में बांटा जाता है तब इस प्रकार के वर्गीकरण को 'पारिवारिक' अथवा 'ऐतिहासिक वर्गीकरण' कहते हैं। भाषाओं में भीतरी समानता तभी संभव है जबकि उनका मूल अर्थात वंश एक ही हो। समानता रखनेवाली भाषाओं को एक ही परिवार का समझा जाता है। इस कारण इस प्रकार के वर्गीकरण को 'पारिवारिक' वर्गीकरण कहते हैं। इसे ऐतिहासिक वर्गीकरण इसलिए कहा जाता है क्योंकि इस पद्धति के अनुसार उन भाषाओं को एक ही वर्ग में रखा जाता है जिन भाषाओं में ऐतिहासिक संबंध रहता है।

कुछ लोग देश, धर्म, महाद्वीप आदि के आधार पर भी भाषाओं को वर्गीकृत करने का प्रयत्न करते हैं किंतु ऐसे वर्गीकरणों से स्वयं भाषा की विशेषताओं का कुछ भी बोध नहीं होता। इस कारण ऐसे वर्गीकरणों की बहुत कम उपयोगिता है। उपयोगिता की दृष्टि से आज आकृतिमूलक वर्गीकरण का महत्व

भी घट गया है। इसका कारण यह है कि रचना की समानता के आधार पर जिन भाषाओं को एक ही समूह अथवा वर्ग में रखा जाता है, उन भाषाओं के मध्य कोई नाता-रिश्ता नहीं होता। इस कारण इस वर्गीकरण से यह जानकारी प्राप्त नहीं होती कि कौन-सी भाषाएं सही अर्थों में एक-दूसरे से निकट संबंध रखती हैं और कौन-सी भाषाएं एक-दूसरे से भिन्न हैं। किसी भी वर्गीकरण का मुख्य उद्देश्य यह जानकारी प्राप्त करना होता है कि भाषाओं के परस्पर संबंध को जाना जा सके। यदि किसी वर्गीकरण से यह जानकारी प्राप्त नहीं होती तो उस वर्गीकरण की उपयोगिता कम हो जाती है।

३.३ आकृति मूलक वर्गीकरण

यह पहले ही कहा जा चुका है कि **आकृतिमूलक वर्गीकरण का आधार भाषाओं की रचनागत समानता है**। यह समानता मुख्य रूप से उन भाषाओं की पद-प्रक्रिया में ही देखी जाती है। 'पद-प्रक्रिया' के अंतर्गत दो प्रक्रियाएं सम्मिलित हैं, एक तो शब्द से पद बनाने की प्रक्रिया, दूसरी वाक्यों में पदों के परस्पर संबंध प्रकट करने की प्रक्रिया। रचनागत समानता के आधार पर भाषाओं को अलग-अलग वर्गों में विभाजित करने के लिए प्रकृति तत्व या अर्थ तत्व (अथवा विचार अभिव्यक्त करनेवाला तत्व) एवं संबंध तत्व (एक वाक्य के समस्त प्रकृति तत्वों का परस्पर संबंध बतलानेवाला तत्व) के परस्पर संबंध का विचार किया जाता है। इस विचार से भाषाओं को पहले दो वर्गों में विभाजित किया जाता है : अयोगात्मक भाषाओं का वर्ग एवं योगात्मक भाषाओं का वर्ग- 'योग' से जोड़ने का भाव अभिव्यक्त होता है। कुछ भाषाएं ऐसी होती हैं जिनमें संबंध बतलाने के लिए प्रकृति तत्व में कुछ जोड़ना नहीं पड़ता। कोई भी शब्द वाक्य में जिस विशेष स्थान पर प्रयुक्त होता है, उसके अनुसार ही संबंध अभिव्यक्त करता है, अर्थात वाक्य में स्थान विशेष ही शब्द को पद की योग्यता प्रदान करता है ऐसी भाषाओं को अयोगात्मक भाषाएं कहते हैं। इसके विपरीत कुछ भाषाएं ऐसी होती हैं जिनमें धारणात्मक तत्वों का परस्पर संबंध दिखाने के लिए, उन धारणात्मक अर्थात अर्थ तत्वों के साथ कुछ संबंध तत्व जोड़े जाते हैं। ऐसी भाषाओं को योगात्मक भाषाएं कहते हैं। ये संबंध तत्व कई प्रकार के होते हैं, यथा—उपसर्ग, प्रत्यय या परसर्ग, विभक्ति, शब्द ध्वनि-परिवर्तन आदि।

३.३.१ अयोगात्मक भाषाएं

अयोगात्मक भाषाओं की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इन भाषाओं में संज्ञा, विशेषण आदि जैसी व्याकरणिक कोटियां (classes) नहीं होती। एक शब्द कहीं पर संज्ञा, कहीं पर विशेषण, तो कहीं पर क्रिया बन जाता है। अर्थात इन भाषाओं में वाक्य में शब्द का स्थान ही उसके संबंध को अभिव्यक्त करता है। चीनी अयोगात्मक भाषाओं का उत्तम उदाहरण है। उदाहरणार्थ चीनी भाषा में 'ब ब ब ब' का उच्चारण बलाघात के स्थान-परिवर्तन से इस प्रकार किया जा सकता है कि इसके चार भिन्न अर्थ; 'स्त्री', 'राजा', 'खुशामदी' और 'कान उमेठना' हो सकते हैं। प्रकृत्या अंग्रेजी एवं हिंदी अयोगात्मक भाषाएं नहीं हैं किंतु समझने के लिए उनसे भी उदाहरण दिए जा सकते हैं। यथा अंग्रेज़ी का fish (फ़िश) 'मछली' शब्द तीन भिन्न स्थितियों में मात्र स्थान के आधार पर संज्ञा, विशेषण एवं क्रिया के तीन भिन्न अर्थ दे सकता है।

(१) This is a golden fish. 'यह सुनहली मछली है।'
(यहां fish संज्ञा का अर्थ देता है।)

(२) I fish in the pond. 'मैं तालाब में मछली मारता हूं।'
(यहां fish क्रिया का अर्थ देता है।)

(३) He is a fishman. 'वह एक मछली मारनेवाला (मछुआ) आदमी है'
(यहां fish विशेषण का अर्थ देता है।)

यहां एक उदाहरण हिंदी का भी दिया जा सकता है।

(१) शेर जंगल का राजा है।

(२) मैंने जंगल में शेर देखा।

पहले वाक्य में शेर कर्ता का अर्थ देता है और दूसरे वाक्य में कर्म का। अर्थ की यह भिन्नता प्रत्यक्ष रूप से स्थान परिवर्तन के कारण ही है।

ऐसी भाषाओं में संबंध अभिव्यक्ति का दूसरा साधन होता है 'रागात्मक प्रभाव' (Prosodic Effect) रागात्मक प्रभाव के अंतर्गत 'आघात' (स्वराघात, बलाघात) का समावेश होता है। आघात के परिवर्तन से वाक्य में शब्दों की स्थिति बदल जाती है। उदाहरणार्थ अंग्रेज़ी शब्द Present में यदि आघात प्रथम–r–पर होगा तो शब्द Pr'esent संज्ञा का अर्थ देगा (अर्थ–'उपहार') और यदि आघात –s– पर होगा तो शब्द Pres'ent क्रिया का अर्थ (प्रस्तुत करना) देगा।

३.३.२ योगात्मक भाषाएं

योगात्मक भाषाओं में प्रकृति तत्व एवं संबंध तत्व का परस्पर योग होता है। यह योग भी कई तरह का हो सकता है। प्रकृति तत्व एवं संबंध तत्व के योग के आधार पर योगात्मक भाषाओं को निम्नलिखित तीन मुख्य उपवर्गों में विभाजित किया जाता है :

(क) अश्लिष्ट (Agglutinative) (ख) श्लिष्ट (Inflectional) (ग) प्रश्लिष्ट (Incorporating)। 'श्लिष्ट' शब्द 'चिपकने' के भाव को अभिव्यक्त करता है। इस दृष्टि से इन शब्दों का अर्थ होगा—अश्लिष्ट न चिपका हुआ, श्लिष्ट = चिपका हुआ और प्रश्लिष्ट = अच्छी तरह से चिपका हुआ।

अश्लिष्ट योगात्मक भाषाएं

अश्लिष्ट योगात्मक भाषाएं उन भाषाओं को कहते हैं, जिनमें संबंध तत्व प्रकृति तत्व से चिपका हुआ न हो। यहां चिपकने का अर्थ है 'विकृत' अथवा 'परिवर्तित' होना। जब यह कहा जाता है कि अश्लिष्ट भाषाओं में संबंध तत्व प्रकृति तत्व से नहीं चिपकता, तब उसका तात्पर्य यह है कि प्रकृति तत्व एवं संबंध तत्व के योग होने पर भी दोनों की स्वतंत्र सत्ता स्पष्ट रूप से बनी रहती है तथा न तो प्रकृति तत्व में कोई विकार अथवा परिवर्तन होता है और न ही संबंध तत्व में कोई विकार उत्पन्न होता है। एक उदाहरण लीजिए।

(क) सांप ने फुफकारा।

(ख) मैंने सांप को मारा।

'सांप' शब्द के साथ (क) वाक्य में 'ने' और (ख) वाक्य में 'को' संबंध तत्व जुड़ा हुआ है। संबंध तत्व के जुड़ने के बावजूद प्रकृति तत्व 'सांप' एवं संबंध तत्व 'ने' अथवा 'को' स्पष्ट रूप से अलग दिखाई पड़ते हैं; साथ ही न तो 'सांप' के रूप में और न ही 'ने' अथवा 'को' के रूप में कोई विकार अर्थात परिवर्तन उत्पन्न हुआ है। अतः ये वाक्य अश्लिष्टत्व की प्रकृति को अभिव्यक्त करते हैं।

अश्लिष्ट भाषाएं प्रायः प्रत्यय प्रधान होती हैं अर्थात संबंध बताने के लिए प्रायः प्रकृति तत्व में प्रत्यय (Affix) जोड़ा जाता है। प्रत्यय यदि प्रकृति के आगे अर्थात पूर्व जोड़ा जाता है तो भाषाएं 'पूर्वयोगी', प्रत्यय यदि प्रकृति के मध्य में जोड़ा जाता है तो भाषाएं 'मध्ययोगी' एवं प्रत्यय यदि

प्रकृति के अंत में जोड़ा जाता है तो भाषाएं 'अंतयोगी' कही जाती हैं। अफ्रीका की बांटू भाषाएं पूर्वयोगी भाषाएं हैं। यद्यपि संस्कृत अश्लिष्ट भाषा नहीं है तथापि इसमें धातु में पूर्वयोग का उदाहरण मिल जाता है। संस्कृत में धातु के पूर्व प्रत्यय 'अ' जोड़ने से भूत काल का बोध होता है। यथा, पठ् = पढ़ना और अपठत = पढ़ा।

मुंडा परिवार की भाषाएं मध्ययोगी भाषाएं हैं। मुंडा परिवार की संथाली भाषा में 'दल' का अर्थ है 'मारना' एवं 'दपल' शब्द का अर्थ है 'परस्पर मारना'। कहना न होगा कि 'दपल' शब्द के मध्य पड़ा हुआ —प—प्रप्यय ही 'परस्पर' का संबंध बताता है। मध्ययोग के उदाहरण हिंदी में भी मिल जाते हैं। उदाहरणार्थ 'दौड़ना' का अर्थ है 'खुद दौड़ना' किंतु 'दौड़ाना' का अर्थ है दूसरे से दौड़ने का कार्य करवाना। 'दौड़ना' के मध्य आया हुआ–आ–प्रत्यय हो क्रिया को प्रेरणार्थक बनाता है।

हिंदी तथा अन्य भारतीय आर्य भाषाएं मुख्य रूप से अंतयोगी हैं। हिंदी में लिंग, वचन, कारक, काल, अर्थ आदि अर्थों को अभिव्यक्त करने के लिए 'अंत प्रत्यय' का ही प्रयोग होता है। यथा 'राम' में 'ने' अंत प्रत्यय जोड़ने से 'रामने' रूप बनता है। यहां 'ने' प्रत्यय से 'कर्त्ता' का अर्थ ज्ञात होता है।

श्लिष्ट योगात्मक भाषाएं

यह पहले ही कहा जा चुका है कि श्लिष्ट का अर्थ है 'चिपका हुआ'। 'श्लिष्ट' भाषाओं में संबंध तत्व प्रकृति तत्व से चिपका रहता है, अर्थात संबंध तत्व के जुड़ने से प्रकृति तत्व अथवा संबंध तत्व अथवा दोनों तत्वों में विकार अथवा परिवर्तन आ जाता है। लेकिन फिर भी दोनों तत्वों की स्पष्ट अनुभूति होती है। उदाहरणार्थ हिंदी में'—इक' एक प्रत्यय है। 'धर्म' में'—इक' जोड़ने पर 'धार्मिक' बनता है। मूलरूप शब्द 'धर्म' में'—इक' जोड़ने पर 'धर्म' में विकार आ गया है और 'धर्म' का 'धार्म' बन गया है। 'धर्म' एवं 'धार्मिक' शब्दों से यह स्पष्ट मालूम पड़ता है कि 'धर्म' में'—इक' प्रत्यय जुड़ा हुआ है। इस प्रकार यह उदाहरण भाषा की श्लिष्ट प्रकृति का द्योतक है। श्लिष्ट भाषाओं को विभक्ति-प्रधान भाषाएं भी कहते हैं क्योंकि ऐसी भाषाओं में संबंध बतलाने का मुख्य कार्य विभक्तियों द्वारा होता है।

श्लिष्ट भाषाएं भी दो प्रकार की होती हैं। एक ऐसी भाषाएं होती हैं जिनमें संबंध तत्व प्रायः अंत में लगते हैं। ऐसी भाषाओं को 'बहिर्मुख' कहते हैं। संस्कृत, हिंदी, ऐसी ही भाषाएं हैं। दूसरे प्रकार की श्लिष्ट भाषाओं में

संबंध तत्व मध्य में कहीं भी जुड़ जाता है। ऐसी भाषाओं को 'अंतर्मुख' कहते हैं। अरबी भाषा अंतर्मुख भाषा है। अरबी में तीन व्यंजन ध्वनियों के मध्य स्वरों के माध्यम से संबंध तत्व की अभिव्यक्ति की जाती है। जैसे 'क…त… ब' तीन-व्यंजनी धातु में से 'किताब' = 'लिखित रचना', कातिब' = 'लिखनेवाला अर्थात विद्यार्थी', 'मकतब' = 'जहां लिखने का काम सिखाया जाय अर्थात 'स्कूल' आदि विभिन्न अर्थ विभिन्न स्वरों के माध्यम से अभिव्यक्ति किए जा सकते हैं।

प्रश्लिष्ट योगात्मक भाषाएं :

तीसरे प्रकार की योगात्मक भाषाओं को 'प्रश्लिष्ट' भाषाएं कहते हैं। इन भाषाओं में संबंध तत्व प्रकृति से ऐसे चिपक जाता है कि दोनों को एक-दूसरे से अलग कर पाना कठिन होता है। ऐसी भाषाओं में अनेक शब्द परस्पर चिपककर एक शब्द का सा रूप धारण कर लेते हैं। इस प्रकार की भाषाओं को समास प्रधान भाषाएं भी कहा जाता है क्योंकि समास के द्वारा एक से अधिक शब्द एक-दूसरे से मिलकर सर्वथा भिन्न शब्द का निर्माण कर लेते हैं। संस्कृत मुख्य रूप से प्रश्लिष्ट भाषा ही है। संस्कृत का एक उदाहरण देखिए : 'सृज्' + 'क्तिन्' = 'सृष्टि' में से 'सृज्–' धातु और '–ति' संबंध तत्व को अलग कर पाना कठिन है। प्रश्लिष्टता का एक अच्छा उदाहरण सिंधी का भी लिया जा सकता है। सिंधी में 'मूं हुनखे मार्यो।' 'मैंने उसको मारा'। यह पूरा वाक्य प्रश्लिष्ट होकर 'मार्योमांसि' बन सकता है जिसका अर्थ भी ठीक यही है 'मैंने उसे मारा'। 'मार्योमांसि' में 'मार्यो–' क्रिया के पीछे '–मां' एवं '–सि' प्रत्यय जोड़े गए हैं जो क्रमशः 'मूं' एवं 'हुनखे' रूपों का प्रतिनिधित्व करते हैं।

आवश्यकता पड़ने पर उपर्युक्त उपवर्गों के और अधिक भेद-उपभेद किए जा सकते हैं।

भाषाओं की सामान्य प्रवृत्ति प्रश्लिष्ट से अश्लिष्ट होने की है। संस्कृत प्रश्लिष्ट योगात्मक भाषा थी। प्राकृत एवं अपभ्रंश भाषाएं मुख्य रूप से श्लिष्ट थीं; हिंदी एवं अन्य आधुनिक आर्य-भाषाएं श्लिष्ट से अश्लिष्ट की ओर बढ़ रही हैं, अर्थात हिंदी में कुछ विशेषताएं श्लिष्ट भाषाओं जैसी हैं एवं बहुत-सी विशेषताएं अश्लिष्ट भाषाओं जैसी हैं। किसी भी भाषा में अश्लिष्टता, श्लिष्टता तथा प्रश्लिष्टता के उदाहरण मिल सकते हैं किंतु उसकी मुख्य प्रवृत्ति के अनुसार ही उसका वर्ग निर्धारित किया जाता है।

३.४ पारिवारिक वर्गीकरण

दूसरे प्रकार का वर्गीकरण पारिवारिक वर्गीकरण है। **इस वर्गीकरण का मुख्य आधार भाषाओं के मध्य पाया जाने वाला ऐतिहासिक संबंध है।**

प्रत्येक भाषा किसी एक विशेष मानव समुदाय द्वारा प्रयुक्त होती है। इस कारण स्वाभाविक यही है कि एक मानव समुदाय की भाषा का दूसरे समुदाय की भाषा से कोई समानता न हो किंतु अनेक बार ऐसा देखने को मिलता है कि कई भाषाएं एक-दूसरे से बहुत अधिक समानता दिखाती हैं ऐसी स्थिति में यह सोचना पड़ता है कि उनमें इस प्रकार की समानता क्यों है। विभिन्न भाषाओं में समानता निम्नलिखित कारणों से संभव है :

(क) आकस्मिक
(ख) शिशु शब्दावली
(ग) अनुकरणात्मक शब्दावली
(घ) भावाभिव्यंजक शब्दावली
(ङ) भाषाई आगत
(च) समान उद्गम स्रोत

(क) आकस्मिक समानता

संसार में हजारों भाषाएं हैं तथा प्रत्येक भाषा में हजारों-लाखों शब्द हैं। ऐसी स्थिति में कभी-कभी परस्पर भिन्न भाषाओं के कुछ शब्दों में उच्चारणगत एवं अर्थगत समानता दिखाई पड़ जाती है। उदाहरणार्थ अमेरीका की एक जन-जाति की भाषा 'हाटन्टाट' में 'दिशि' शब्द का अर्थ है 'दस'। इस 'दिशि' शब्द की उच्चारण अथवा अर्थ की दृष्टि से हिंदी के 'दस' अथवा संस्कृत के 'दश' से समानता दिखाई पड़ती है। यह समानता आकस्मिक है। आकस्मिक समानता का प्रमाण यह होता है कि वह बहुत ही थोड़े एवं असंबंधित शब्दों में दिखाई पड़ती है। उदाहरण के लिए हाटन्टाट के 'दिशि' एवं हिंदी के 'दस' में समानता दिखाई देती है किंतु हाटन्टाट एवं हिंदी की अन्य संख्याओं में कोई समानता दिखाई नहीं पड़ेगी।

(ख) शिशु शब्दावली में समानता

प्रत्येक भाषा में ऐसे कुछ शब्द होते हैं जिनका प्रयोग शिशुओं द्वारा अपने सगे-संबंधियों को संबोधित करने के लिए होता है। विभिन्न भाषाओं में ऐसे

कुछ शिशु शब्द मिल ही जाते हैं जिनमें उच्चारण एवं अर्थ की समानता दृष्टि-गोचर होती । ऐसा देखा गया है कि अम्मा, मा, मम्मा, वा, आपा, अबा, बाबा, पापा, मामा जैसे शब्द बहुत-सी भाषाओं में हैं । समानता रखने वाले ऐसे शब्दों की संख्या किन्हीं भी दो असंबंधित भाषाओं में बहुत थोड़ी होती है और ये शब्द शिशु शब्दावली तक ही सीमित रहते हैं ।

(ग) अनुकरणात्मक शब्दों के कारण समानता

अनुकरण (पशु-पक्षियों की बोली के आधार पर बने शब्द) के आधार पर बने शब्द बहुत-सी भाषाओं में समानता रखते हैं। उदाहरणार्थ चीनी भाषा में बिल्ली को 'म्याऊं' कहा जाता है । शिशु शब्दावली के समान ही किन्हीं भी दो असंबंधित भाषाओं में ऐसे शब्दों की संख्या बहुत कम होती है ।

(घ) भावाभिव्यंजक शब्दावली में समानता

असंबंधित भाषाओं में भी कुछ ऐसे समान शब्द मिल जाते हैं जिनमें तीव्र भावों की अभिव्यक्ति होती है । उदाहरणार्थ, आह !, ओह !, जैसे भावाभिव्यंजक शब्द हिंदी अंग्रेज़ी तथा अन्य कई भाषाओं में मिल जाते हैं । ऐसे शब्दों की संख्या बड़ी सीमित होती है ।

(ङ) भाषाई आगत के कारण समानता

विभिन्न भाषाओं में सबसे अधिक समानता आगत या उधार लिए हुए शब्दों के कारण होती हैं । भाषाओं में आदान-प्रदान का गुण होता ही है । जब भी दो भाषाएं एक-दूसरे के संपर्क में आती हैं; एक-दूसरे को अवश्य प्रभावित करती हैं । इस प्रभाव का आवश्यक परिणाम होता है एक-दूसरे से शब्द ग्रहण करना । ऐसे ग्रहण किए हुए शब्दों को ही आगत कहा जाता है । उदाहरणार्थ अंग्रेज़ी के संपर्क के कारण अंग्रेज़ी के अनेक शब्द हिंदी में आ गए हैं, जिससे अंग्रेज़ी एवं हिंदी के कई शब्दों में समानता दिखाई पड़ सकती है ।

आगत शब्द प्रायः सांस्कृतिक शब्दावली में स्थान पाते हैं । भाषा की मूल शब्दावली (सामान्य व्यक्ति द्वारा जीवन-निर्वाह हेतु प्रयोग में लाए जानेवाले शब्द) में सामान्य रूप से आगत शब्दों का समावेश नहीं होता ।

(च) समान उद्‌गम स्रोत

उपर्युक्त समस्त समानताओं को अलग करने पर भी यदि भाषाओं में प्रभावशाली समानता दिखाई पड़े और वह समानता कुछ सांस्कृतिक शब्दों तक

ही सीमित न हो; अर्थात वह उन भाषाओं की मूल शब्दावली के बहुत बड़े अंश में दिखाई पड़ने के अतिरिक्त भाषाओं की व्याकरणात्मक एवं ध्वन्यात्मक संरचनाओं में भी दृष्टिगोचर हो, तब ऐसी समानता केवल उत्पत्ति का एक स्रोत होने के कारण ही संभव है। इस संभावना (कि भिन्न भाषाएं संभव है एक ही स्रोत से उत्पन्न हुई हों) पर ही पारिवारिक वर्गीकरण का आधार हैं।

३.५ परिवारों की रचना :

भाषाओं की पारिवारिक धारणा के पश्चात यह जान लेना आवश्यक है कि भाषाओं के परिवार किस प्रकार बनते हैं।

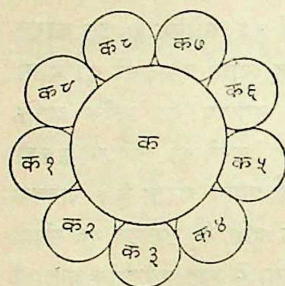
तात्विक दृष्टि से किन्हीं भी दो व्यक्तियों की भाषा समान नहीं होती; पर भाषा क्योंकि सामाजिक वस्तु एवं विचार संपर्क का माध्यम है, इस कारण भिन्नता के बावजूद एक संबद्ध समुदाय के समस्त व्यक्ति एक-दूसरे की भाषा समझते हैं। यह इसलिए संभव होता है क्योंकि समुदाय का प्रत्येक व्यक्ति अपनी व्यक्ति-बोली की विशिष्टताओं का संरक्षण करने की अपेक्षा, सबकी सामान्य विशिष्टताओं का संरक्षण करने का अनायास प्रयत्न करता है। जबतक कोई समुदाय भौगोलिक दृष्टि से संबद्ध, सामाजिक दृष्टि से संगठित एवं संख्या की दृष्टि से सीमित रहता है तब तक उसकी भाषा में कम परिवर्तन आता है एवं उस समुदाय की भाषा एक ही बनी रहती है किंतु जब वह असंबद्ध, विघटित एवं विस्तृत होने लगता है तब उसकी भाषा में भेदक तत्व बढ़ने लगते हैं एवं एक समय ऐसा आता है जब एक समुदाय अनेक समुदायों में विभाजित हो जाता है। तब प्रत्येक समुदाय अपने आप में संबद्ध हो जाता है तथा एक समुदाय की भाषा दूसरे समुदाय की भाषा से भिन्न होने लगती है। इन विभिन्न समुदायों के मध्य यदि संपर्क के साधन सुलभ एवं पर्याप्त हैं तो भिन्नता के बावजूद उन समुदायों के लोग एक-दूसरे की भाषा को बिना सिखाए भी समझ लेंगे। यह ऐसी स्थिति है जब एक भाषा की अनेक उपभाषाएं अथवा बोलियां बन जाती हैं। कालांतर में एक समुदाय का दूसरे समुदाय से संपर्क छूट जाता है। तब एक समुदाय जिस भाषा का प्रयोग करता है, वह दूसरे समुदाय के लोगों को समझ में नहीं आती। इस प्रकार एक के स्थान पर अनेक भाषाएं बन जाती हैं। समयांतर में प्रत्येक समुदाय का विस्तार एवं विघटन होता है तथा प्रत्येक समुदाय की भाषा की अनेक उपभाषाएं अर्थात बोलियां बन जाती हैं। इस प्रक्रिया की पुनरावृत्ति होती रहती है और सैकड़ों-हजारों

वर्षों के पश्चात एक ही भाषा से अनेक भाषाएं बन जाती हैं। ये भाषाएं भिन्न होने पर भी संबंधित समझी जाती हैं तथा उन समस्त भाषाओं को एक ही परिवार अथवा वंश का मानकर उनको एक ही परिवार में रखा जाता हैं।

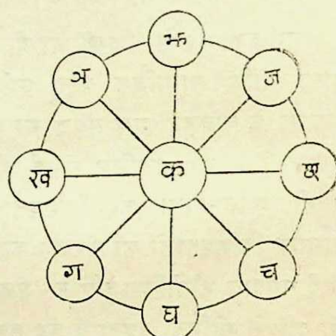
नीचे के चित्रों में भाषा-परिवार बनने की प्रक्रिया को दर्शाया गया है—



चित्र—१



चित्र—२



चित्र—३

चित्र—१ एक समुदाय को इंगित करता है, जिसकी भाषा 'क' है। चित्र—२ उस स्थिति को इंगित करता है जिसमें एक समुदाय विभिन्न उप-समुदायों में विभक्त हो गया और इस प्रकार 'क' भाषा की $क_{१}$, $क_{२}$, ···· ···, आदि उपभाषाएं बन गई हैं। चित्र—३ उस स्थिति को दर्शाता है जिसमें एक समुदाय विभिन्न समुदायों में विभाजित हो गया है और इस कारण 'क' की विभिन्न उपभाषाएं स्वतंत्र भाषाएं बन जाती है। स्वतंत्र हो जाने पर भी वे भाषाएं संबंधित होने के कारण परस्पर जुड़ी रहती हैं।

भाषा-वंश-वृक्ष

भाषा-परिवार की तुलना एक वृक्ष से की जा सकती है। जैसे किसी वृक्ष के एक ही तने से अनेक शाखाएं विकसित होती हैं, वैसे ही एक ही मूल भाषा से अनेक भाषाएं उद्भूत होतो हैं। इसी से परस्पर संबंधित भाषाओं को वृक्ष के रूप मे दिखाया जाता हैं जिसे 'भाषा-वंश-वृक्ष' कहते हैं।

३.६ पारिवारिक वर्गीकरण के सिद्धांत

सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि परस्पर भिन्न लगनेवाली भाषाओं को किन आधारों अथवा सिद्धांतों पर संबंधित भाषाएं मानकर एक ही परिवार के अंतर्गत रखा जाता है। अन्य शब्दों में यह पूछा जा सकता है कि वह कौन-सी प्रक्रिया है जिसका अनुसरण कर भाषाओं को अलग-अलग परिवारों में रखा जाता है।

३.६.१ पारिवारिक परिकल्पना :

पारिवारिक वर्गीकरण की प्रक्रिया में सबसे पहले तो यह परिकल्पना की जाती है कि जिन भाषाओं का वर्गीकरण के लिए परीक्षण किया जा रहा है वे परस्पर संबंधित हो सकती हैं।

३.६.२ स्थानीय निकटता :

इस परिकल्पना का सर्वप्रथम आधार होता है स्थानीय निकटता। ऐसा अनुमान किया जाता है कि जो भाषाएं एक-दूसरे के निकट बोली जाती हैं वे एक ही परिवार की होंगी। बहुत बार यह अनुमान सही निकलता है किंतु यह आवश्यक नहीं है कि जो भाषाएं स्थान की दृष्टि से निकट हैं वे एक ही परिवार की हों और जो एक-दूसरे से दूर हैं वे भिन्न परिवारों की हों। उदाहरणार्थ मराठी एवं कन्नड़ भाषाएं स्थान की दृष्टि से एक-दूसरे के अत्यंत निकट हैं किंतु मराठी भारोपीय परिवार की भाषा है जबकि कन्नड़ द्रविड़ परिवार की भाषा है। दूसरी ओर हिंदी और रूसी का क्षेत्र बहुत दूर है किंतु वे एक ही परिवार की भाषाएं हैं। स्थान की निकटता की केवल इतनी ही उपयोगिता है कि इससे परीक्षण हेतु भाषाओं के चयन करने में सुविधा होती है।

३.६.३ मूल शब्दावली में समानता :

भाषाओं के संबंधित होने की परिकल्पना को पुष्टि मिलती है जब उन भाषाओं की मूल शब्दावली में प्रभावशाली समानता दिखाई पड़ती है। मूल शब्दावली अन्य भाषाओं के शब्दों से या तो मुक्त रहती है अथवा बहुत ही कम प्रभावित होती है। इस शब्दावली में प्राकृतिक सामान्य पदार्थ (सूर्य,

चंद्र, आकाश, धरती आदि), खाने-पीने की सामान्य वस्तुओं (मुख्य अनाज, सब्ज़ियां आदि), मुख्य रंगों (लाल, काला, सफेद आदि), सामान्य पशु-पक्षियों (घोड़ा, गाय, कौआ, चिड़िया आदि) के नामवाले शब्द आ जाते हैं । १० तक संख्याएं, मुख्य क्रियाएं, सर्वनाम आदि शब्द भी मूल शब्दावली में गिने जाते हैं ।

मूल शब्दावली के परीक्षण के लिए निम्नलिखित विधि का अनुसरण करना चाहिए । सबसे पहले परीक्षणार्थ ली गई भाषाओं की मूल शब्दावली की सूचियां तैयार करनी चाहिए । फिर उन सूचियों की तुलना करते हुए, सजात– (Cognate) उच्चारण-अर्थ की समानता रखनेवाले शब्दों का चयन करना चाहिए । फिर उन सजात शब्दों में प्रयुक्त अनुरूप ध्वनियों (Corresponding Sounds) की तुलना करनी चाहिए और देखना चाहिए कि अनुरूप ध्वनियों में नियमित संबंध है अथवा नहीं । यदि भाषाएं संबंधित होंगी तो उनकी मूल शब्दावलियों में बहुत अधिक मात्रा में सजात शब्द होंगे तथा उनकी ध्वनियों में नियमित संबंध दिखाई पड़ेगा ।

३.६.४ व्याकरणात्मक समानता :

मूल शब्दावलीं में प्रभावशाली समानता दृष्टिगोचर होने पर परीक्षार्थ ली गई भाषाओं की व्याकरणात्मक संरचनाओं की तुलना करनी चाहिए । भाषाओं में संपर्क स्थापित होने पर आदान-प्रदान अवश्य होता है किंतु यह आदान-प्रदान मुख्य रूप से शब्दावली तक ही सीमित रहता है । प्रत्येक भाषा का व्याकरणात्मक ढांचा प्रायः अपरिवर्तित रहता है । यदि व्याकरणात्मक ढांचे में दूसरी भाषा के प्रभाव के कारण परिवर्तन होगा भी तो वह बहुत ही सीमित मात्रा में होगा । उदाहरणार्थ हिंदी ने उर्दू के माध्यम से सैकड़ों फारसी-अरबी के शब्द ग्रहण किए हैं तथा अंग्रेज़ी के हजारों शब्द हिंदी में आ गए हैं किंतु हिंदी के व्याकरणात्मक ढांचे पर इस भाषाई आगत (Linguistic Borrowing) का बहुत ही कम प्रभाव पड़ा है । उदाहरणार्थ हिंदी में फारसी का 'ख़बर (= समाचार)' का प्रयोग तो होता है किंतु इसका बहुवचन हिंदी व्याकरण के नियमानुसार 'ख़बरें', 'ख़बरों' आदि बनता है न कि फारसी व्याकरण के अनुसार 'अख्बार' (हिंदी में 'अख़बार' शब्द 'समाचार-पत्र' के अर्थ में प्रयुक्त होता है; यह उसका अर्थ-परिवर्तन है) । वैसे ही अंग्रेज़ी शब्द 'बस' एवं 'ग्लास' का हिंदी में बहुवचन अंग्रेज़ी व्याकरण के अनुसार 'बसिज़' (Buses) एवं

'ग्लासिज़' (Glasses) नहीं होता; किंतु हिंदी व्याकरण के अनुसार 'बसें', 'बसों', 'ग्लासों' आदि होता है। अतः व्याकरणात्मक समानता केवल एक स्रोत होने पर ही संभव है। यदि भषाएं सचमुच संबंधित हैं तो उनकी संपूर्ण व्याकरणात्मक संरचना में समानता दृष्टिगोचर होगी। यह समानना शब्द-निर्माण की पद्धति (अर्थात मूल शब्द में उपसर्ग, परसर्ग आदि लगाकर विभिन्न शब्द बनाना। यथा 'कर' धातु से कर्ता, कर्म, करना, किया, कारक, कृत आदि शब्द बने हैं), शब्द-विकार (अर्थात शब्दों में विभक्ति प्रत्यय आदि लगाकर वाक्य में प्रयोग करना। यथा 'मैं' से 'मैंने', 'घोड़ा' से घोड़े—, 'खा' से खाऊं आदि) एवं वाक्य-रचना पद्धति (अर्थात वाक्य को जोड़ने एवं वाक्य में विभिन्न शब्दों को परस्पर संबंधित करने की विधि। यथा हिंदी वाक्य में 'कर्ता' सर्व-प्रथम, 'कर्म' मध्य में एवं क्रिया अंत में) में दृष्टिगोचर होगी।

व्याकरणात्मक अपवाद, व्याकरणात्मक समानता के सबसे अधिक पुष्ट प्रमाण होते हैं। उदाहरणार्थ हिंदी में 'जाना' क्रिया के वर्तमान एवं भविष्य काल के समस्त रूप 'जा'—धातु से बनते हैं (यथा—जाता, जाऊंगा आदि) किंतु भूतकाल में अपवाद-स्वरूप 'ग' का प्रयोग होता है (यथा—गया आदि)। हिंदी एवं मराठी की व्याकरणात्मक संरचनाओं की तुलना करने पर यह ज्ञात हो जाता है कि मराठी में भी यही स्थिति है। मराठी में 'जाना' (जाणें) क्रिया के वर्तमान एवं भविष्यकाल के रूप तो 'जा–' से विकसित हैं (यथा—जातो, जाता आदि) किंतु भूतकाल के रूप 'ग–' से ही आरंभ होते हैं (यथा—गेला, गेल्या आदि)। भाषाओं में ऐसे अपवाद तभी संभव होते हैं जबकि उनकी व्याकरणात्मक रचनाओं में प्रभावशाली समानता हो।

३.६.५ ध्वन्यात्मक समानता :

भाषाओं को एक परिवार में रखने का अंतिम एवं निर्णायक तत्व है, भाषाओं में पाई जानेवाली ध्वन्यात्मक समानता।

ऐसा देखा गया है कि संबंधित भाषाएं भी जब सैकड़ों हज़ारों वर्षों के लिए एक-दूसरे से दूर रहती हैं, तब उनकी व्याकरणात्मक संरचनाओं में भी बहुत अंतर पड़ जाता है। उदाहरणार्थ आज हिंदी और अंग्रेज़ी के व्याकरणात्मक ढांचे में बहुत अंतर है, जबकि दोनों एक ही परिवार की भाषाएं हैं। इसी कारण भाषाओं के संबंध का निर्णय करने के लिए व्याकरणात्मक तुलना के पश्चात उनकी ध्वन्यात्मक संरचनाओं की तुलना करनी चाहिए। यदि अन्य समानताओं के साथ भाषाओं की ध्वन्यात्मक संरचनाओं में भी समानता दिखाई पड़े तब

यह निर्विवाद रूप से सिद्ध हो जाता है कि वे भाषाएं संबंधित हैं अर्थात एक ही स्रोत से उत्पन्न हुई हैं और इस कारण एक ही परिवार की हैं।

ध्वन्यात्मक समानता का अर्थ यह नहीं है कि परीक्षित भाषाओं में ध्वनियां एक जैसी हों। समानता एवं एकरूपता में बड़ा अंतर होता है। ध्वन्यात्मक एकरूपता दो स्थितियों में संभव है। एक तो परीक्षित भाषाएं भिन्न न होकर एक ही भाषा हों (एक ही भाषा की बोलियां)। ऐसी स्थिति में पारिवारिक वर्गीकरण का प्रश्न ही नहीं उठता। दूसरा, परीक्षित भाषाओं में ध्वनियों का आदान-प्रदान हो गया हो। यह स्थिति भाषाई आगम की है; और भाषाई आगम के कारण उत्पन्न समानता, पारिवारिक वर्गीकरण के लिए उपयुक्त नहीं होती। इस कारण भाषाई आगम से आई सामग्री को अलग करने के पश्चात ही वर्गीकरण के लिए भाषाओं की तुलना की जाती है।

समानता से तात्पर्य ऐसे नियमित सबंध से है, जिसके आधार पर परीक्षित भाषाओं के मूल रूप (Proto form) की रचना की जा सकती है। यह समानता ध्वनियों की पूरी संरचना में होनी चाहिए। उदाहरणार्थ पंजाबी भाषा में हिंदी जैसी घोष महाप्राण स्पर्श ध्वनियां (घ, झ, ढ, ध, भ) नहीं हैं। इसके स्थान पर पंजाबी में तान (Tone) महत्वपूर्ण है। इस तान का प्रयोग अघोष अल्पप्राण स्पर्श ध्वनियों (क, च, ट, त, प) के साथ ही हो सकता है। इस कारण जहां हिंदी में क : घ ध्वनियां परस्पर व्यतिरेकी या विरोधात्मक संबंध रखती हैं (यथा 'कोड़ा', 'चाबुक', 'घोड़ा 'एक विशेष प्राणी') वहां पंजाबी में क : क' ध्वनियां परस्पर व्यतिरेकी या या विरोधात्मक संबंध रखती हैं (यथा—'कोड़ा', चाबुक' एवं 'को'ड़ा' एक विशेष प्राणी)।

उपर्युक्त विवेचन से हिंदी एवं पंजाबी की ध्वनि व्यवस्थाएं असमान दिखाई देती हैं किंतु तुलना करने पर उनमें समानता दिखाई पड़ती है। वास्तव में हिंदी एवं पंजाबी की ध्वनियों में नियमित संबंध है जिसे इस प्रकार सूत्रित किया जा सकता है।

हिंदी घोष + महाप्राण = पंजाबी तान

अतः, क + घोष + महाप्राण (=घ) = क + ' (=क')

उदाहरण—घोड़ा = को'ड़ा

प + घोष + महाप्राण (= भ) = प + ' (= प')

उदाहरण—भाई = पा'ई

इस प्रकार भाषाओं के संबंधित होने का अनुमान मूल शब्दावली के सजात रूपों की समानता द्वारा पुष्ट होकर, व्याकरणात्मक समानता से निश्चयात्मक बनकर, ध्वन्यात्मक समानता से तथ्य के रूप में सिद्ध हो जाता है तथा बाह्य रूप से असंबद्ध लगनेवाली भाषाएं संबंधित होकर विभिन्न परिवारों में विभक्त हो जाती हैं।

३.७ संसार के भाषा-परिवार :

पूर्व परिच्छेद में यह बताया गया है कि विभिन्न भाषाओं की संरचनाओं में पाई जानेवाली समानता के आधार पर संसार की समस्त भाषाओं को अलग-अलग भाषा-परिवारों में विभाजित किया गया है किंतु इससे यह न समझ लेना चाहिए कि संसार की समस्त भाषाओं का स्पष्ट, पूर्ण एवं अंतिम वर्गीकरण हो चुका है। वास्तविकता यह है कि अभी तक संसार की कुछ ही भाषाओं का संतोषजनक अध्ययन हुआ है। अभी भी सैकड़ों नहीं, हजारों ऐसी भाषाएं हैं, जिनके संबंध में भाषावैज्ञानिक कुछ भी नहीं जानते। ऐसी स्थिति में यह संभव ही नहीं है कि भाषाओं के प्रस्तुत वर्गीकरण को पूर्ण एवं अंतिम समझा जाय। फिर परिवारों की संख्या के संबंध में भी समस्त विद्वान एकमत नहीं हैं। रेइ (Reiss) जैसे विद्वान जहां संसार की भाषाओं का केवल एक ही परिवार मानते हैं, वहां फ्रेडरिक मूलर जैसे विद्वान भाषा-परिवारों की संख्या एक सौ तक मानते हैं। दस, तेरह, अठारह, परिवार माननेवाले विद्वान अधिक हैं। अधिक विद्वान परिवारों की संख्या बारह, तेरह, चौदह, संख्याओं में से कोई एक संख्या स्वीकार करते हैं। ये परिवार निम्नलिखित हैं : १. भारोपीय, २. सामी अथवा सैमेटिक, ३. हामी अथवा हैमेटिक, ४. बांटू, ५. द्रविड़, ६. चीनी–तिब्बती, ७. यूराल–अल्ताई, ८. मलय–पालीनेशी, ९. काकेशी, १०, आस्ट्रिक, ११. जापानी–कोरियाई, १२. अमेरीकी।

उपर्युक्त परिवारों के अतिरिक्त बुशमैन, सुडानी, पापुई, आट्रेलियाई आदि परिवारों के नाम भी लिए जा सकते हैं। इन परिवारों को कुछ विद्वान अन्य परिवारों के साथ जोड़ते हैं तो कुछ दूसरे इन्हें स्वतंत्र परिवारों के रूप में मानते हैं।

कुछ विद्वान इस विचार के हैं कि उपर्युक्त समस्त परिवारों में से बहुत से परिवार ऐसे हैं जो एक परिवार की अपेक्षा एक से अधिक परिवारों के वर्ग हैं। यह बात बहुत सीमा तक ठीक भी है; उदाहरणार्थ अकेले अमेरिका

परिवार में लगभग चार सौ भाषाएं हैं, जो निश्चित रूप से एक नहीं कई परिवारों की हैं। बाधा केवल यह है कि इन भाषाओं का विधिवत अध्ययन नहीं हुआ है जिससे इन भाषाओं के अलग-अलग परिवार निश्चित हो सकें।

आगामी परिच्छेदों में उपर्युक्त परिवारों का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

३.७.१ भारोपीय परिवार

यह परिवार, समस्त भाषा-परिवारों में महत्वपूर्ण है। अतः आगामी अध्याय में इस परिवार का विशेष वर्णन किया गया है।

३.७.२ सामी परिवार

सामी अथवा सैमेटिक परिवार की भाषाएं अफ्रीका एवं एशिया, दोनों खंडों में बोली जाती हैं। ऐसा माना जाता है कि हज़रत 'नौह' के बड़े पुत्र 'सैम' के नाम पर ही इस परिवार का नाम 'सैमेटिक' पड़ा है।

क्षेत्र

इस परिवार का क्षेत्र-विस्तार अफ्रीका एवं एशिया दोनों खंडों तक है। इसकी भाषाओं का अधिक प्रयोग एशिया में ही होता है। अफ्रीका में मोराको से स्वेज़ नहर तक इस परिवार की भाषाएं फैली हुई हैं।

मुख्य शाखाएं एवं भाषाएं

इस परिवार की मुख्य शाखाएं हैं—असीरियन, बैबीलियन, फिनिशियन एवं आरमाइक। प्राचीन भाषा 'हिब्र' (बाइबिल की मूल भाषा) एवं प्रसिद्ध भाषा 'अरबी' इसी परिवार की भाषाएं हैं।

साहित्य

अरबी, संसार की अत्यंत समृद्ध भाषाओं में से एक है। अरबी भाषा एवं साहित्य का प्रभाव संसार की बहुत-सी भाषाओं पर पड़ा है। कीलाक्षरों में लिखे असीरियन एवं बैबीलियन के उदाहरण ईसा से ढाई-तीन हज़ार वर्ष पूर्व के पाए जाते हैं।

विशेषताएं

सैमेटिक परिवार की भाषाएं मुख्य रूप से श्लिष्ट योगात्मक भाषाएं हैं।

इस परिवार की भाषओं में धातु प्राय: तीन व्यंजनों के होते हैं, जिनके अंतर्गत स्वरों को जोड़कर, विभिन्न शब्द बनाए जाते हैं (यथा—क....त....ब 'लिखना' धातु से 'किताब' 'लिखा हुआ', 'मकतब' 'लिखने का स्थान', 'कातिब' 'लिखनेवाला' आदि) ।

धातु में स्वर योग के अतिरिक्त कभी-कभी शब्द-निर्माण अथवा शब्द-विकार के लिए प्रत्यय, विभक्ति आदि का भी प्रयोग होता है । यों यह प्रवृत्ति पुरानी अरबी में अधिक थी । आधुनिक अरबी श्लिष्ट से अश्लिष्ट की ओर बढ़ रही हैं, इस कारण उसमें विभक्तियों के स्थान पर स्वतंत्र शब्दों का प्रयोग होने लगा है ।

'ज़ेरे-इज़ाफ़त' का प्रयोग इस परिवार की एक मुख्य विशेषता है । इसमें दो संज्ञाओं के मध्य संबंध दर्शानेवाले तत्व के लुप्त होने से एक प्रकार की ऐसी सामासिक रचना बनती है, जिसका अर्थ संबंधित संज्ञाओं का क्रम बदलकर ही निकाला जा सकता है । यथा 'शेरे-पंजाब' अर्थात 'पंजाब का शेर' । अरबी के ही प्रभाव से 'ज़ेरे-इज़ाफ़त' का प्रयोग फारसी एवं उर्दू में भी होने लगा है ।

इस परिवार की भाषाओं में लिंग मुख्य रूप से व्याकरणात्मक है, प्राकृतिक नहीं । भारोपीय परिवार के पश्चात दूसरा प्रसिद्ध परिवार सैमेटिक परिवार है ।

३.७.३ हामी परिवार

हामी परिवारिक को हैमेटिक परिवार भी कहा जाता है । इस परिवार की सैमेटिक परिवार से इतनी अधिक निकटता एवं समानता है कि कुछ विद्वान सैमेटिक और हैमेटिक परिवारों को मिलाकर एक ही सैमेटिक-हैमेटिक परिवार मानते हैं । जैसे सैमेटिक परिवार का नाम हजरत 'नौह' के बड़े पुत्र 'सैम' के आधार पर पड़ा है, वैसे ही हैमेटिक परिवार का नाम हजरत 'नौह' के छोटे पुत्र 'हैम' के नाम पर पड़ा हुआ बताया जाता है ।

क्षेत्र

इस परिवार की भाषाओं का मुख्य क्षेत्र उत्तरी अफ्रीका है ।

भाषाएं

हैमेटिक परिवार की भाषाएं अब प्राय: विद्यमान नहीं हैं । जो विद्यमान हैं, उन पर अन्य भाषाओं का बहुत अधिक प्रभाव है, इस कारण उनकी गणना प्राय: दूसरे परिवारों के अंतर्गत होती हैं । इसकी दो मुख्य शाखाएं हैं—'लेबियन' एवं 'एथोपियन' ।

साहित्य

प्राचीन मिस्री भाषा हैमेटिक परिवार की समझी जाती है; जिसके उदाहरण ईसा–पूर्व चार हजार वर्ष के मिलते हैं। इसकी कुछ भाषाओं में धार्मिक साहित्य उपलब्ध है। आजकल हैमेटिक के क्षेत्र में भी सैमेटिक परिवार की भाषाओं का प्रयोग होता है।

विशेषताएं

यह पहले ही बताया जा चुका है कि हैमेटिक परिवार का सैमेटिक परिवार से बहुत अधिक साम्य है; इस कारण दोनों की विशेषताएं भी प्रायः समान ही हैं। सैमेटिक भाषाओं की विशेषताओं का उल्लेख ऊपर कर दिया गया है।

३.७.४ बांटू परिवार

बांटू शब्द का अर्थ है 'मनुष्य'। इस परिवार की भाषाओं में 'मनुष्य' के लिए 'बांटू' से मिलता-जुलता शब्द प्रयुक्त होता है। इसी से इस परिवार का नाम 'बांटू' पड़ गया है।

क्षेत्र

बांटू अफ्रीका खंड का मुख्य भाषा-परिवार है। इस परिवार का मुख्य क्षेत्र मध्य एवं दक्षिण अफ्रीका है। जंजीबार द्वीप में भी इस परिवार की भाषाएं बोली जाती हैं।

भाषएं

इस परिवार की लगभग डेढ़-सौ भाषाएं कही जाती हैं जिनसे मुख्य भाषाएं हैं—काफिर, जुलू, सेचुना, कांगों तथा जंजीबार द्वीप की प्रसिद्ध भाषा स्वाहिली।

साहित्य

इस परिवार की भाषाओं में साहित्य नहीं के बराबर है। स्वाहिली भाषा में थोड़ा-बहुत साहित्य मिलता है।

विशेषताएं

इस परिवार की भाषाएं मुख्य रूप से अश्लिष्ट पूर्व योगात्मक भाषाएं हैं।

इस परिवार की भाषाओं के शब्द प्रायः स्वरांत होते हैं, इस कारण इस परिवार की भाषाओं में संस्कृत के समान संगीतमयता मिलती है।

संयुक्त व्यंजनों के अभाव के कारण इस परिवार की भाषाएं उच्चारण की दृष्टि से सरल एवं सुनने में मधुर लगती हैं। इस परिवार की भाषाओं में एक विशेष प्रकार की ध्वनियां होती हैं जिन्हें 'क्लिक' ध्वनिया कहते हैं।

३.७.५ द्रविड़ परिवार :

द्रविड़ एक जाति-विशेष का नाम है। उस जाति द्वारा बोली जानेवाली समस्त भाषाओं का सामूहिक नाम 'द्रविड़ परिवार' है। यों 'द्रविड़' एवं 'तमिल' एक ही शब्द हैं। 'तमिल' 'द्रविड़' का ही विकसित रूप है (द्रविड़ > द्रमिड़ > दमिल > तमिल) किंतु आज 'तमिल', इस परिवार की एक भाषा विशेष का नाम है। कुछ विद्वानों ने इस परिवार की भाषाओं को अन्य भाषा परिवारों से जोड़ने का प्रयत्न किया है किंतु उसमें वे सफल नहीं हुए हैं।

क्षेत्र

इस परिवार के बोलनेवाले मुख्य रूप से दक्षिण भारत में बसे हुए हैं। इसके अतिरिक्त भारत के पूर्वी भाग में बिहार एवं उड़ीसा तथा मध्य भारत में भी इस परिवार की कुछ भाषाएं बोली जाती हैं। भारत से बाहर दक्षिण में लंका, लक्षद्वीप, पश्चिमोत्तर में बिलोचिस्तान में भी इस परिवार के लोग रहते हैं।

भाषाएं

इस परिवार की सर्वाधिक प्रसिद्ध भाषा 'तमिल' है। इसके अतिरिक्त अन्य मुख्य भाषाएं हैं—तेलुगू, मलयालम, कन्नड़ एवं तुलू। इन मुख्य भाषाओं के अतिरिक्त इस परिवार की कुछ और भाषाएं हैं—कुर्ग, टुडा, कोंड, गोंड, ओरांव, कुई, ब्राहुई।

साहित्य

साहित्य की दृष्टि से इस परिवार की 'तमिल' भाषा अत्यंत समृद्धशाली है। इसका साहित्य सातवीं शताब्दी से भी पूर्व का है। कुछ लोग इसके साहित्य को हज़ारों वर्षों का पुराना मानतें हैं। साहित्य की दृष्टि से अन्य मुख्य भाषाएं है—तेलुगू, मलायालम एवं कन्नड़।

विशेषताएं

इस परिवार की भाषाएं मुख्य रूप से अश्लिष्ट पूर्व योगात्मक भाषाएं हैं।
शब्द प्रायः स्वरांत होते हैं।

मूर्धन्य ध्वनियों की इस परिवार में प्रधानता है।

शब्द के आरंभ में सघोष ध्वनियों के प्रयोग का विधान नहीं है किंतु स्वर-मध्य स्थिति में घोषत्व आवश्यक है (विशेषकर तमिल में)।

वचन दो किंतु लिंग तीन होते हैं।

संज्ञाओं के सचेतन एवं अचेतन दो भेद होते हैं ('सचेतन' अर्थात जिनमें ज्ञान-विवेक की शक्ति हो और 'अचेतन' अर्थात जिनमें ज्ञान-विवेक की शक्ति न हो)।

द्रविड़ भाषाओं का भारतीय आर्य भाषाओं पर यथेष्ट मात्रा में प्रभाव पड़ा है। साथ ही द्रविड़ भाषाएं भी संस्कृत से बहुत अधिक प्रभावित हुई हैं।

३.७.६ चीनो-तिब्बती परिवार :

चीनी-तिब्बती परिवार का यह नाम, चीन एवं तिब्बत देशों में उसकी प्रधानता के कारण पड़ा है। इस परिवार को 'एकाक्षरी' परिवार भी कहा जाता है। यह नाम उसकी आकृतिगत विशेषताओं को दर्शाता है।

क्षेत्र

इस परिवार की भाषाओं का मुख्य क्षेत्र चीन, स्याम, तिब्बत एवं बर्मा है। यों भूटान एवं भारत के उत्तर-पूर्व में भी इस परिवार के बोलनेवाले बसे हुए हैं।

भाषाएं

इस परिवार की मुख्य भाषा है चीनी (प्राचीन चीनी)। इसके अतिरिक्त थाई, तिब्बती, बर्मी भाषाएं भी प्रसिद्ध भाषाएं हैं। भारत के उत्तर-पूर्व भाग की नागा बोलियां भी इसी परिवार की हैं।

साहित्य

इस परिवार की चीनी भाषा में संसार का बहुत प्राचीन साहित्य प्राप्त होता है। चीनी साहित्य की परंपरा का आरंभ ईसा पूर्व तीन हज़ार वर्ष से मिलता है।

विशेषताएं

इस परिवार की भाषाएं अयोगात्मक हैं। इस कारण इस परिवार की भाषाओं में शब्दों के स्थान की प्रधानता होती है। वाक्य में स्थान विशेष के कारण ही कोई शब्द संज्ञा, क्रिया, आदि बनता है। स्थान परिवर्तित होने से शब्द का अर्थ बदल जाता है।

शब्द प्राय: एक अक्षर (Syllable) के हैं। विभिन्न प्रकार की तानों (tones) के प्रयोग से एक ही शब्द से कई अर्थ अभिव्यक्त होते हैं।

अर्थ को स्पष्टता के लिए कुछ ऐसे शब्दों का प्रयोग किया जाता है जिन्हें 'रिक्त' शब्द कहा जा सकता है। ये शब्द धारणात्मक अर्थ न देकर मात्र व्याकरणात्मक अर्थ देते हैं।

ध्वनि-संरचना में अनुनासिकता का अधिक प्रयोग होता है।

३.७.७ यूराल-अल्ताई परिवार :

यूराल एवं अल्ताई पर्वतों के मध्य स्थित होने के कारण, इन भाषाओं के समूह का यह नाम पड़ गया है। कुछ लोग यूराल एवं अल्ताई को अलग-अलग परिवार मानते हैं। कुछ विद्वान इसमें से फिनिश एवं तुर्की भाषाओं को अलग कर उन्हें अलग-अलग परिवार मानना पसंद करते हैं। अधिकतर विद्वान इन सबको मिलाकर यूराल-अल्ताई परिवार के स्थान पर यूराल-अल्ताई वर्ग मानना उचित समझते हैं।

क्षेत्र

इस परिवार का क्षेत्र अत्यंत विस्तृत है। इस परिवार की भाषाएं यूराल एवं अल्ताई पर्वतों के मध्य व्याप्त हैं। टर्की, हंगेरी, फिनलैंड, इस परिवार के कुछ प्रसिद्ध प्रदेश हैं।

भाषाएं

इस परिवार की तीन प्रसिद्ध भाषाएं हैं—फिनलैंड की फिनिश, हंगेरी की मगियार एवं टर्की की तुर्की। इसके अतिरिक्त तातारी, किरघीज, उज्बेक, मंगोल एवं मचू भाषाएं भी इसी परिवार से संबंध रखती हैं।

साहित्य

फिनिश, मगियार एवं तुर्की तीनों ही साहित्यिक भाषाएं हैं। फिनिश का साहित्य सोलहवीं शताब्दी के आसपास का है। तुर्की का साहित्य इससे अधिक

प्राचीन है। तुर्की, अरबी एवं फारसी से प्रभावित है जब कि फिनिश पर भारोपीय भाषा-परिवार का पर्याप्त प्रभाव है। तुर्की भाषा ने भी अरबी एवं फारसी को प्रभावित किया है। तुर्की का कुछ प्रभाव प्रत्यक्ष रूप से एवं कुछ फारसी-उर्दू के माध्यम से हिंदी पर भी पड़ा है। हिंदी में कई तुर्की के शब्द हैं।

विशेषताएं

ये भाषाएं आकृति की दृष्टि से अश्लिष्ट अंतयोगात्मक हैं। धातु के पीछे प्रत्यय जोड़कर पदों की रचना की जाती है।

स्वर-संगति इन भाषाओं की एक और विशेषता है, जिसके कारण प्रत्यय के स्वरों में धातु के स्वरों के अनुरूप परिवर्तन हो जाता है।

३.७.८ मलय-पालोनेशी परिवार :

कुछ विद्वान इन्हें मलेनेशियन एवं पालीनेशियन नाम के दो परिवारों में विभाजित करते हैं तो कुछ और विद्वान इन्हें दो से अधिक परिवारों में बांटते हैं।

क्षेत्र

इस परिवार की भाषाएं मलाया, सुमात्रा, जावा, इंडोनेशिया, बोर्नियो, फ़िजी, मैडागस्कर आदि द्वीपों में बोली जाती हैं।

भाषाएं

इस परिवार की मुख्य भाषाएं हैं इंडोनेशिया की मलय, फ़िजी की फ़िजीयन, जावा की जावानीज एवं न्यूजीलैंड की मओरी।

साहित्य

मलय भाषा में प्राचीन साहित्य का अच्छा भंडार है। जावानीज़ एवं मओरी भी साहित्यिक भाषाएं हैं।

विशेषताएं

इस परिवार की भाषाएं प्रायः अश्लिष्ट योगात्मक हैं। धातुओं से प्रत्यय जोड़कर शब्द बनाये जाते हैं।

बहुत-सी भाषाओं में स्वराघात महत्वपूर्ण है।
कुछ भाषाओं में चार तक वचन हैं।

३.७.९ काकेशी परिवार :

यह बहुत-सी भाषाओं का एक ऐसा समूह है, जिसमें कुछ भाषाएं तो परस्पर समानता रखती हैं, किंतु कुछ भाषाएं यथेष्ट मात्रा में एक दूसरे से भिन्न हैं।

क्षेत्र

इस परिवार की भाषाओं के बोलनेवाले काकेशस पर्वत के निकटवर्ती स्थानों पर बसते हैं। ये पर्वत काला सागर एवं कैस्पियन सागर के मध्य स्थित हैं।

भाषाएं

इस परिवार की अनेक भाषाएं, विभाषाएं एवं बोलियां हैं जिनमें जार्जिआ की जार्जियन प्रसिद्ध भाषा है।

साहित्य

इस परिवार की भाषाएं प्रायः बोलचाल की हैं। जार्जियन भाषा में अवश्य कुछ साहित्य उपलब्ध है।

विशेषताएं

ये भाषाएं अश्लिष्ट एवं श्लिष्ट के मध्य की हैं। धातुओं में विभक्ति एवं प्रत्यय दोनों का प्रयोग होता है। इस परिवार की कुछ भाषाओं में छह लिंग हैं। कुछ भाषाओं में विभक्तियों की संख्या बहुत अधिक है।

३.७.१० आस्ट्रिक परिवार

आस्ट्रिक का अर्थ है 'दक्षिण का'। इस परिवार की भाषाएं दक्षिण द्वीप-समूह में फैली हुई हैं।

क्षेत्र

इस परिवार की भाषाओं का एक समूह (जिसे 'मानख्मेर' कहते हैं) बर्मा, स्याम तथा निकोबार द्वीप-समूह में फैला हुआ है। दूसरे समूह की भाषाएं (जिन्हे मुंडा कहते हैं) मुख्य रूप से भारत के पूर्व-पहाड़ी भाग, बिहार एवं मध्यप्रदेश के कुछ भागों एवं खासी पहाड़ियों पर बोली जाती हैं।

भाषाएं

इस परिवार की मुख्य भाषाएं हैं—मान, ख्मेर; मुंडा, संथाली आदि।

साहित्य

मान एवं ख्मेर साहित्यिक भाषाएं हैं। अन्य भाषाएं प्रायः बोलचाल की हैं।

विशेषताएं

इस परिवार की भाषाएं मुख्य रूप से अश्लिष्ट योगात्मक हैं। धातु में प्रत्यय एवं उपसर्ग जोड़कर शब्द निर्मित किये जाते हैं। मुंडा भाषाएं जो कि भारत में बोली जाती हैं, उन पर आर्य एवं द्रविड़ भाषाओं का पर्याप्त प्रभाव है। साथ ही मुंडा भाषाओं ने भारत की अन्य भाषाओं को भी काफी प्रभावित किया है।

३.७.११ जापानी-कोरियाई परिवार :

जैसा कि नाम से स्पष्ट है, यह मुख्य रूप से जापान एवं कोरिया की भाषाओं का परिवार है। कुछ लोग इन्हें 'अनिश्चित' के वर्ग में रखना उचित समझते हैं क्योंकि दोनों भाषा-समूहों की भाषाओं के संबंध में निश्चय पूर्वक कहना कठिन है। कुछ विद्वान इन भाषाओं को चीनी-तिब्बती अथवा यूराल-अल्ताई परिवार में गिनना भी उचित समझते हैं। अधिक विद्वान कोरिया एवं जापान की भाषाओं का एक अलग ही परिवार मानना ठीक समझते हैं। इसी से यहां जापानी-कोरियाई परिवार का उल्लेख किया जा रहा है।

क्षेत्र

कोरिया एवं जापान ही इस परिवार की भाषाओं का क्षेत्र है।

भाषाएं

इस परिवार की भाषाएं मुख्य रूप से कोरियाई एवं जापानी हैं।

साहित्य

जापानी, साहित्य की दृष्टि से संसार की समृद्ध भाषाओं में से एक है। जापानी का साहित्य सातवीं-आठवीं शताब्दी से मिलने लगता है।

विशेषताएं

कोरियाई भाषा पर चीनी का प्रभाव है। यों दोनों भाषाएं मुख्य रूप से अश्लिष्ट योगात्मक भाषाएं हैं। शब्द-रचना में प्रत्यय का प्रयोग होता है।

३.७.१२ अमेरीकी परिवार :

उत्तर अमेरीका एवं दक्षिण अमेरीका के मूल निवासियों की लगभग ऐसी चार-सौ भाषाएं हैं, जिन्हें एक सामूहिक नाम 'अमेरीकी भाषाओं का वर्ग' दिया गया है। इन भाषाओं का कोई विशेष भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन नहीं हुआ है। निश्चित रूप से ये भाषाएं एक नहीं अनेक परिवारों की होंगी।

ये भाषाएं प्रायः बोलचाल की हैं। बहुत भाषाओं की कोई लिपि भी नहीं है। नाम-मात्र का साहित्य भी एक-आध भाषा का ही मिलता है।

जब तक इन भाषाओं का विधिवत अध्ययन नहीं होता, तब तक इनके संबंध में अधिक कुछ कह सकना संभव नहीं है।

कुछ विद्वान उपर्युक्त परिवारों के अतिरिक्त, एक 'अनिश्चित' परिवार भी गिनाते हैं किंतु इसकी कोई विशेष उपयोगिता नहीं है क्योंकि निश्चित रूप से तो कुछ ही भाषाओं के लिये कहा जा सकता है। बहुत अधिक भाषाओं का तो अध्ययन ही नहीं हुआ है। वे भी एक प्रकार से 'अनिश्चित' समूह के ही अंतर्गत आती हैं। इस स्थिति में अनिश्चित परिवार का क्षेत्र समस्त निश्चित परिवारों से अधिक विस्तृत होगा।

३.८ भारत के भाषा-परिवार :

भारत में मुख्य रूप से जिन दो परिवारों की भाषाएं बोली जाती हैं, वे हैं—भारोपीय परिवार एवं द्रविड़ परिवार।

प्रायः संपूर्ण उत्तर भारत में भारोपीय परिवार की, (भारतीय शाखा) भाषाएं बोली जाती हैं। इनमें मुख्य हैं—हिंदी, बंगला, बिहारी, असमिया, उड़िया, मराठी, गुजराती, सिंधी, एवं पंजाबी।

संपूर्ण दक्षिण भारत में द्रविड़ परिवार की भाषाएं बोली जाती हैं। इस परिवार की मुख्य भाषाएं हैं—तमिल (तमिलनाडु), तेलुगु (आंध्र प्रदेश), कन्नड़ (मैसूर) एवं मलयालम (केरल)। द्रविड़ परिवार की कुछ भाषाएं भारत के अन्य भागों—बिहार में 'ओरांव' तथा मध्य प्रदेश में 'गोंडी' में भी बोली जाती हैं।

इन दो मुख्य परिवारों के अतिरिक्त दो अन्य परिवारों की भाषाएं भी भारत में बोली जाती हैं। वे परिवार हैं—चीनी-तिब्बती परिवार एवं आस्ट्रिक परिवार।

चीनी-तिब्बती परिवार की भाषाओं के बोलनेवाले पूर्वी पहाड़ी भाग (असम के निकट) तथा उत्तर के पहाड़ी भाग (हिमालय के निकटवर्ती प्रदेश) में बसते हैं। इस परिवार की जो मुख्य बोलियां भारत में बोली जाती हैं, वे हैं—लुशाई, गारो, अक आदि।

चौथे परिवार आस्ट्रिक की भाषाएं भारत के पूर्व एवं मध्य भाग में बोली जाती हैं। इनमें मुख्य भाषाएं हैं—मुंडारी, संथाली, हो, खड़िया।

इन चार परिवारों की भाषाओं के अतिरिक्त दो भाषाएं ऐसी भी हैं, जिनको किसी भी परिवार में नहीं रखा जा सकता। ये भाषाएँ हैं—कश्मीर के एक स्थान की भाषा 'बरुशास्की' तथा दूसरी भाषा है अंडमान द्वीप में बोली जानेवाली 'अंडमानी'। इन दोनों भाषाओं को किसी भी परिवार में रखने का प्रयत्न सफल नहीं हुआ है।

स्मरण-संकेत

३.१ भाषाओं में पाई जाने वाली समानता के आधार पर भाषाओं को विभिन्न समूहों में बांटने को भाषाओं का वर्गीकरण कहते हैं।

३.२ वर्गीकरण के दो आधार हैं : रचनागत समानता एवं ऐतिहासिक संबंध।

३.३ आकृतिमूलक वर्गीकरण का आधार रचनागत समानता है। इस आधार पर भाषाएं अयोगात्मक एवं योगात्मक (अश्लिष्ट, श्लिष्ट, प्रश्लिष्ट) होती हैं।

३.४ पारिवारिक वर्गीकरण का आधार भाषाओं में पाया जाने वाला ऐतिहासिक संबंध है। भाषाओं में पाई जाने वाली समानता के अनेक कारण होते हैं।

३.५ प्रत्येक भाषा-समुदाय विघटित होकर अनेक समूहों में विभाजित हो जाता है तथा उनकी भाषा अनेक उपभाषाओं में विभाजित हो जाती है। ये उपभाषाएं कालांतर में स्वतंत्र भाषाएं बन जाती हैं। इस प्रकार एक ही भाषा से विकसित अनेक भाषाओं का एक परिवार बन जाता है।

३.६ पारिवारिक वर्गीकरण के सिद्धांत—
स्थान की निकटता, मूल शब्दावली में समानता, व्याकरणात्मक समानता, ध्वन्यात्मक समानता।

३.७ संसार के मुख्य भाषा परिवार हैं—
भारोपीय, सामी, हामी, बांटू, द्रविड़, चीनी-तिब्बती, यूराल, अल्ताई मलय-पालीनेशी, काकेशी, आस्ट्रिक, जापानी-कोरियाई, अमेरीकी।

३.८ भारत के मुख्य भाषा-परिवार हैं : भारोपीय एवं द्रविड़। दो अन्य परिवार हैं चीनी-तिब्बती एवं आस्ट्रिक।

४ भारोपीय परिवार एवं आर्य भाषाएं

- भारोपीय परिवार का महत्व
- भारोपीय परिवार के नाम की समस्या
- भारोपीय भाषा एवं उसका क्षेत्र
- भारोपीय भाषा की संरचना
  - —ध्वन्यात्मक संरचना
  - —व्याकरणात्मक संरचना
- भारोपीय परिवार का विभाजन
  - —केंतुम समुदाय (ग्रीक, इटालिक, केलिटिक, जर्मनिक, तोखारी)
  - —सतम समुदाय (बालटो-सिलाविक, आर्मेनियन, अल्बेनियन, आर्य)
- आर्य उपपरिवार
  - —ईरानी शाखा
  - —दरद शाखा
  - —भारतीय शाखा
- भारतीय भाषाएं
  - —प्राचीन काल
  - —मध्य काल
  - —आधुनिक काल
- आधुनिक आर्य भाषाओं का वर्गीकरण
- आधुनिक आर्य भाषाओं का परिचय

४.१ भारोपीय परिवार का महत्व :

भारोपीय परिवार, जिसे अब कुछ विद्वान 'भारत-हिट्टाईट' कहना अधिक उचित समझते हैं; संसार का सर्वाधिक प्रसिद्ध परिवार है।

इस परिवार की प्रसिद्धि के कई कारण हैं। एक तो यह परिवार बहुत बड़े भू-भाग में फैला हुआ है तथा संसार में सबसे अधिक संख्या इस परिवार की भाषाएं बोलने वालों की है। इसके सिवाय इस पविार में लैटिन, ग्रीक, संस्कृत जैसी भाषाएं हैं, जो साहित्य की दृष्टि से संसार की सबसे अधिक समृद्ध भाषाएं हैं। इस परिवार की सांस्कृतिक परंपरा इतनी उत्कृष्ट है कि और कोई भी परिवार इसकी समानता नहीं कर सकता।

४.२. नाम की समस्या :

नाम की दृष्टि से, आरंभ से लेकर यह परिवार विवादास्पद रहा है। कभी इस परिवार को 'इंडो-जर्मनिक' परिवार कहा गया, क्योंकि भारत एवं जर्मनी इस परिवार की सीमाएं हैं (आज भी जर्मनी में कई विद्वान इसी नाम का प्रयोग करते हैं)। यह नाम इसलिए छोड़ दिया गया क्योंकि इस नाम के कारण यूरोप एवं एशिया की कई भाषाएं इस परिवार के बाहर रह जाती थीं। यही बात 'इंडो-केलिटिक की है।

कुछ दिनों तक इस परिवार का नाम 'आर्य' परिवार चला। यह छोटा एवं किसी सीमा तक उपयुक्त नाम था किंतु इस नाम का भी आगे चलकर परित्याग करना पड़ा क्योंकि इस नाम से यह भ्रामक धारणा उत्पन्न होती थी कि इस परिवार के बोलनेवाले सब आर्य जाति के हैं। आगे चलकर इस परिवार के एक उपपरिवार (भारत-ईरानी) को आर्य कहा जाने लगा, जो अधिक उपयुक्त था।

सैमेटिक, हैमेटिक के समान कुछ दिनों तक इस परिवार को 'जैफेटिक' परिवार भी कहा गया। इसका आधार बाइबिल में किया गया मानव-जाति का वर्गीकरण है। इस नाम का कोई तार्किक आधार नहीं था, इस कारण यह चल ही नहीं पाया।

इस परिवार का सब से अधिक प्रचलित नाम 'भारोपीय' परिवार रहा है। यह नाम भारतीय-यूरोपीय का मिश्रित लघु रूप है। यह नाम भौगोलिक स्थिति पर आधारित है। इसका अर्थ है भारत एवं यूरोप की भाषाओं का समूह। यह नाम भी पूर्ण निर्दोष नहीं है। इस नाम से दो भ्रामक धारणाएं उत्पन्न होती हैं। एक तो यह कि भारत एवं यूरोप में केवल इसी परिवार

की भाषएं बोली जाती हैं। दूसरी यह कि इस परिवार की भाषाएं भारत एवं यूरोप के सिवाय अन्य किसी स्थान पर नहीं बोली जातीं। भारत एवं यूरोप में इस परिवार के सिवाय अन्य परिवारों की भाषाएं भी बोली जाती हैं। भारत में भारोपीय परिवार के अतिरिक्त द्रविड़, चीनी-तिब्बती एवं आस्ट्रिक परिवारों की भाषाएं भी बोली जाती हैं तथा यूरोप में भी इस परिवार के अतिरिक्त अन्य परिवारों की भाषाएं बोली जाती हैं। फिर इस परिवार की भाषाएं भारत एवं यूरोप तक ही सीमित नहीं हैं। एशिया की कई भाषाएं (ईरानी आदि) इसी परिवार की हैं।

कुछ दिनों से इस परिवार के लिए एक नया नाम प्रचलित होने लगा है। यह नाम है 'इंडो-हिट्टाइट' अथवा 'भारत-हित्ती' परिवार। इस नये नाम का आधार है एशिया-माइनर में प्राप्त 'हिट्टाइट' नामक भाषा के अवशेष। ऐसा माना जाता है कि हिट्टाइट मूल भारोपीय भाषा की परवर्ती विकसित भाषा न होकर उसकी समकालीन थी। इस कारण उसे भारोपीय परिवार की एक शाखा नहीं माना जा सकता। यों इंडो-हिट्टाइट नाम भी प्रचलित होने लगा है किंतु अब भी बहुत अधिक प्रयोग 'भारोपीय' नाम का ही होता है।

४.३ मूल भारोपीय भाषा एवं उसका क्षेत्र

वे समस्त भाषाएं, जिनके समूह का नाम 'भारोपीय' (अथवा भारत-हिट्टाइट) परिवार है, वे जिस मूल भाषा से उत्पन्न हुई हैं, उस भाषा की लिखित सामग्री उपलब्ध नहीं है। प्राचीन भाषाओं ग्रीक, लैटिन, संस्कृत के तुलनात्मक अध्ययन के द्वारा, भाषा-वैज्ञानिकों ने उस भाषा की पुनर्रचना (Reconstruction) की है। यही भाषावैज्ञानिकों द्वारा निर्मित-कल्पित भाषा, 'भारोपीय भाषा' कहलाती है।

उस मूल भारोपीय भाषा के स्थान एवं काल के संबंध में विद्वान एकमत नहीं हैं। भारोपीय भाषा एवं उसके बोलनेवालों के मूल स्थान के संबंध में कुछ विद्वानों का विचार है कि वह मूल स्थान भारत था। ये विद्वान प्रायः भारतीय हैं। इन लोगों के मत का आधार प्राचीन भारतीय साहित्य (वेद, पुराण आदि) है। यह मत भाषावैज्ञानिक तथ्यों पर आधारित न होने के कारण तर्कसंगत नहीं है।

भारोपीय भाषा के मूल स्थान को भारत से बाहर माननेवालों में से कुछ इसका मूल स्थान यूरोप में बताते हैं, कुछ एशिया में इसके मूल स्थान की

कल्पना करते हैं। बहुत से विद्वान यूरोप एवं एशिया के बीच की इसकी स्थिति को स्वीकार करते हैं। लोकमान्य तिलक ने उत्तरी ध्रुव के निकट उस मूल स्थान को माना हैं।

अधिकतर विद्वान यह मानते हैं कि ईसा से लगभग ढाई हज़ार वर्ष पूर्व एक जाति (जिसे 'विरोस' कहा जाता है) मध्य एशिया में यूराल-अल्ताई पर्वत के निकटवर्ती मैदान में निवास करती थी। इसी जाति की भाषा मूल भारोपीय भाषा थी। इस जाति की एक शाखा वहां से ईरान की ओर चली गई एवं वहीं बस गई। जहां से फिर एक समूह भारत की ओर चला आया। मध्य एशिया में जो शाखा रह गई थी, वह भी कुछ समय के पश्चात वहाँ से यूरोप की ओर चली गई एवं यूरोप के विभिन्न स्थानों पर इस शाखा के विभिन्न समुदाय बस गए। इस प्रकार मध्य एशिया की एक तरफ भारत एवं दूसरी ओर यूरोप तक उस जाति एवं भाषा का फैलाव हो गया। इसीसे इस परिवार की भाषाएं भारत, एशिया एवं यूरोप में विद्यमान हैं।

४.४ भारोपीय भाषा की संरचना :

भाषावैज्ञानिकों द्वारा निर्मित उस मूल भारोपीय भाषा की ध्वन्यात्मक एवं व्याकरणात्मक संरचना का यहाँ संक्षिप्त परिचय दिया आ रहा है।

४.४.१ ध्वन्यात्मक-संरचना :

(क) स्वर

भारोपीय भाषा में कई प्रकार के स्वर थे तथा उनकी संख्या भी पर्याप्त थी। इस भाषा में पांच ह्रस्व स्वर—अ, इ, उ, ऍ, ऑ, थे। इतने ही दीर्घ स्वर भी थे—आ, ई, ऊ, ए, ओ। एक उदासीन अथवा अतिह्रस्व स्वर था—अ॑। कुछ अन्य ध्वनियां जो स्वरवत प्रयुक्त होती थीं, वे थीं—ॠ, लृ, म्̥, न्̥। इनके भी ह्रस्व एवं दीर्घ दोनों रूप थे। संयुक्त स्वरों की संख्या भी यथेष्ट थी। संयुक्त स्वरों की रचना में प्रथम सदस्य उपर्युक्त ह्रस्व एवं दीर्घ स्वरों में से कोई एक स्वर होता था (इ, उ, ॠ, लृ, म्̥, न्̥ के सिवाय) एवं दूसरा सदस्य इ, उ, ॠ, लृ, म्̥, न्̥—स्वरों में से कोई एक स्वर होता था। यथा—अइ, एउ, ओउ, अॠ आदि।

य, र, ल, व ऐसी ध्वनियां थीं, जिनका प्रयोग आक्षरिक रचना के लिए स्वरवत होता था।

स्वरों में अनुनासिकता का विधान नहीं था।

(ख) व्यंजन

इसमें प वर्ग (प, फ, ब, भ, म), त वर्ग (त, थ, द, ध, न) के अतिरिक्त तीन प्रकार की क वर्गीय ध्वनियां थीं—

(१) क ख ग घ

(२) क्य ख्य ग्य घ्य

(३) क्व ख्व ग्व घ्व

ये समस्त ध्वनियां कंठ से संबंधित थीं। (१) वर्ग की ध्वनियां कंठ्य (२) वर्ग की कंठ-तालव्य एवं (३) वर्ग की कंठोष्ठ्य थीं। संस्कृत में (१) वर्ग की ध्वनियां, स, श, ष—उष्म ध्वनियों में विकसित हुई हैं, (२) वर्ग की ध्वनियों से च वर्ग की ध्वनियों (च, छ, ज, झ) का विकास हुआ है एवं (३) वर्ग की ध्वनियां क वर्ग में विकसित हुई हैं।

भारोपीय		संस्कृत
क, ख, ग, घ	>	स, श, ष
क्य, ख्य, ग्य, घ्य	>	च, छ, ज, झ
क्व, ख्व, ग्व, घ्व	>	क, ख, ग, घ

इसके अतिरिक्त य, र, ल, व, स, ज़, व्यंजन ध्वनियां थीं।

'ह्' के संभवतः दो रूप थे—सघोष एवं अघोष।

संयुक्त व्यंजनों का प्रयोग होता था।

ध्वन्यात्मक संरचना में स्वराघात का महत्व था।

४.४.२ व्याकरणात्मक संरचना :

ऐसा लगता है कि भारोपीय भाषा श्लिष्ट एवं प्रश्लिष्ट के मध्य की थी, जिसमें अर्थ तत्व एवं संबंध तत्व परस्पर घुले-मिले रहते थे।

पद-रचना, धातु में प्रत्यय जोड़कर की जाती थी। पद-रचना जटिल थी।

व्याकरणात्मक शब्द, संज्ञा, क्रिया एवं अव्यय अलग-अलग थे किंतु सर्वनाम एवं विशेषण संज्ञा के ही भाग थे। सर्वनामों में विविधता थी। शब्द-रूपों में तीन पुरुष, तीन-लिंग, तीन वचन एवं आठ कारकों का प्रयोग होता था। शब्दों की समास रचना भी होती थी।

क्रिया के चार काल एवं पांच भाव थे। क्रिया में महत्व, काल की अपेक्षा कार्य की पूर्णता-अपूर्णता की स्थिति की था। क्रियाएं दो प्रकार थीं—आत्मनेपदीय एवं परस्मैपदीय।

व्याकरणात्मक संरचना में सुरों एवं स्वराघात का महत्व था। साथ ही शब्द के मध्य का स्वर-परिवर्तन, रचनात्मक महत्व रखता था।

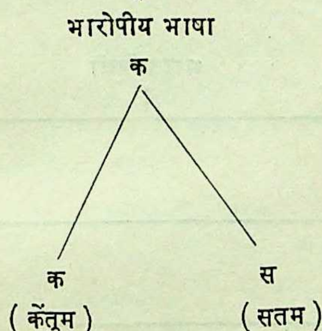
४.५ भारोपीय परिवार का विभाजन :

यद्यपि एक परिवार की समस्त भाषाएं परस्पर संबंधित रहती हैं, तथापि कुछ भाषाएं एक-दूसरे के अधिक निकट होती हैं। इस निकटता के आधार पर एक परिवार को फिर विभिन्न समुदायों, उपपरिवारों, शाखाओं आदि में विभाजित किया जाता है।

४.५.१ भारोपीय परिवार के समुदाय—केंतुम एवं सतम :

भारोपीय परिवार को **'केंतुम'** एवं **'सतम'**, दो समुदायों में विभाजित किया जाता है। इस विभाजन का मुख्य आधार है—कंठ्य ध्वनियों का विकास।

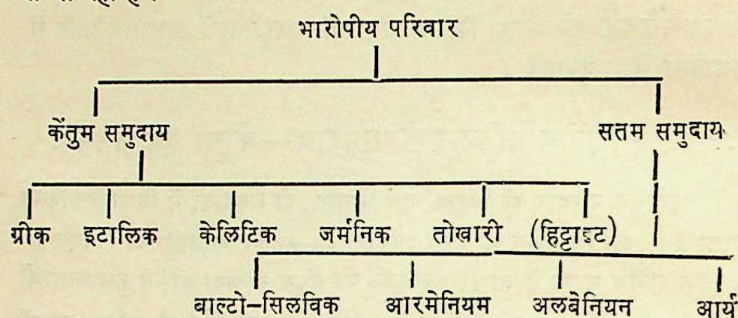
भारोपीय भाषा में जो (१) वर्ग की जो कंठ्य ध्वनियां थीं, वे कुछ भाषाओं में 'क' वर्गीय रहीं (क, ख आदि) पर कुछ अन्य भाषाओं में ये ध्वनियां संघर्षी (स, श, ष) बन गईं। उदाहरणार्थ भारोपीय भाषा का शब्द 'दक' ग्रीक में 'दक' है एवं संस्कृत में 'दश'। वे भाषाएं जिनमें ये ध्वनियां 'क वर्गीय' बना रहीं, उन्हें 'केंतुम' समुदाय में रखा गया एवं जिन भाषाओं में ये ध्वनियां 'संघर्षी 'स', 'श' बन गई थीं उन्हें 'सतम' समुदाय में रखा गया। नीचे की तालिका इस परिवर्तन को स्पष्ट करती है।



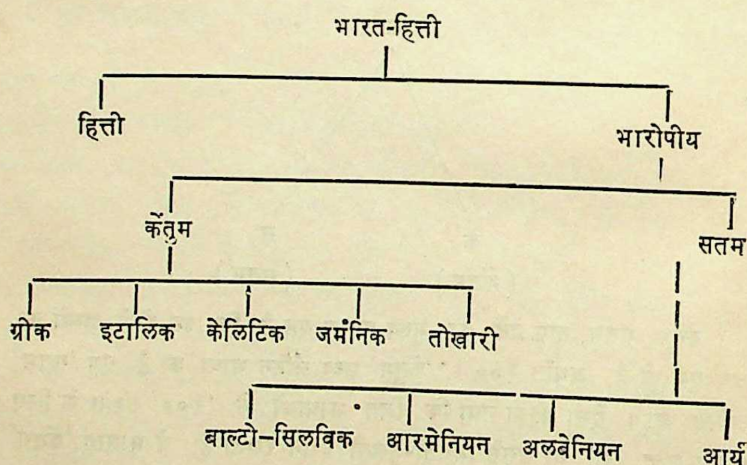
केंतुम, सतम, नाम देने का मुख्य कारण यह है कि इन दोनों शब्दों का अर्थ एक ही है, अर्थात १००। 'केंतुम' शब्द लैटिन भाषा का है एवं 'सतम' अवेस्ता का। ऐसा सोचा गया कि जिन भाषाओं में '१००' संख्या के लिए प्रयुक्त शब्द 'क' या उससे मिलती-जुलती ध्वनि रखता है, वे भाषाएं 'केंतुम'

वर्ग की हुई एवं जिन भाषाओं में '१००' संख्या के लिए प्रयुक्त शब्द में स, श, ध्वनि होगी, वे भाषाएं 'सतम' समुदाय की होंगी। इस प्रकार भारोपीय परिवार की समस्त भाषाएं इन दो समुदायों में बांट दी गई।

ऊपर जिन 'केंतुम' एवं 'सतम' समुदायों का वर्णन किया गया है, उनमें से प्रत्येक समुदाय में अनेक उपपरिवार हैं। नीचे इन उपपरिवारों की तालिका दी जा रही है।



जैसा कि पहले ही बताया गया है कुछ विद्वान 'हिट्टाइट' को एक अलग उपपरिवार मानकर उसे केंतुम समुदाय में गिनते हैं किंतु बहुत से विद्वान उसे भारोपीय परिवार का उपपरिवार न मानकर हिट्टाइट एवं भारोपीय को एक ही भाषा (जिसे इंडो-हिट्टाइट अथवा भारत-हित्ती कहा जा सकता है) के दो समकक्ष वर्ग मानते हैं। इस मत को स्वीकार करने पर तालिका इस प्रकार होगी।



आगामी परिच्छेदों में उपर्युक्त उपपरिवारों का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

४.५.२ कंतुम समुदाय के उपपरिवार :

(क) ग्रीक उपपरिवार

ग्रीक कंतुम समुदाय का प्राचीन एवं प्रसिद्ध उपपरिवार है। इसे 'हेलेनिक' भी कहते हैं। इस उपपरिवार का विस्तार ग्रीस, क्रीट, साइप्रस आदि स्थानों तक है। 'ग्रीक' इस उपपरिवार की सर्वाधिक प्रसिद्ध भाषा है। ग्रीस की संस्कृति एवं वहां का साहित्य बहुत पुराना है। ग्रीक के प्रसिद्ध कवि होमर ने ईसा से लगभग एक हज़ार वर्ष पूर्व 'इलियड' एवं 'ओडिसी' नामक महाकाव्यों की रचना की थी। यूरोप के साहित्य एवं संस्कृति पर ग्रीक के साहित्य एवं वहां की संस्कृति का बड़ा प्रभाव पड़ा है। प्लेटो एवं अरस्तू जैसे महान विचारक एवं सिकंदर जैसे विश्व-विजेता इसी ग्रीस ने उत्पन्न किए हैं।

ग्रीक की अन्य प्रसिद्ध भाषा थी 'एंटिक', जो विकसित होकर 'कोइने' कहलाई। वर्तमान ग्रीक का विकास इसी 'कोइने' से हुआ है। 'डोरक' भी इस उपपरिवार की प्रसिद्ध भाषा थी।

प्राचीन ग्रीक की रचना का संस्कृत से बहुत साम्य है।

(ख) इटालिक उपपरिवार

इटालिक उपपरिवार को 'लैटिन' उपपरिवार भी कहते हैं क्योंकि इस उपपरिवार की सबसे अधिक प्रसिद्ध भाषा लैटिन है। 'लैटिन' रोमन-कैथलिक संप्रदाय की धर्म-भाषा एवं यूरोप की सांस्कृतिक भाषा है। यूरोप में उसका वही स्थान है जो भारत में संस्कृत का है।

ईसा पूर्व ५०० के आस-पास लैटिन के शिला-लेख मिलने लगते हैं।

प्राचीन लैटिन, मध्ययुग में विकसित होकर संपूर्ण रोमन साम्राज्य की राज्य-भाषा बन गई। उसी मध्यकालीन लैटिन से आधुनिक लैटिन का विकास हुआ है।

इस उपपरिवार की प्राचीन भाषाओं 'ओस्कन' एवं 'अम्ब्रियन' का परवर्ती विकास नहीं मिलता।

इस उपपरिवार की अन्य मुख्य भाषाएं हैं—फ्रेंच (फ्रांस), पुर्तगाली (पुर्तगाल), स्पैनिश (स्पेन)।

८

(ग) केलिटिक उपपरिवार

इस उपपरिवार की प्राचीन भाषा केलिटिक थी, जो कभी मध्य यूरोप की मुख्य भाषा थी। आज इसकी परंपरा का पता नहीं लगता। केलिटिक का साहित्य ईसा की पांचवी शताब्दी के आस-पास मिलता है।

इस परिवार की इस समय मुख्य भाषाएं हैं—आयरलैंड की 'आयरिश' एवं वेल्स की भाषा 'वेल्श'।

इसके अतिरिक्त मानद्वीप की 'मान', स्कॉटलैंड, की 'स्कॉच', ब्रिटेन एवं फ्रांस में बोली जाने वाली 'ब्रिटेनी' एवं प्राचीन भाषा 'गाल' भी इसी उपपरिवार की भाषाएं हैं।

(घ) जर्मनिक उपपरिवार

भारोपीय परिवार का यह एक अत्यंत महत्वपूर्ण उपपरिवार है। इस उपपरिवार को 'टयूटानिक' भी कहते हैं। अंग्रेज़ी इसी उपपरिवार की भाषा है, जो प्रयोग की दृष्टि से आज विश्व की सबसे महत्वपूर्ण भाषा है।

इस उपपरिवार की सबसे प्राचीन भाषा 'गाथिक' है जो आज लुप्तप्राय: है। गाथिक की सबसे प्राचीन रचना (बाइबिल का अनुवाद) ईसा की चौथी शताब्दी की है।

इस उपपरिवार की अन्य प्रसिद्ध भाषाएं हैं—जर्मन (जर्मनी), डेनिश (डेनमार्क) नार्वेयन (नार्वे), स्वेडिश (स्वीडेन), डच (नीदरलैंड)। इस उपपरिवार की प्रसिद्ध भाषा अंग्रेज़ी का विकास निम्न जर्मन की एक शाखा आंग्ल-सेक्सन से हुआ है।

इस उपपरिवार की अनेक भाषाएं, साहित्य की दृष्टि से संसार की प्रसिद्ध भाषाएं हैं।

इस उपपरिवार की भाषाओं में भारोपीय भाषा की ध्वनियों का महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ था; जिस परिवर्तन के आधार पर ग्रिम, ग्रासमैन एवं वर्नर के ध्वनि-नियम आधारित हैं।

(ङ) तोखारी उपपरिवार

कॆंतुम समुदाय के इस उपपरिवार का पता बीसवी शताब्दी में तब लगा जब पूर्वी तुर्किस्तान से प्राप्त कुछ पत्रों एवं ग्रंथों का अध्ययन किया गया। इस अध्ययन से ज्ञात हुआ कि यह भाषा भारोपीय परिवार की भाषा थी।

इस भाषा को बोलनेवाली जाति 'तोखार' अथवा 'तोषार' कही जाती है,

इस कारण इस भाषा को 'तोखारी' कहा गया है।

तोखारी में प्राप्त सामग्री ईसा की प्रथम शताब्दी से भी पूर्व की है।

स्थान की निकटता के फलस्वरूप, तोखारी पर यूराल-अल्ताई भाषाओं का प्रभाव स्पष्ट रूप से लक्षित होता है।

ऐसा माना जाता है कि यह भाषा ७वीं शताब्दी के निकट समाप्त हो गई।

हिट्टाइट अथवा हित्ती उपपरिवार

२०वीं शताब्दी के आरंभ में, एशिया माइनर के बोगाज़कुई गांव की खुदाई से कुछ ऐसी सामग्री प्राप्त हुई जिससे हिट्टाइट अथवा हित्ती भाषा का पता लगा। यह सामग्री मिट्टी की चौड़ी पट्टिकाओं पर कीलाक्षरों से लिखे अभिलेख हैं, जिनका समय ईसा पूर्व २००० के लगभग आंका गया है।

इस भाषा पर यद्यपि सैमेटिक परिवार की सुमेरीयन एवं अक्केडीयन भाषाओं का बहुत अधिक प्रभाव दृष्टिगोचर होता है तथापि यह भाषा निश्चित रूप से भारोपीय परिवार की भाषा है क्योंकि भारोपीय भाषा की कुछ विशेषताएं केवल हित्ती में ही दिखाई पड़ती हैं। इसकी प्राचीनता के कारण ही कुछ भाषा-वैज्ञानिक उसे भारोपीय भाषा का समकालीन मानते हैं।

४.५.३ सतम समुदाय के उपपरिवार :

(च) बाल्टो-सिलविक उपपरिवार

इस उपपरिवार की भाषाएं, मुख्य रूप से चेकोस्लोवाकिया, पोलैंड, बुलगेरिया में बोली जाती हैं।

कुछ विद्वान 'बाल्टो' एवं 'सिलविक' को दो अलग-अलग परिवार मानने हैं किंतु बहुत से विद्वान इन्हें एक ही परिवार की दो शाखाएं मानते हैं।

'बाल्टो' शाखा की मुख्य भाषाएं हैं—लिथुआनियन एवं लेटिश। इनमें से लिथुआनियन भारोपीय परिवार की सबसे प्राचीन भाषा गिनी जाती है (यदि हित्ती को भारोपीय भाषा के समकालीन मानें तो)। लिथुआनियन में भारोपीय भाषा की बहुत-सी विशेषताएं सुरक्षित हैं।

'सिलविक' शाखा की मुख्य भाषा है 'रूसी'। इस शाखा की अन्य प्रसिद्ध भाषाएं हैं—'चेक' एवं 'पोलिश'। ईसा की नवीं शताब्दी के निकट इस शाखा की कुछ साहित्यिक रचनाएं उपलब्ध होती हैं।

(छ) आर्मेनियन उपपरिवार

आरमेनिया की भाषा आरमेनियन है । यह भाषा, भारोपीय परिवार के 'सतम' समुदाय की होने के कारण, आर्य परिवार के निकट है; साथ ही यह भाषा सामी परिवार की भाषाओं से प्रभावित है। इस भाषा पर ईरानी का भी यथेष्ट प्रभाव है ।

आरमेनियन के प्राचीन साहित्य का पता नहीं लगता, जो साहित्य मिल रहा है वह १०वीं–११वीं शताब्दी का है ।

(ज) अल्बेनियन उपपरिवार

भारोपीय परिवार की यह एक ऐसी भाषा है जो बहुत से परिवारों की बहुत-सी भाषाओं से प्रभावित है। इस भाषा पर लैटिन, ग्रीक के अतिरिक्त तुर्की, अरबी, फ़ारसी का भी प्रभाव है । इस भाषा का सत्रहवीं शताब्दी से पूर्व का साहित्य प्राप्त नहीं होता ।

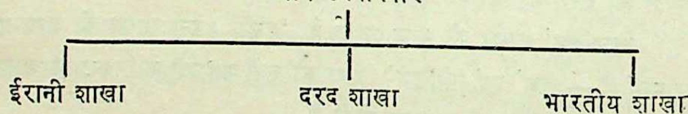
(झ) आर्य उपपरिवार

'आर्य' सतम समुदाय का सबसे महत्वपूर्ण उपपरिवार है । इस उपपरिवार की संस्कृत भाषा संसार की अत्यंत प्राचीन भाषाओं में से एक है । विश्व में जो स्थान लैटिन एवं ग्रीक का है, वही स्थान संस्कृत का है । साहित्य की दृष्टि से यह भाषा संभवतः संसार की श्रेष्ठतम भाषा है ।

इस उपपरिवार को तीन शाखाएं हैं—ईरानी, दरद एवं भारतीय । इस उपपरिवार से हमारी हिंदी का संबंध है; आगामी परिच्छेद में इस उपपरिवार का अधिक विस्तृत वर्णन किया जा रहा है ।

४.६ आर्य उपपरिवार :

यह पहले ही बताया जा चुका है कि भारोपीय भाषा बोलनेवाली 'विरोस' जाति का एक समूह अपना मूल-स्थान छोड़कर ईरान की ओर चला गया। इस समूह के लोग अपने को आर्य कहते थे । निस्संदेह 'ईरान' 'आर्य' शब्द से विकसित हुआ है । इसी समूह का एक भाग कालांतर में भारत की ओर चला आया । भारत की ओर आनेवाले इन आर्यों में से कुछ ईरान एवं भारत के मध्य के दरदस्तान अर्थात पर्वतीय प्रदेश में ही रह गए । इस प्रकार आर्य-कुल की तीन शाखाएं हैं—ईरानी शाखा, दरद शाखा एवं भारतीय शाखा ।



४.६.१ ईरानी शाखा :

ईरानी भाषाओं की तीन अवस्थाएं हैं—प्राचीन भाषाएं, मध्यकालीन भाषाएं एवं आधुनिक भाषाएं।

प्राचीन काल का समय ईसा से ४–५ शताब्दी पूर्व तक माना जाता है। इस काल की प्रमुख भाषाएं हैं—'अवेस्ता' एवं 'प्राचीन फारसी'। अवेस्ता की प्राचीनतम रचना का नाम भी 'अवेस्ता' ही है। यह ईरानियों का धर्मग्रंथ है। भारत में जो आदर वेदों को दिया जाता है वैसा ही आदर ईरानी 'अवेस्ता' को देते हैं। 'अवेस्ता' एवं भारत की प्राचीनतम रचना ऋग्वेद की भाषा में बहुत अधिक साम्य है। 'अवेस्ता' पर लिखी गई टीका 'ज़िंद' की भाषा भी प्राचीन काल के अंतर्गत आती है।

ईरानी का मध्यकाल, ईसा की पहली-दूसरी शताब्दी से आरंभ होता है। इस काल की प्रसिद्ध भाषा 'पहलवी' है; जिसका विकास प्राचीन फ़ारसी से हुआ है।

ईरानी का आधुनिक काल ९–१० शताब्दी के आस-पास शुरू होता है। आधुनिक ईरानी में लिखा फिरदौसी का 'शाहनामा' संसार के प्रसिद्ध महाकाव्यों में से एक है। आधुनिक ईरानी (जिसे फारसी कहा जाता है) पर अरबी एवं तुर्की का बहुत प्रभाव पड़ा है। आधुनिक ईरानी या फारसी के अतिरिक्त, ओसेती, कुर्दी, पश्तो एवं बिलोची भी आधुनिक ईरानी की ही बोलियां हैं।

४.६.२ दरद शाखा :

'दरद' का अर्थ 'पर्वत' है। अतः दरद शाखा की भाषाएं पर्वतीय प्रदेश में बोली जाती हैं। पामीर के दक्षिण-पूर्व एवं पंजाब के पश्चिमोत्तर में इस शाखा की भाषाएं बोली जाती हैं।

इस शाखा की 'शीना' भाषा प्राचीन दरद का प्रतिनिधित्व करती है। 'कश्मीरी' इस शाखा की प्रसिद्ध भाषा है। 'कश्मीरी' में संस्कृत के शब्द बहुत अधिक मात्रा में हैं। १४वीं शताब्दी से कश्मीरी का साहित्य मिलने लगता है।

४.६.३ भारतीय शाखा :

भारतीय शाखा आर्य कुल की सबसे अधिक महत्वपूर्ण शाखा है। हिंदी का इसी शाखा से संबंध है, अतः आगामी परिच्छेद में इसका विस्तृत वर्णन किया जा रहा है।

४.७ भारतीय भाषाएं :

भारतीय आर्य भाषाओं का इतिहास लगभग साढ़े तीन हज़ार वर्षों का इतिहास है अर्थात भारतीय आर्य भाषाओं का इतिहास ईसा से लगभग १५०० वर्ष पूर्व से आरंभ होता है।

भाषागत विशेषताओं एवं विभिन्नताओं के कारण इस दीर्घ काल को तीन विकास-खंडों में विभक्त किया जाता है।

प्राचीन काल (ईसा पूर्व १५०० से ई० पू० ५०० तक)
मध्य काल (ईसा पूर्व ५०० से १००० ई० तक)
आधुनिक काल (ईसा १००० से अब तक)

४.७.१ प्राचीन काल (प्राचीन भारतीय आर्य भाषाएं) :

भारतीय आर्य-भाषाओं का प्राचीन काल ईसा पूर्व १५०० से ई० पू० ५०० तक माना जाता है। इस काल को वैदिक-संस्कृत अथवा केवल संस्कृत काल भी कहा जा सकता है। विकास की दृष्टि से इस काल की भाषा के दो रूप हैं—वैदिक भाषा अथवा वैदिक संस्कृत तथा संस्कृत अथवा लौकिक संस्कृत। वैदिक संस्कृत वेदों की भाषा का नाम है, जिसका प्राचीनतम रूप ऋग्वेद में है। ऋग्वेद संभवतः संसार की प्राचीनतम प्रामाणिक रचना है। वेदों की रचना विभिन्न समयों में, विभिन्न स्थानों पर, विभिन्न ऋषियों द्वारा हुई है, इस कारण वेदों की भाषा में विविधता है। वेदों की भाषा साहित्यिक एवं लोक-भाषा का मिश्रित रूप है।

वैदिक भाषा का दूसरा रूप, वेदों की परवर्ती रचनाओं ब्राह्मणग्रंथों एवं उपनिषदों में मिलता है। इन रचनाओं की भाषा, वैदिक भाषा से स्पष्ट रूप से परिवर्तित लगती है।

वैदिक भाषा का युग ई० पू० १००० तक माना जाता है। इस समय तक आर्यों की सत्ता मध्य देश में स्थापित हो चुकी थी और वे अब पूर्व एवं दक्षिण की ओर अग्रसर हो रहे थे। इससे जहां आर्यों की सत्ता का विस्तार हुआ, वहां आर्यों की भाषा में भी काफी विकास हुआ; अर्थात विभिन्न स्थानीय भाषाओं के संपर्क से भारतीय आर्यों की भाषा के विभिन्न स्थानीय रूप बनने लगे। यह स्थिति लगभग ऐसी ही थी, जैसी कि आज हिंदी की है। आज विभिन्न क्षेत्रीय भाषाओं के संपर्क से हिंदी के विविध रूप विकसित हो रहे हैं। आज केवल पूर्वी हिंदी एवं पश्चिमी हिंदी जैसे रूप ही नहीं हैं; बंबइया हिंदी, पंजाबिया

हिंदी, गुजराती हिंदी जैसे रूप भी पनप रहे हैं। आर्य भाषा की उस बढ़ती हुई भिन्नता से चिंतित होकर पाणिनि ने वैदिक भाषा का परिनिष्ठीकरण किया (पाणिनि का संस्कृत व्याकरण 'अष्टाध्यायी')। इससे उसका एक रूप स्थिर हो गया एवं वह संस्कार-युक्त होकर संस्कृत कहलाई। आर्य पश्चिमोत्तर से पूर्व एवं दक्षिण की ओर बढ़े थे, अतः आर्य-भाषा के पूर्वी एवं दक्षिणी रूप ही स्थानीय भाषाओं के प्रभाव से अधिक प्रभावित थे। इसलिए पाणिनि ने संस्कृत के उदीच्य अर्थात उत्तरी रूप को आदर्श रूप स्वीकार किया एवं अन्य रूपों को 'शिष्ट प्रयोग' से बाहर अथवा अपवादों के भीतर रखकर प्राचीद आर्य भाषा को ऐसी स्थिरता प्रदान की कि वह जन-भाषा न बनकर देव-भाषा बन गई।

यद्यपि संस्कृत का काल ईसा से पूर्व ५०० तक ही माना जाता है तथापि संस्कृत का प्रचार, प्रसार एवं प्रभाव आज तक है।

प्राचीन आर्य भाषा की विशेषताएं

प्राचीन आर्य भाषा में १३ स्वर ध्वनियां थीं; जिसमें से ९ मूल स्वर थे (अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ एवं ऌ) तथा ४ संध्य स्वर थे (ए, ऐ, ओ, औ)। 'ऐ' एवं 'औ' का उच्चारण क्रमशः 'आई' एवं 'आउ' होता था। भाषा में स्वराघात का महत्व था, जो तीन प्रकार का होता था (उदात्त, अनुदात्त एवं स्वरित)। प्राचीन काल की भाषा में अपश्रुति का प्रयोग होता था, अर्थात शब्दों के मध्य स्वरों के परिवर्तन से अर्थ परिवर्तित हो जाता था (उदाहरणार्थ, 'अप्नोमि' 'मैं प्राप्त करता हूं', 'आप्नुमः' 'हम प्राप्त करते हैं)।

व्यंजनों के पांच वर्ग बन चुके थे। कवर्ग, चवर्ग (भारोपीय भाषा के एक कवर्ग का विकास), टवर्ग (संभवतः आर्येतर प्रभाव के कारण) तवर्ग एवं पवर्ग। इनके अतिरिक्त चार अर्धस्वर (य, र, ल, व) एवं तीन उष्म (श, ष, स) तथा एक महाप्राण (ह) ध्वनियां थीं। एक अनुनासिक (ं) एवं एक विसर्ग ध्वनि(:) भी थी। वैदिक भाषा में लुंठित ळ, ळ्ह, जिह्वामूलीय ४ एवं उपध्मानीय फ़ जैसी ध्वनियां थीं जो संस्कृत में लुप्त हो गईं।

शब्दों के रूप लिंग (तीन), वचन (तीन) एवं कारक (आठ) के आधार पर बनते थे। विशेषण संज्ञा के समान ही परिवर्तित होते थे। सर्वनामों के रूपों में यथेष्ट विविधता थी। शब्द-निर्माण में प्रत्ययों का प्रयोग होता था। शब्दों की सामासिक रचना का विधान था।

क्रिया-रूपों का परिवर्तन वचन (तीन), पुरुष (तीन), पद (दो-आत्मने, परस्मै), काल—जिन्हें लकार कहते थे—(दस), वाच्य (तीन) के आधार पर होता था। धातुओं के विभिन्न समूह थे—जिन्हें गण (दस) कहते थे। क्रिया का रूपांतर भी प्रत्ययों के द्वारा होता था, जो अनेक थे। शब्द-प्रत्यय एवं क्रिया-प्रत्यय अलग-अलग थे।

प्राचीन भाषा शब्द-भंडार की दृष्टि से समृद्ध थी तथा उसमें नवीन शब्दों के निर्माण की असीम शक्ति थी।

४.७.२. मध्य काल (मध्य कालीन भारतीय आर्य भाषाएं) :

मध्यकालीन आर्यभाषाओं की अवधि ई० पू० ५०० से १००० ई० तक मानी जाती है। विकास की दृष्टि से इस काल के तीन सोपान माने जाते हैं। प्रथम सोपान ई० पू० ५०० से ईसा की प्रथम शताब्दी तक, द्वितीय सोपान ईसा की प्रथम शताब्दी से ५०० तक और तृतीय सोपान ५०० ई० से १००० ई० तक।

साधारण रूप से प्रथम सोपान को 'पालि काल', द्वितीय सोपान को 'प्राकृत काल' एवं तृतीय सोपान को 'अपभ्रंश काल' कहा जाता है। कुछ विद्वान इस पूरे मध्ययुग को 'प्राकृत काल' कहकर पालि को 'प्रथम-प्राकृत', प्राकृतक को द्वितीय अथवा 'साहित्यिक प्राकृत' एवं अपभ्रंश को 'तृतीय प्राकृत' कहना उचित समझते हैं। इसका कारण यह है कि संस्कृत शिष्ट जनों की परिनिष्ठित एवं साहित्यिक भाषा थी। संस्कृत के सिवाय बाकी जो भी भाषाएं थीं वे संस्कार युक्त न होने के कारण मूल अथवा प्राकृत थीं।

४.७.२.१. प्रथम सोपान-पालि अथवा प्रथम प्राकृत :

भारतीय आर्य-भाषा का मध्यकाल, भगवान बुद्ध द्वारा 'जन-भाषा' में दिए गए वचनों से आरंभ होता है। यहां 'जन-भाषा' 'पालि' अथवा 'प्रथम प्राकृत' कहलाती है।

'पाली' शब्द की व्युत्पत्ति के संबंध में अनेक धारणाएं हैं। यहां कुछ का उल्लेख किया जाता है।

पालि < पंक्ति (बुद्ध के वचनों की पंक्ति-पंक्तियां)
पालि < पल्लि (अर्थात ग्राम अथवा ग्रामीण भाषा)
पालि < पाटलिपुत्र (मगध की भाषा होने के कारण ऐसा अनुमान किया गया)

पालि<परियाय (= प्रवचन)

पालि<पाइल<प्राकृत

सबसे अधिक मान्य एवं तर्कपूर्ण व्युत्पत्ति यह है कि 'पालि' 'पा–' धातु (= रक्षा करना) में '—लि' प्रत्यय लगाकर बनाया गया शब्द है, जिसका अर्थ होता है 'रक्षा करती है'। पालि से बुद्ध भगवान के वचनों की रक्षा हुई है, इसमें कोई संदेह नहीं।

पालि के क्षेत्र के संबंध में भी बड़ा विवाद है। समान्य धारणा यह है कि भगवान बुद्ध के वचनों की वाणी होने के कारण उसका क्षेत्र मगध रहा होगा, किंतु पाली एवं मागधी के लक्षणों में अंतर है। पूर्व में प्राप्त अशोक के मागधी शिलालेखों से भी पालि भिन्न है। पालि के लिए जिन अन्य क्षेत्रों की कल्पना की गई है, वे है कलिंग (इसका आधार कलिंग में प्राप्त खंडगिरि के अभिलेखों से पालि की समानता है) उज्जैन (इसका आधार अशोक के पुत्र महेंद्र का उज्जैन में हुआ पालन-पोषण एवं महेंद्र के द्वारा ही बुद्ध-वचनों का संग्रह त्रिपिटक' सिंहल ले जाना है), विंध्य प्रदेश (इसका कारण पालि में प्राप्त विंध्य प्रदेश की भाषा पैशाची की विशेषताएं हैं)। अधिक मान्य यह है कि पालि मध्य देश की भाषा पर आधारित साहित्यिक भाषा थी।

संस्कृत से पालि में हुए परिवर्तनों को समझने से आधुनिक हिंदी के विकास को समझने में सुविधा होगी। संस्कृत से जो पालि में परिवर्तन हुए, उन्हें देखने से ज्ञात हो जाता है कि आधुनिक आर्य भाषाओं के विकास के बीज पालि में ही पड़ चुके थे। इन परिवर्तनों में सरलीकरण की प्रवृत्ति विद्यमान है। यहां पालि में हुए कुछ महत्वपूर्ण परिवर्तनों का उल्लेख किया जाता है। संस्कृत के 'ऐ', 'औ' संध्य अक्षर पालि में मूल स्वर 'ए' 'ओ' में परिवर्तित हो गए। ऋ, लृ, जैसी ध्वनियां समाप्त हो गई। तीन उष्म ध्वनियों (श, ष, स) के स्थान पर केवल 'स' रह गई। स्वराघात का प्रयोग समाप्त हो गया। संयुक्त व्यंजनों का प्रयोग समाप्त प्राय: हो गया।

शब्द रूपों में सरलता बढ़ी, किंतु इससे शब्द रूपों में अनेकता आ गई। शब्द व्यंजनांत न होकर स्वरांत हो गए। तीन वचनों के बदले दो वचनों का प्रयोग होने लगा; आठ कारकों के स्थान पर छह कारक रह गए; लकारों की संख्या दस से घटकर आठ रह गई एवं पदों में से आत्मनेपद का लोप हो गया।

४.७.२.२ अभिलेखीय प्राकृत

मध्यकाल के प्रथम सोपान (पालि युग) एवं द्वितीय सोपान (प्राकृत युग)

के मध्य जो अन्य भाषा के नमूने मिलते हैं, उनमें महाराजा अशोक के अभिलेख (शिलालेख, स्तंभलेख आदि) की भाषा महत्वपूर्ण है। ये अभिलेख भारत के पूर्वी, मध्यदेशीय एवं पश्चिमोत्तरी भागों में प्राप्त होते हैं। यद्यपि समस्त अभिलेखों पर पूर्वी भाषा का प्रभाव लक्षित होता है तथापि ये अभिलेख स्थानीय भाषा-रूपों की प्रामाणिक सामग्री प्रस्तुत करते हैं। इनमें से मुख्य अभिलेख हैं, शहबाज़गढ़ी, मानसैरा (पश्चिमोत्तर भाग), गुजरात के गिरनार, मसूरी के निकट कालसी (मध्य भाग) एवं कलिंग (पूर्वी भाग) में पाए जानेवाले अभिलेख। इन अभिलेखों से स्थानीय भाषा-रूपों (पश्चिमोत्तरी, मध्यदेशीय एवं पूर्वी का ज्ञान होता है।

इन अभिलेखों की भाषागत विशेषताएं पालि के समान ही हैं। दोनों में अंतर यह है कि पालि जहां परिनिष्ठित, इस कारण एकरूपी भाषा है, वहां अभिलेखों की भाषा संबंधित स्थानीय भाषाओं की अभिव्यक्ति करती है।

पालि के समान ही अभिलेखों की भाषा में भी सरलीकरण की प्रवृत्ति विद्यमान है।

४.७.२.३ अश्वघोषीय प्राकृत एवं निय प्राकृत :

इसी काल की दो अन्य प्राकृतों का उल्लेख करना आवश्यक है। इनमें से एक है घोष के नाटकों की प्राकृत, जिसमें भी अभिलेखीय प्राकृत के समान पश्चिमोत्तरी, मध्यदेशीय एवं पूर्वी भाषाओं के रूप मिलते हैं।

एशिया के 'निय' प्रदेश में प्राप्त कुछ पत्रों की भाषा 'निय प्राकृत' कही जाती है। इसका मूल ढांचा 'पश्चिमोत्तरी' प्राकृत के ढंग का है, किंतु भौगोलिक स्थिति के कारण उस पर निकटवर्ती भाषाओं ईरानी, तुखारी आदि का भी प्रभाव दिखाई पड़ता है।

४.७.२.४ द्वितीय सोपान–प्राकृत अथवा साहित्यिक प्राकृत :

मध्यकाल के द्वितीय सोपान (ईसा के प्रथम ५०० वर्षों) को 'प्राकृत-काल' की संज्ञा दी जाती है। 'प्राकृत' शब्द का संबंध 'प्रकृति' से है, जिसका अर्थ है 'साधारण', 'मूल', 'अकृत्रिम' आदि। इस दृष्टि से संस्कृत, संस्कार-युक्त एवं कृत्रिम थी जबकि प्राकृत संस्कार-मुक्त एवं अकृत्रिम थी। संस्कृत आचार्यों की भाषा थी एवं प्राकृत जनसाधारण की। 'प्राकृत' की एक व्युत्पत्ति प्राक् + कृत = 'पहले की' भी मानी जाती है; जिसका अर्थ यह लिया जाता है कि वह संस्कृत

से भी पहले की थी एवं उसका ही संस्कार-युक्त रूप संस्कृत है। यों 'प्राकृत' शब्द का प्रयोग संपूर्ण मध्यकाल की भाषाओं के लिए भी किया जाता है किंतु मध्यकाल के द्वितीय सोपान की भाषाओं के लिए 'प्राकृत' शब्द एक प्रकार से रूढ़ हो गया है। इन भाषाओं का प्रयोग संस्कृत-रचनाओं में भी मिलता है, जहां इनका प्रयोग कम शिष्ट एवं निम्नश्रेणी के व्यक्ति करते हैं।

इस विवेचन से ऐसा बोध होता है कि ये भाषाएं संस्कृत की अपेक्षा असंस्कृत भाषाएं थीं किंतु मध्यकाल के दूसरे सोपान की जिन प्राकृत भाषाओं का विवेचन किया जाता है वे वास्तव में साहित्यिक भाषाएं बन चुकी थीं। यही कारण है कि इस दूसरे सोपान को प्राकृत काल अथवा साहित्यिक प्राकृत काल कहा जाता है।

४.७.२.५ प्राकृत के भेद :

प्राकृत भाषाओं के, अनेक दृष्टियों से, अनेक भेद किए जाते हैं, किंतु उनके प्रसिद्ध भेद हैं—मागधी, अर्धमागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री एवं पैशाची। प्राकृतों का विवेचन करनेवाले प्रथम आचार्य 'वररुचि' ने अर्धमागधी का उल्लेख नहीं किया है। हेमचंद्र ने अर्धमागधी (आर्ष) के साथ एक 'शूलिका पैशाची' का भी वर्णन किया है। नीचे इन प्राकृतों का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

(क) मागधी प्राकृत

मागधी मूल रूप से मगध की भाषा थी। देश के पूर्वी भाग में स्थित होने के कारण, यह अपनी अन्य समकालीन भाषाओं से अधिक परिवर्तित थी। 'र' ध्वनि का अभाव ('र' के स्थान पर 'ल' का प्रयोग) एवं समस्त उष्म ध्वनियों के स्थान पर केवल 'श' (स, श, ष > श) का प्रयोग, मागधी की निजी विशेषताएं हैं।

मागधी का प्रयोग प्रायः संस्कृत नाटकों में ही मिलता है (कम शिष्ट पात्रों द्वारा प्रयुक्त)। उसकी अपनी साहित्यिक रचनाओं का अभाव सा है।

(ख) शौरसेनी प्राकृत

शूरसेन प्रदेश (मथुरा का निकटवर्ती प्रदेश) की भाषा शौरसेनी कहलाती है। यह मध्य-देश की भाषा होने के कारण, अन्य प्राकृतों की अपेक्षा कम परिवर्तित है, इसलिए संस्कृत से इसकी समीपता और प्राकृतों की अपेक्षा अधिक है। आधुनिक हिंदी (पश्चिमी) के विकास के सूत्र मुख्य रूप से शौरसेनी

प्राकृत से ही जुड़े हुए हैं। इस भाषा का प्रयोग भी संस्कृत नाटकों में ही मिलता है।

(ग) अर्धमागधी प्राकृत

अर्धमागधी, मागधी एवं शौरसेनी प्राकृत के मध्य भाग की भाषा है। इसी कारण इसमें मागधी एवं शौरसेनी दोनों प्राकृतों की कुछ विशेषताएं प्राप्त हो जाती हैं।

अर्धमागधी जैन आचार्यों के धर्मोपदेश एवं शास्त्र-रचना की भाषा थी। वे इसे 'आर्षी' कहते थे तथा इसे समस्त भाषाओं की आदि भाषा मानते थे।

अर्धमागधी की मुख्य विशेषताएं हैं—र, ल दोनों ध्वनियों का प्रयोग; तीन उष्म ध्वनियों (स, श, ष) के स्थान पर एक ही 'स' ध्वनि का प्रयोग तथा स्वर मध्यग 'य' श्रुति का प्रयोग (सागर > सायर)।

(घ) महाराष्ट्री प्राकृत

महाराष्ट्री प्राकृत, समस्त प्राकृतों में विकसित एवं साहित्यिक भाषा है। वैयाकरणों ने इसे सब प्राकृतों में मुख्य एवं आदर्श माना है। इसी के वर्णन के संदर्भ में अन्य प्राकृतों का वर्णन किया गया है।

'सेतुबंध', 'गाहा सत्तसई' जैसी रचनाएं महाराष्ट्री प्राकृत में ही हैं।

महाराष्ट्री के संबंध में मुख्य समस्या यह है कि वह किस स्थान की भाषा थी। नाम से ऐसा बोध होता है कि वह वर्तमान महाराष्ट्र की भाषा रही होगी। इसकी पुष्टि इस बात से की जाती है कि वर्तमान मराठी के विकास के बीज महाराष्ट्री प्राकृत में विद्यमान हैं। किंतु महाराष्ट्री प्राकृत एवं शौरसेनी प्राकृत में बहुत अधिक समानता है। इसके अतिरिक्त एक बात और भी है। आरंभ से लेकर, मध्य देश की भाषा प्रमुख रही है। इससे ऐसा लगता है कि 'महाराष्ट्र' शब्द एक प्रदेश विशेष का द्योतक न होकर, उस बड़े भू-भाग अर्थात राष्ट्र (महा + राष्ट्र) का द्योतक है, जो विंध्य पर्वत के उत्तर में फैला हुआ है। अतः 'महाराष्ट्री' से तात्पर्य उस बड़े भाग की मध्यदेशीय भाषा से है। ऐसी स्थिति में प्रश्न उठता है कि मध्य देश की भाषा तो शौरसेनी थी, फिर महाराष्ट्री कैसे मध्य देश की भाषा होगी ? इस प्रश्न का उत्तर यह हो सकता है कि शौरसेनी एवं महाराष्ट्री में कालगत अंतर है, स्थानगत नहीं। महाराष्ट्री शौरसेनी का ही परवर्ती विकसित रूप है। इस बात की पुष्टि भाषावैज्ञानिक प्रमाण से होती है। स्वर मध्यग व्यंजन लोप का जो परिवर्तन महाराष्ट्री में पूर्ण हो गया है, वह शौरसेनी में अपूर्ण अवस्था में मिलता है। शौरसेनी में

स्वर मध्यग अघोष व्यंजन ध्वनि, सघोष में परिवर्तित होकर सुरक्षित है, किंतु महाराष्ट्री में स्वर मध्यग व्यंजन ध्वनि पूर्ण रूप से लुप्त हो गई है। शौरसेनी में स्वर मध्यग महाप्राण व्यंजन भी अभी सुरक्षित हैं किंतु महाराष्ट्री म, उस स्थिति में भी व्यंजन लुप्त हो गया है, केवल प्राणत्व रह गया हैं। उदाहरणार्थ संस्कृत 'कथयतः' > शौरसेनी 'कधेदु' > महाराष्ट्री 'कहेउ'।

(ङ) पैशाची प्राकृत

भारत के सुदूर पश्चिमोत्तर भाग में बोली जानेवाली भाषा को पैशाची प्राकृत का नाम दिया गया है। इस प्राकृत में साहित्य की रचना न के बराबर है। जिस एक रचना गुणाढ्य की 'बड्डकहा' (वृहत्कथा) का उल्लेख किया जाता है, उसका भी पैशाची में मूल पाठ नहीं मिलता।

वैयाकरणों ने पैशाची की एक मुख्य विशेषता यह बताई है कि उसमें स्वर मध्यग स्पर्श व्यंजनों का लोप नहीं होता। यों गुणाढ्य की उपर्युक्त रचना 'बड्डकहा' में 'त' व्यंजन का लोप है (—कथा > –कहा)।

४.७.२.६ प्राकृत की सामान्य विशेषताएं :

प्राकृत में हुए परिवर्तनों को देखने से ज्ञात होता है कि उनकी दिशाएं प्रायः वही हैं, जिनका सूत्रपात मध्यकाल के प्रथम सोपान अर्थात 'पालि' के समय हो चुका था।

जिन ध्वनियों का प्रयोग पालि में नहीं हुआ (ऋ, लृ आदि) उनका प्राकृत में भी अभाव रहा, साथ ही पालि में प्रयुक्त ध्वनियां (ळ, ळह) प्राकृत में भी प्रयुक्त हुई (कुछ अपवाद छोड़कर)। उष्म ध्वनियों के प्रयोग में भिन्नता है। कहीं केवल 'श' का प्रयोग होता है (यथा, मागधी में) एवं कहीं केवल 'स' का (अन्य प्राकृतों में)। न' का विकास 'ण' में होता हुआ दिखाई पड़ता है। सबसे महत्वपूर्ण परिवर्तन था स्वर मध्यग सघोष व्यंजनों का लोप (विशेषकर महाराष्ट्री में)।

व्यंजनांत शब्दों का प्रायः अभाव है। कारकों में कमी के कारण शब्द-रूपों में कमी हुई; वचन दो ही रहे। पालि के समान ही स्वराघात का प्रयोग नहीं था। आत्मनेपद समाप्तप्राय था। लकारों की संख्या में कमी हुई। तद्भव शब्दों की संख्या बहुत बढ़ गई। देशज शब्दों का विकास होने लगा।

इस प्रकार आधुनिक आर्य भाषाओं के विकास का जो बीज पालि में दृष्टि-गोचर होंता है, प्राकृत भाषाओं में वह अंकुरित होता हुआ दिखाई देता है।

४.७.२.७ तृतीय सोपान—अपभ्रंश :

'अपभ्रंश' का शाब्दिक अर्थ है भ्रष्ट, अपभ्रष्ट, बिगड़ा हुआ आदि। 'अवहत्थ', अवहट्ट, अवहठ आदि शब्दों का मूल भी अपभ्रंश है। 'अपभ्रंश' का अर्थ 'आभीरोक्ति' भी लिया जाता है।

अधिकतर विद्वानों का विचार है कि 'अपभ्रंश', प्राकृत एवं आधुनिक आर्य-भाषाओं के मध्य की स्थिति है, अर्थात, आधुनिक आर्य भाषाओं के विकास का प्रत्यक्ष संबंध अपभ्रंश से है। इस धारणा के अनुसार, प्राकृत भाषाओं के साहित्यिक बन जाने से जो बोलचाल की भाषा रही उसे ही अपभ्रंश कहा गया है। अतः प्रत्येक प्राकृत का एक अपभ्रंश रूप रहा होगा तथा आधुनिक आर्य-भाषाओं के विकास का संबंध किसी-न-किसी अपभ्रंश से अवश्य होना चाहिए।

अपभ्रंश का काल मोटे रूप से ई० ५०० से १००० ई० तक माना जाता है। दूसरी ओर कुछ विद्वानों (यथा डॉ० हरदेव बाहरी) का विचार यह है कि न तो 'अपभ्रंश' प्राकृत एवं आधुनिक आर्य-भाषाओं के मध्य की स्थिति है और न ही आधुनिक आर्य भाषाओं का विकास अपभ्रंश से हुआ है। इनकी मान्यता है कि अपभ्रंश प्राकृत भाषाओं के समकालीन एक प्रकार की प्राकृत थी (चंड, हेमचंद्र, विश्वनाथ आदि विद्वानों ने अपभ्रंश की गणना प्राकृतों में ही की है) ; जिसका क्षेत्र था गुजरात, राजस्थान, सिंध। इस बात की पुष्टि इससे भी होती है कि मारकंडेय ने तीन ही अपभ्रंश भाषाएं गिनाई हैं—नागर (गुजरात में बोली जाती थी), उपनागर (राजस्थान में प्रयुक्त होती थी) एवं व्राचड (जो सिंध की भाषा थी)। यहां यह भी बता देना आवश्यक है कि राजस्थान, गुजरात आदि क्षेत्रों में गुर्जर एवं आभीर प्रभावशाली एवं सत्ताधारी जातियां रही हैं। उनकी सत्ता के साथ ही, उनकी भाषा का भी विस्तार हुआ ; जिसके फलस्वरूप भारत की अन्य भाषाओं पर इसका प्रभाव दिखाई पड़ता है।

उपर्युक्त मत पूर्ण रूप से तर्करहित नहीं है किंतु इस मत के मानने में मुख्य बाधा यह है कि अपभ्रंश का स्वरूप, प्राकृत का समकालीन न होकर उसका परवर्ती एवं विकसित रूप है। फिर यह मानना भी कठिन है कि पश्चिमोत्तर की भाषा सारे देश में प्रधान बन गई। इतिहास साक्षी है कि प्रधानता सदैव मध्यदेशीय भाषा की रही है।

'अपभ्रंश' शब्द का भाषा के अर्थ में प्रयोग सर्वप्रथम भामह के 'काव्यालंकार' एवं चंड के 'प्राकृत लक्षणम्' में मिलता है। अपभ्रंश का प्राचीनतम रूप भरत के

नाट्य-शास्त्र (३०० ई०) में मिलता है। कालिदास की 'विक्रमोर्वशी' रचना में इसके कुछ उदाहरण मिलते हैं।

अपभ्रंश के भेदों के संबंध में कुछ मतभेद है। मारकंडेय ने 'प्राकृत सर्वस्व' में इसके नागर, उपनागर एवं व्राचड भेद माने हैं। नमि साधु ने भी तीन ही भेद गिनाए हैं किंतु वे हैं—उपनागर, आभीर एवं ग्राम्य। याकोबी उसके चार भेद (पूर्वी, पश्चिमी, उत्तरी, दक्षिणी) मानते हैं। तगारे इनमें से उत्तरी को स्वीकार न कर, शेष तीन भेद स्वीकार करते हैं। नामवर सिंह उसके दो ही भेद मानते हैं (पूर्वी एवं पश्चिमी)। यों कुछ विद्वान् उसके २७ भेद तक मानते हैं।

अपभ्रंश की रचनाओं में बहुत प्रसिद्ध रचनाएं हैं—रइधू का 'करकंड चरिउ', धर्मसूरि का 'जंबूस्वामी रासा', पुष्पदंत का 'आदिपुराण', सरह का 'दोहा कोश', स्वयंभू का 'पउम चरिउ'।

४.७.२.८ अपभ्रंश की सामान्य विशेषताएं :

अपभ्रंश में वे ही परिवर्तन दिखाई पड़ते हैं जिनका आरंभ पालि, प्राकृत में दिखाई पड़ता है। पालि, प्राकृत संस्कृत से भिन्न होते हुए भी आधुनिक भाषाओं के निकट नहीं थीं किंतु अपभ्रंश भाषा आधुनिक भाषाओं के समीप है।

अपभ्रंश की मुख्य विशेषता है अयोगात्मकता, जिसके कारण विभक्तियां शब्दों से जुड़ने के बदले, परसर्गों के समान अलग से प्रयुक्त होने लगती हैं। यथा करण कारक के लिए 'संहु', संबंध कारक के लिए 'केर', अधिकरण के लिए 'मज्झ' आदि। इसी प्रवृत्ति के कारण क्रिया में काल एवं भाव सूचक प्रत्ययों के स्थान पर सहायक क्रियाओं का प्रयोग होने लगा तथा वाक्य में शब्दों का स्थान निश्चित होने लगा।

अपभ्रंश की दूसरी मुख्य विशेषता सरलीकरण की प्रवृत्ति थी। इसके कारण कारकों के रूप कम हो गए (संस्कृत में ८ कारक थे, प्राकृत में ६ और अपभ्रंश में मात्र ३)। द्विवचन एवं नपुंसक लिंग समाप्त हो गए। शब्द-भंडार में तद्भव शब्दों की वृद्धि के साथ विदेशी शब्दों का आगमन हुआ।

स्वराघात का अभाव ही रहा। उकार की प्रधानता हो गई। अंतिम स्वरों के ह्रस्वीकरण एवं लोप की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। संयुक्त व्यंजन से द्वित व्यंजन फिर उसके स्थान पर स्वर-दीर्घीकरण की प्रवृत्ति (कर्म > कम्म > काम) भी विद्यमान है।

४.७.३ आधुनिक काल :

आधुनिक काल का आरंभ १०वीं शताब्दी से माना जाता है। यों आधुनिक आर्य भाषाओं का स्पष्ट अर्थात साहित्यिक रूप ४वीं–१५वीं शताब्दी के निकट दिखलाई पड़ता है। साहित्यिक रूप ग्रहण करने में ४–५ शताब्दियों का समय आवश्यक होता हैं, इसी धारणा के आधार पर आधुनिक आर्य-भाषाओं की उत्पत्ति १०वीं शताब्दी के आस-पास मानी जाती है।

जैसे कि ऊपर कहा जा चुका है आधुनिक आर्य-भाषाओं के साहित्य में प्रयोग का समय १४वीं–१५वीं शताब्दी है, अतः १०वीं से लेकर १४वीं शताब्दी तक का समय मध्य काल के अंतिम सोपान (अपभ्रंश काल) एवं आधुनिक आर्य भाषाओं के मध्य की कड़ी है, जिसे 'संक्रमण काल', 'संक्रांति काल' अथवा पूर्व आधुनिक काल कहा जा सकता है। इस काल की भाषा में दुहरी प्रवृत्ति दिखलाई पड़ती हैं एक ओर अपभ्रंश की परंपरा का आग्रह दूसरी ओर अपभ्रंश की उस परंपरा से मुक्त होकर स्वतंत्र रूप से बढ़ने का प्रयास।

इस युग को 'अवहट्ठ काल' भी कहा जाता है। इसका मुख्य कारण यह है कि इस समय पूर्व में 'अवहट्ट भाषा' (अपभ्रंश का ही विकसित रूप) में रचनाएं हो रही थीं। ऐसा समझा जाता है कि उत्तर भारत के अन्य भागों में भी संक्रमण कालीन भाषा का प्रचलन होगा। उन्हें भी 'अवहट्ठ' की संज्ञा दी जा सकती है। यों 'अवहट्ठ' शब्द उस समय की पूर्व की भाषा का अर्थ देने के लिए रूढ़ हो गया है।

विद्यापति की रचनाएं (कीर्तिलता, कीर्तिपताका आदि) अवहट्ठ में है।

'संक्रमण काल' की रचनाओं में क्षेत्रीय भाषाओं का स्पष्ट रूप उभर कर नहीं आता। उनकी कुछ विशेषताओं की कुछ झलक ही इन रचनाओं में मिल पाती है। इसका कारण संभवतः यह है कि संक्रमण काल में एक ऐसी काव्य-भाषा का निर्माण हो चुका था जिससे उस समय की समस्त क्षेत्रीय भाषाएं प्रभावित थीं।

इस काल की मुख्य रचनाएं हैं—सनेहरासय (संदेशरासक), प्राकृतिपैंगलम, पुरातन प्रबंधसंग्रह, उक्तिव्यक्तिप्रकरण, वर्णरत्नाकर, चर्यापद एवं ज्ञानेश्वरी।

'संक्रमण काल' की इन रचनाओं में जहां अपभ्रंश की प्रवृत्तियां दृष्टिगोचर होती हैं वहां उन प्रवृत्तियों का भी स्पष्ट रूप दिखाई पड़ना है जिनके विकसित

होने से आधुनिक आर्य भाषाएं मध्यकालीन अपभ्रंश भाषा से भिन्न हो गयीं। उदाहरणार्थ स्वर-संकोच की प्रवृत्ति आधुनिक आर्य भाषाओं की एक विशेषता है। यह प्रवृत्ति संदेशरासक तथा अन्य रचनाओं में मिलती है। (उदाहरणार्थ– अंधकार > अंधआर > अंधार; इय > इअ > ई)। ऐसे ही नपुंसक लिंग का अभाव, विभक्तियों के स्थान पर परसर्गों का प्रयोग, विभिन्न कारकों में ऋजु रूप (प्रातिपदिक) का प्रयोग, संयुक्त क्रियाओं का बाहुल्य आदि जो आधुनिक आर्य भाषाओं की विशेषताएं हैं उनके पर्याप्त उदाहरण संक्रमण काल की रचनाओं में मिलते हैं।

४.८. आधुनिक आर्य भाषाओं का वर्गीकरण :

आधुनिक आर्य भाषाओं के वर्गीकरण का सूत्रपात तब से होता है जब हार्नले (१८८० ई०) ने आर्यों के भारत आगमन के ऐतिहासिक तथ्य के आधार पर भीतरी एवं बाहरी भाषाओं का उल्लेख किया था।

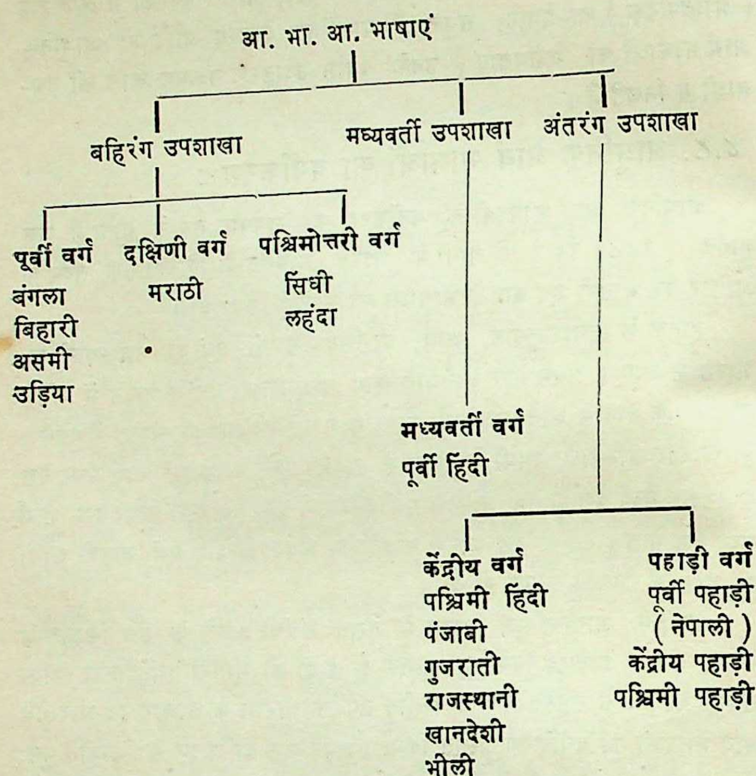
हार्नले के विचारानुसार, आर्य, दो भिन्न समयों एवं दो भिन्न स्थानों से, भारत में आए। प्रथम बार आनेवाले आर्य पश्चिमोत्तरी दर्रे से भारत में प्रविष्ट हुए, जबकि बाद में आनेवाले आर्य, उत्तर के पर्वतों को लांघकर भारत में पहुंचे। दूसरी बार आनेवाले आर्यों के दबाव के कारण, पहले आये हुए आर्य मध्य देश से हटकर मध्य देश के पूर्व, पश्चिम एवं दक्षिण में फैल गये तथा नवागंतुक आर्य मध्य देश में बस गए। इस कारण मध्यदेशीय अथवा केन्द्रीय एवं बाहरी आर्यों की भाषा में भिन्नता उत्पन्न हो गई।

आर्यों के आगमन एवं भारत में बसने संबंधी हार्नले के इस सिद्धांत से मतभेद होने के बावजूद ग्रियर्सन, हार्नले के आर्यों की भीतरी एवं बाहरी भाषा संबंधी धारणा से सहमत थे तथा उन्होंने उपर्युक्त धारणा के आधार पर भारतीय आर्य भाषाओं का वर्गीकरण प्रस्तुत किया। अपने उस वर्गीकरण का उन्होंने पुनः एक लेख के द्वारा संशोधन भी किया। ग्रियर्सन के इस वर्गीकरण का आधार भीतरी एवं बाहरी भाषाओं में पाई जानेवाली ध्वन्यात्मक एवं व्याकरणात्मक भिन्नता है।

ग्रियर्सन द्वारा प्रस्तुत वर्गीकरण की आलोचना करते हुए सुनीतिकुमार चटर्जी ने उसे अवैज्ञानिक एवं अस्वाभाविक बताया है। साथ ही उन्होंने अपना एक वर्गीकरण भी प्रस्तुत किया है। सुनीतिकुमार चटर्जी द्वारा प्रस्तुत वर्गीकरण में किंचित संशोधन कर धीरेंद्र वर्मा ने एक वर्गीकरण प्रस्तुत किया है। वर्गीकरण के विवेचन में हरदेव बाहरी द्वारा प्रस्तुत वर्गीकरण का उल्लेख करना भी आवश्यक है। आगामी परिच्छेदों में इन वर्गीकरणों का विवेचन किया जा रहा है।

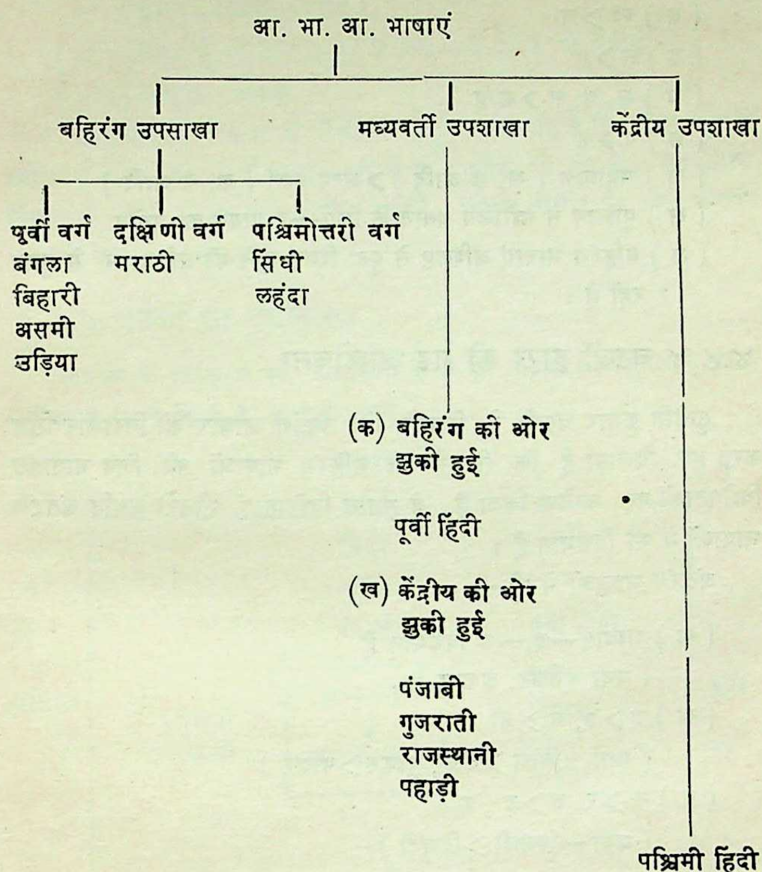
४.८.१ ग्रियर्सन का वर्गीकरण :

ग्रियर्सन ने आधुनिक आर्य भाषाओं को शाखाओं एवं वर्गों में इस प्रकार विभाजित किया था।



४.८.२ ग्रियर्सन का संशोधित वर्गीकरण :

'भारत का भाषा सर्वेक्षण' में प्रस्तुत, उपर्युक्त वर्गीकरण का, ग्रियर्सन ने, एक लेख द्वारा स्वयं संशोधन एवं विस्तृत विवेचन किया था। ग्रियर्सन ने अपने संशोधित वर्गीकरण में पश्चिमी हिंदी को केंद्र में रखा है तथा पश्चिमी हिंदी के संदर्भ में अन्य भाषाओं का स्थान निर्धारित किया है। इस वर्गीकरण में उन्होंने भीली एवं खानदेशी को स्वतंत्र भाषाएं नहीं माना है। ग्रियर्सन का संशोधित वर्गीकरण इस प्रकार है।



४.८.३ ग्रियर्सन के वर्गीकरण का आधार :

ग्रियर्सन के वर्गीकरण का आधार बहिरंग एभं अंतरंग भाषाओं में पाई जानेवाली निम्नलिखित मुख्य भाषागत भिन्नताएं थीं। यहां केवल बहिरंग भाषाओं की विशेषताओं का उल्लेख किया जाता है। अंतरंग भाषाओं में उन विशेषताओं का अभाव समझना चाहिए।

बहिरंग भाषाओं में—

(क) शब्दांत—इ,—उ विद्यमान हैं

(ख) इ > ए, उ > ओ

(ग) ल > र, ड > ड़, र

(घ) म्ब > म
(ङ) स > ह
(च) श, ष, स > श/ह
(छ) द > ड
(ज) महाप्राण (ख, छ आदि) > अल्प प्राण (क, च आदि)
(झ) पुल्लिग से स्त्रीलिंग बनाने के लिए—ई प्रत्यय का प्रयोग
(ञ) बहिरंग भाषाएं अश्लिष्ट से पुनः श्लिष्ट होने की प्रक्रिया में से गुजर रही हैं।

४.८.४ चटर्जी द्वारा की गई आलोचना :

सुनीति कुमार चटर्जी ने ग्रियर्सन के उपर्युक्त आधार को निराधार सिद्ध करते हुए दिखाया है कि ग्रियर्सन ने बहिरंग भाषाओं की जिन भाषागत विशेषताओं का उल्लेख किया है, वे समस्त विशेषताएं भीतरी अर्थात अंतरंग भाषाओं में भी विद्यमान हैं।

अंतरंग भाषाओं में भी—

(क) शब्दांत—इ,—उ विद्यमान हैं
(यथा – फिरि, अकालु)
(ख) इ > ए, उ > ओ
(यथा – बिल्व > बेल ; पुष्कर > पोखर)
(ग) ल > र, ड > ड़ , र
(यथा—बिजली > बिजुरी)
(घ) म्ब > म
(यथा—जम्बु > जामुन)
(ङ) स > ह
(यथा—करिष्यति > करिहइ)
(च) श, ष, स > श/ह

मराठी बहिरंग भाषा है किंतु उसमें 'सहा' (= षष्ठ) जैसे प्रयोग हैं। ब्रज के करिष्यति > करिहइ का उदाहरण ऊपर दिया ही गया है।

(छ) द > ड
(यथा—दृष्टि > डीठि)
(ज) महाप्राण > अल्पप्राण

(यथा—भगिनी > बहन)

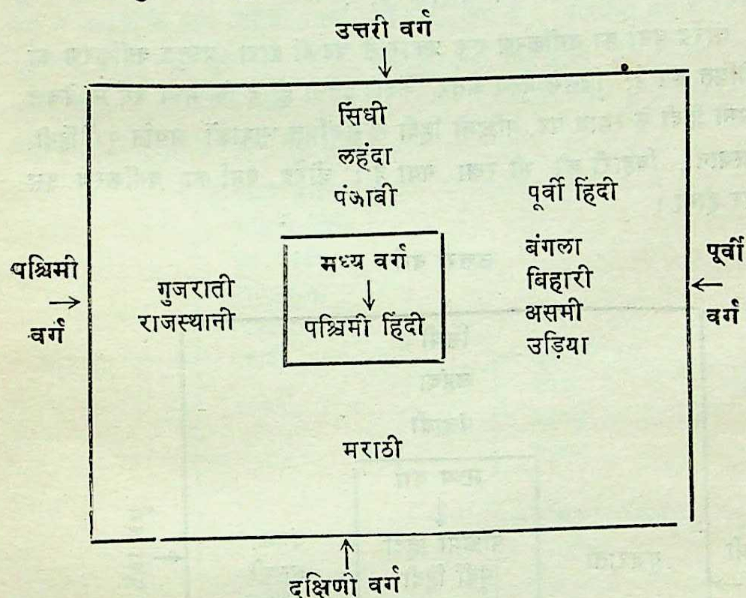
(झ) पुल्लिग से स्त्रीलिंग बनाने के लिए—ई प्रत्यय का प्रयोग

(यथा—लड़का : लड़की)

(ञ) बहिरंग भाषाओं में श्लिष्टता का कारण यह है कि प्रायः समस्त आधुनिक आर्य भाषाओं में विभक्ति जोड़ने के अवशेष रहे हुए हैं। यह उनके विकास के अगले चरण का द्योतक नहीं है, जिसके आधार पर उन्हें भीतरी भाषाओं से अलग माना जाय।

४.८.५ चटर्जी का वर्गीकरण :

ग्रियर्सन के वर्गीकरण की आलोचना करते हुए चटर्जी ने अपना एक सरल वर्गीकरण प्रस्तुत किया है, जो इस प्रकार है।



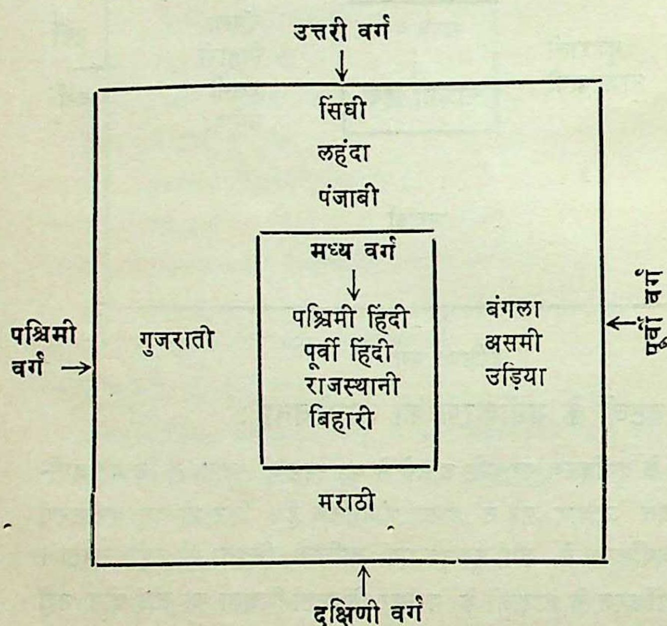
४.८.६ चटर्जी के वर्गीकरण की आलोचना :

चटर्जी के वर्गीकरण पर दृष्टि डालने से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह वर्गीकरण भाषागत आधार पर न होकर भौगोलिक है। फिर भी यह वर्गीकरण ग्रियर्सन के वर्गीकरण से कोई मूलभूत एवं तात्विक भिन्नता भी नहीं रखता। चटर्जी के वर्गीकरण से भाषाओं के परस्पर निकटता-भिन्नता का कोई बोध नहीं

होता। उदाहरणार्थ बंगला की अपेक्षा राजस्थानी पश्चिमी हिंदी के अधिक निकट है किंतु इस वर्गीकरण से यह ज्ञात नहीं होता। मराठी, गुजराती से ऐसे ही अलग दिखाई गई है जैसे बंगला से, जबकि मराठी, बंगला की अपेक्षा गुजराती के बहुत अधिक निकट है। इस प्रकार चटर्जी के वर्गीकरण से वह कार्य भी सिद्ध नहीं होता, जो कि किसी सीमा तक ग्रियर्सन के संशोधित वर्गीकरण से होता है। फिर चटर्जी ने ग्रियर्सन के वर्गीकरण को निराधार सिद्ध करने के लिए जो उदाहरण दिये हैं, वे सब 'अपवाद' रूप में हैं और 'अपवाद' तो नियम को सिद्ध ही करते हैं। अतः इस बात में कोई संदेह नहीं है कि ग्रियर्सन का आधार निर्दोष न होने पर भी भीतरी एवं बाहरी भाषाओं की भाषागत प्रवृत्तियों पर प्रकाश डालता हैं।

४.८.७ धीरेंद्र वर्मा का वर्गीकरण :

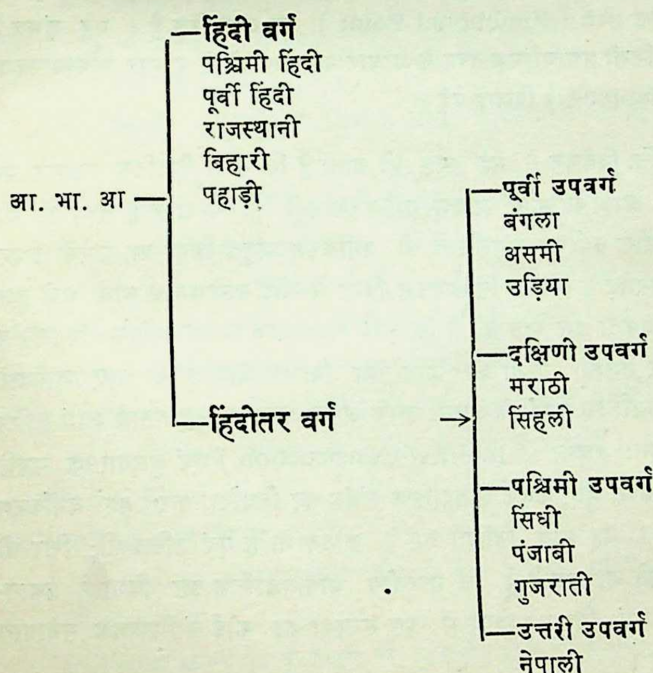
धीरेंद्र वर्मा का वर्गीकरण एक प्रकार से चटर्जी द्वारा प्रस्तुत वर्गीकरण का संशोधित रूप है; जिसमें मुख्य अंतर केवल इतना ही है कि मध्य वर्ग में केवल पश्चिमी हिंदी के स्थान पर, पश्चिमी हिंदी से संबंधित भाषाओं अर्थात पूर्वी हिंदी, राजस्थानी, बिहारी को भी रखा गया है। धीरेंद्र वर्मा का वर्गीकरण इस प्रकार होगा।



धीरेंद्र वर्मा के वर्गीकरण की मुख्य विशेषता यह है कि इसमें पश्चिमी हिंदी से संबंधित भाषाओं को एक साथ रखा गया है, इससे उनकी परस्पर निकटता तथा अन्य भाषाओं से उनकी आपेक्षिक दूरी का कुछ बोध अवश्य हो जाता है।

४.८.८ हरदेव बाहरी का वर्गीकरण :

बाहरीजी ने अपने वर्गीकरण में आ० भा० आ० भाषाओं को दो वर्गों—'हिंदी' एवं 'हिंदीतर' में विभाजित किया है। हिंदी वर्ग में उन्होंने पश्चिमी हिंदी के अतिरिक्त पूर्वी हिंदी, राजस्थानी, बिहारी, पहाड़ी को रखा है। हिंदीतर वर्ग को फिर पूर्वी, पश्चिमी, उत्तरी एवं दक्षिणी वर्गों में विभाजित किया है। पूर्वी वर्ग में वे ही भाषाएं रखी हैं, जो धीरेन्द्र वर्मा ने रखी हैं। दक्षिणी वर्ग में मराठी के साथ सिंहली भाषा को रखा गया है। पश्चिमी वर्ग में सिंधी एवं पंजाबी के साथ गुजराती को भी रखा है तथा लहंदा को पंजाबी की उपभाषा माना है। उत्तरी वर्ग में नेपाली भाषा को रखा गया है। बाहरी के वर्गीकरण का रेखाचित्र इस प्रकार है।



बाहरी के वर्गीकरण का आधार भाषागत विशेषताओं की अपेक्षा राजनीति, साहित्य एवं शिक्षा है। पूर्वी हिंदी, राजस्थानी, बिहारी, पहाड़ी को पश्चिमी हिंदी के साथ इसलिए रखा गया है क्योंकि जिन क्षेत्रों में ये भाषाएं बोली जाती हैं, उन क्षेत्रों में हिंदी (अर्थात पश्चिमी हिंदी) ही शासन साहित्य एवं शिक्षा की भाषा है। सिंहली को भारतीय आर्य भाषाओं के साथ दिखलाने का कारण यह बताया गया है कि सिंहल (सिलोन) कभी भारत का अंग था। ऐसा ही कारण नेपाली के लिए भी है। अतः इस प्रकार के वर्गीकरण से और चाहे जो भी जानकारी प्राप्त हो किंतु भाषाओं की संरचनात्मक समानता-भिन्नता का बोध नहीं हो सकता।

४.८.९ सीताराम चतुर्वेदी का वर्गीकरण :

सीताराम चतुर्वेदी ने संबंधवाचक परसर्गों के आधार पर आ० भा० आ० का वर्गीकरण करने का प्रयत्न किया है। वर्गीकरण का यह आधार निश्चित रूप से भाषावैज्ञानिक है। इस वर्गीकरण की कमी यह है कि यह केवल एक ही प्रकार्यात्मक तथ्य (Functional Point) पर आधारित है। यह संभव है कि अन्य किसी प्रकार्यात्मक तथ्य के आधार पर भाषाओं में परस्पर अधिव्यापकता (Overlapping) दिखाई पड़े।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भाषा वैज्ञानिक आधार पर आ० भा० आ० का कोई आदर्श वर्गीकरण नहीं हो पाया है। तथ्य तो यह है कि चालीस वर्ष पूर्व ग्रियर्सन ने जो वर्गीकरण प्रस्तुत किया था, उसमें इधर-उधर जोड़-तोड़ करने के सिवाय इस दिशा में कोई उल्लेखनीय कार्य नहीं हुआ है। आवश्यकता इस बात की है कि आ० भा० आ० के प्रामाणिक विवरण के आधार पर उनकी तुलना की जाय तथा विभिन्न भाषाओं में पाए जानेवाले समान प्रकार्यात्मक तथ्यों के द्वारा उनके अलग-अलग समूह बनाये जायं। फिर आभ्यंतर पुनः रचना (Internal Construction) एवं तुलनात्मक पद्धति का प्रयोग करते हुए, उनके ऐतिहासिक संबंध का निर्धारण करते हुए वर्गीकरण किया जाय। यह कार्य निश्चित रूप से कठिन भी है एवं जटिल भी; फिर भी यह आशा की जा सकती है कि भारतीय भाषावैज्ञानिक इस दिशा में प्रयत्नशील होंगे एवं निकट भविष्य में इस समस्या का कोई संतोषजनक समाधान प्रस्तुत करेंगे।

४.८.१० आधुनिक आर्य भाषाओं की विशेषताएं :

आधुनिक आर्य भाषाओं के वर्गीकरण संबंधी विवेचन में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में समानता-भिन्नता का एक जटिल संबंध है। अतः समस्त भाषाओं में समान विशेषताओं का होना तो संभव ही नहीं है। फिर भी ऐसी कुछ विशेषताओं का उल्लेख किया जा सकता है जो प्रवृत्ति रूप में प्रायः समस्त भाषाओं में पायी जाती हैं। नीचे ऐसी कुछ मुख्य विशेषताओं का वर्णन किया जाता है।

(क) आधुनिक भारतीय आर्य भाषाएं मूल रूप से आयोगात्मक हैं। यह प्रवृत्ति अपभ्रंश काल से शुरू हुई थी, जिसका विकास आधुनिक काल में हुआ है।

(ख) अयोगात्मक की इस प्रवृत्ति के कारण विभक्तियों का स्थान मुख्य रूप से परसर्गों ने ले लिया है।

(ग) इसी प्रवृत्ति के फलस्वरूप क्रिया के रूप-परिवर्तन में काल-भाव आदि की अभिव्यक्ति के लिए प्रत्ययों के स्थान पर सहायक क्रियाओं का प्रयोग किया जाता है।

(घ) शब्द-रूपों एवं धातु-रूपों में बहुत कमी हो गई है। संस्कृत में जहां शब्दों के २४ रूप बनते थे, आजकल २ से ६ रूप ही बनते हैं।

(ङ) वचन दो ही रह गए हैं।

(च) मराठी, गुजराती के सिवाय अन्य भाषाओं में दो ही लिंग रह गए हैं।

(छ) बहुत-सी भाषाओं में स्वराघात, वाक्यात्मक स्तर पर ही महत्त्वपूर्ण रह गया है, शब्द के स्तर पर नहीं।

(ज) विभिन्न भाषाओं के संपर्क एवं ज्ञान-विज्ञान की नई विधाओं के कारण समस्त भाषाओं के शब्द-भंडार में विदेशी भाषाओं के शब्दों (फ़ारसी, अरबी, अंग्रेजी आदि) के साथ संस्कृत के तत्सम शब्दों की भी पर्याप्त मात्रा में वृद्धि हुई है। साथ ही नए शब्दों के निर्माण की प्रवृत्ति भी दिखाई पड़ती है।

(झ) ध्वन्यात्मक संरचना में पर्याप्त विकास हो रहा है। संयुक्त स्वर, मूल स्वर बनने की प्रकिया में हैं। अन्य भाषाओं के प्रभाव से नए स्वरों एवं नए व्यंजनों का आविर्भाव हो रहा है।

(ल) 'ऋ' का स्वरवत प्रयोग नहीं रहा है। 'ष' का प्रयोग भी उच्चारण में समाप्त हो चुका है।

(ट) शब्दों के स्वरांत के स्थान पर व्यंजनांत होने की प्रवृत्ति बढ़ रही है।

(ठ) प्रत्येक भाषा के परिनिष्ठित रूप का निर्माण हो चुका है तथा प्रत्येक भाषा 'साहित्यिक' कहलाने की अधिकारिणी बन गई है। बहुत-सी भाषाओं के साहित्य ने 'श्रेष्ठता' की अवस्था प्राप्त कर ली है।

४.९ आधुनिक आर्य भाषाओं का परिचय :

४.९.१ सिंधी :

'सिंध' प्रदेश की भाषा को सिंधी' कहा जाता है। सिंध का संबंध संस्कृत 'सिंधु' शब्द से है। हिंद, हिंदू, हिंदी शब्दों का मूल भी यही सिंध शब्द है।

भारत-विभाजन से पूर्व, सिंधी मुख्य रूप से सिंध प्रदेश की भाषा थी। देश-विभाजन के कारण बहुत से हिंदू सिंध से भारत में आ गए हैं एवं भारत के विभिन्न प्रदेशों में फैल गये हैं। इस प्रकार आज सिंधी पाकिस्तान के सिंध प्रदेश के अतिरिक्त भारत के प्रायः समस्त प्रदेशों में बोली जाती है।

सिंधी का संबंध व्राचड अपभ्रंश से जोड़ा जाता है। ग्रियर्सन ने सिंधी की छह उपभाषाएं गिनाई हैं—सिरायकी, विचोली, लाड़ी, लासी, थरेली एवं कच्छी। इन सबमें विचोली परिनिष्ठित उपभाषा है।

अन्तः स्फोटक (Implosive) ध्वनियां (ब़, ज़, ड़, ग़) सिंधी की ध्वन्यात्मक संरचना की मुख्य विशेषता है। सिंधी में अरबी-फारसी के बहुत से शब्द हैं।

१८४३ में सिंधी के लिए एक लिपि का निर्माण किया गया जिसका आधार अरबी लिपि था। उससे पूर्व सिंधी के लिए देवनागरी, वाणिकी (बनियों की) एवं गुरुमुखी लिपियों का प्रयोग होता था। भारत-विभाजन के पश्चात भारत में आए हुए सिंधियों के एक वर्ग ने फिर से देवनागरी का प्रयोग करने के लिए प्रचार किया। इसके फलस्वरूप आज भारत में सिंधी दोनों लिपियों (अरबी-सिंधी एवं देवनागरी) में लिखी जाती है।

सिंधी का साहित्य नियमित रूप से १४वीं शताब्दी से मिलना आरंभ होता है। सिंधी साहित्य पर्याप्त मात्रा में समृद्ध है। शाह अब्दुल लतीफ, सचल, सामी, दलपत, बेवसि, अज़ीज सिंधी के मुख्य कवि हो चुके हैं। गद्य-लेखकों में कलीच बेग, भेरुमल, लालचंद अमरडिनोमल, जेठमल उल्लेखनीय नाम हैं।

४.९.२ लहंदा :

'लहंदा' का शाब्दिक अर्थ है 'उतरता' या 'ढलता'। यह पश्चिम का सूचक है क्योंकि सूर्य पश्चिम में ही ढलता है। पंजाब के पश्चिमी भाग में बोली जाने

के कारण इस भाषा पर 'लहंदा' नाम पड़ा है। इसे पश्चिमी पंजाबी भी कहते हैं।

शाहपुर जिले की लहंदा परिनिष्ठित गिनी जाती है। लहंदा की उपभाषाओं में डेरा गाज़ी खां की मुल्तानी मुख्य है। इसके अतिरिक्त पोठवारी, अवाणकारी, पुछी, चिभाली आदि इसका बोलियां हैं।

कुछ विद्वान लहंदा को अलग भाषा न मानकर उसे पंजाबी की ही एक उपभाषा मानते हैं क्योंकि पंजाबी से उसकी बहुत अधिक समानता है, किंतु अधिकतर विद्वान उसे स्वतंत्र भाषा मानना उचित समझते हैं।

लहंदा पर सिंधी एवं काश्मीरी का काफी प्रभाव है। अरबी-फारसी के शब्द भी लहंदा में पर्याप्त मात्रा में प्रयुक्त होते हैं।

लहंदा गुरुमुखी और फारसी लिपियों में लिखी जाती है। व्यापारी लोग 'लंडा' नाम की लिपि का प्रयोग करते हैं जो सिंधी की वाणिकी लिपि से मिलती-जुलती है।

१४वीं शताब्दी से लहंदा का साहित्य मिलने लगता है। गुरु नानक, संत फरीद, वारिसशाह आदि की रचनाएं लहंदा भाषा में हैं।

४.९.३ पंजाबी :

'पंजाब' प्रदेश की भाषा होने के कारण इसे 'पंजाबी' कहा गया है। पंजाब का अर्थ है 'पांच आवों (नदियों—रावी, सतलज, व्यास, चिनाब और झेलम) का देश'।

वर्तमान समय में यह पूर्व पंजाब (भारत) एवं पश्चिमी पंजाब (पाकिस्तान) की भाषा है। इसकी कुछ उपभाषाएं (डोगरी आदि) का क्षेत्र जंमू तक है।

पंजाबी बोलनेवाले मुख्य रूप से सिक्ख हैं, इसी से इसे सिक्खी, खालसी अथवा पूर्वी पंजाबी (लहंदा पश्चिम की भाषा है—पंजाबी पूर्व की) भी कहते हैं। पंजाबी का निखरा हुआ रूप अमृतसर के आसपास दिखाई पड़ता है।

पंजाबी का साहित्य १३वीं शताब्दी के आरंभ से मिलना शुरू हो जाता है। गुरु नानक एवं अन्य गुरुओं तथा संतों की वाणी का संग्रह 'गुरु ग्रंथ साहब' पंजाबी का प्रसिद्ध साहित्यिक एवं धार्मिक ग्रंथ है। पंजाबी लोक-साहित्य की परंपरा काफी समृद्ध है। पहले यहां उर्दू तथा फारसी लिपियों का प्रयोग होता था, फिर देवनागरी के प्रयोग को पर्याप्त बढ़ावा मिला। आज-कल पंजाबी मुख्य रूप से गुरुमुखी लिपि में लिखो जाती है।

४.९.४ गुजराती :

'गुजरात' प्रदेश की भाषा होने के कारण यह 'गुजराती' कहलाती है। 'गुजरात' शब्द का संबंध 'गुर्जर' से माना जाता है। गुर्जर नामक जाति का प्रदेश ही 'गुजरात' है। गुजरात के अतिरिक्त बंबई में भी गुजराती-भाषियों की काफी संख्या है।

गुजराती की उपभाषाओं में झालवाड़ी, सोरठी, गोहिलवाड़ी एवं काठियावाड़ी मुख्य हैं। अहमदाबाद की गुजराती परिनिष्ठित एवं साहित्यिक गुजराती है।

गुजराती का साहित्य १२वीं शताब्दी से मिलना आरंभ होता है। हेमचंद्र के व्याकरण में प्राचीन गुजराती का दर्शन होता है। गुजराती के प्राचीन साहित्यकारों में नरसी मेहता, प्रेमानंद, सामलभट्ट, रेवाशंकर आदि के नाम लिए जा सकते हैं। आधुनिक साहित्यकारों में गोबर्धन राम त्रिपाठी, नानालाल, कन्हैयालाल मुंशी, रमणलाल देसाई, काका कालेलकर, उमाशंकर जोशी आदि के नाम लिए जा सकते हैं।

गुजराती की अपनी लिपि है जिसे गुजराती लिपि कहते हैं। यह देवनागरी से बहुत अधिक समानता रखती है।

४.९.५ मराठी :

'मराठी', 'महाराष्ट्र' की भाषा है जिसमें विदर्भ, मराठवाड़ा, कोंकण, वरार आदि प्रदेश आ जाते हैं। बंबई, पूना, नागपुर मराठी के प्रसिद्ध केंद्र हैं।

मराठी का विकास महाराष्ट्री प्राकृत के अपभ्रंश रूप से माना जाता है। यों यह वात अब भी विवाद का विषय है कि प्राकृत के साथ जुड़े उस 'महाराष्ट्र' का अर्थ आज के महाराष्ट्र से लिया जाय या उसका अर्थ महाराष्ट्र अर्थात विस्तृत प्रदेश माना जाय।

मराठी की अनेक वोलियां हैं। पूना की मराठी को साधु अथवा परिनिष्ठित मराठी माना जाता है। कोंकण की मराठी द्रविड़ भाषाओं से प्रभावित है।

९–१०वीं शताब्दी से मराठी के अभिलेख प्राप्त होते हैं। १२–१३वीं शताब्दी से मराठी का साहित्य उपलब्ध होता है। प्राचीन काल के साहित्यकारों में नामदेव एवं ज्ञानदेव अत्यंत प्रसिद्ध हैं। इसके पश्चात तुकाराम, रामदास, राम जोशी जैसे साहित्यकार हुए। आधुनिक काल के रचयिताओं में अत्रे, खांडेकर, फड़के, हरिनारायण आपटे आदि प्रसिद्ध हैं।

मराठी देवनागरी लिपि में लिखी जाती है। यों मराठी की मूल लिपि 'मोड़ी' है, जिसका प्रयोग अब भी दैनिक व्यवहार में किया जाता।

मराठी एवं गुजराती की संरचनाओं में पर्याप्त समानता है।

मराठी में तत्सम शब्दों के अतिरिक्त तद्भव, द्रविड़, एवं फारसी शब्दों की संख्या भी पर्याप्त मात्रा में हैं।

४.९.६ बंगला :

'बंगला' का संबंध मागधी प्राकृत' के अपभ्रंश रूप से हैं। बंगला अविभाजित बंगाल की भाषा है। देश-विभाजन के फलस्वरूप इसके दो भाग हो गए हैं। पूर्व का भाग पाकिस्तान में एवं पश्चिम का भाग भारत में रहा। पूर्व का भाग स्वतंत्र बंगला देश के रूप में स्थापित हो चुका है।

बंगला की दो मुख्य उपभाषाएं हैं—पूर्वी बंगला एवं पश्चिमी बंगला। पूर्वी बंगला अब स्वतंत्र बंगला देश की भाषा है, जिसका केन्द्र है ढाका तथा पश्चिमी, बंगला, पश्चिम बंगाल की उपभाषा है, जिसका केंद्र कलकत्ता है।

साहित्य-समृद्धि की दृष्टि से आधुनिक आर्य भाषाओं में बंगला का स्थान अत्यंत महत्व पूर्ण है। अन्य आधुनिक आर्य भाषाओं की अपेक्षा बंगला साहित्य पश्चिम से अधिक प्रभावित हुआ; इस कारण पश्चिम से प्रभावित अनेक साहित्यिक विधाओं का श्रीगणेश बंगला से होता है। बंगला के प्राचीन साहित्यकारों में भक्त कवि चंडीदास एवं चैतन्य महाप्रभु बहुत प्रसिद्ध हैं। आधुनिक प्रसिद्ध साहित्यकारों में राजा राम मोहन राय, ईश्वरचंद्र विद्यासागर, बंकिमचंद्र, रवींद्र नाथ ठाकुर, शरतचंद्र, ताराशंकर आदि के नाम लिए जा सकते हैं।

बंगला लिपि की देवनागरी से काफी निकटता है।

४.९.७ बिहारी।

उत्पत्ति की दृष्टि से 'बिहारी' का संबंध भी मागधी प्राकृत से है।

बिहारी का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। बिहार तो इसका प्रदेश है ही इसके सिवाय उत्तर प्रदेश के कई भागों, यथा—वाराणसी, मिर्जापुर, गाजीपुर, बलिया, गोरखपुर आदि स्थानों पर भी इसका प्रयोग होता है।

बिहारी की तीन मुख्य बोलियां है— भोजपुरी, मैथिली एवं मगही। इसमें मैथिली की साहित्यिक परंपरा काफी पुरानी है। विद्यापति, जिसे मैथिली-कोकिल भी कहते हैं, मैथिली के प्रसिद्ध कवि हैं। मैथिली की लिपि बंगला लिपि से बहुत समानता रखती है।

भोजपुरी में लोक-साहित्य उपलब्ध है। आज-कल भोजपुरी साहित्य के विकास हेतु बहुत प्रयत्न हो रहे हैं। भोजपुरी साहित्य की परंपरा मुख्य रूप से मौखिक हैं। इसकी लिखित रचनाएं 'कैथी' लिपि में हैं। आज-कल भोजपुरी देवनागरी लिपि में भी लिखी जाने लगी है।

मगही की लिपि भी कैथी है। यों मगही में बहुत कम साहित्य प्राप्त होता है।

४.९.८ असमी अथवा असमिया :

'असमी' 'असम' प्रदेश की भाषा है। इसका विकास 'मागधी प्रकृति' के पूर्व-रूप से हुआ है।

संरचना की दृष्टि से यदि असमी एवं बंगला में अंतर है तथापि असमी को बंगला से काफी समानता है। बंगला भाषा एवं साहित्य का असमी पर यथेष्ट प्रभाव पड़ा है। इसका परिणाम यह निकला है कि असमी का अपना साहित्य बहुत अधिक नहीं है। असम में भी साहित्य का माध्यम एक प्रकार से बंगला ही है। सांस्कृतिक चेतना के फलस्वरूप अब असम में, असमी का प्रचार-प्रसार बढ़ रहा है।

असमी के भाषागत विभाजन का अध्ययन नहीं हुआ है, इस कारण असमी की बोलियों का विवेचन करना कठिन है।

असमी की लिपि बंगला लिपि से बहुत अधिक मिलती-जुलती है।

असमी पर चीनी-तिब्बती परिवार की भाषाओं का भी कुछ प्रभाव है।

४.९.९ उड़िया :

'उड़ीसा' अथवा 'उत्कल' प्रदेश की भाषा को 'उड़िया' कहते हैं। इसे 'उत्कली' भी कहते हैं।

मागधी के दक्षिणी रूप से उड़िया का विकास हुआ है। उड़िया की भी बंगला से काफी निकटता है।

उड़िया के प्राचीन रूप का आभास पुराने शिलालेखों से होता है।

उड़िया भाषा की सीमाएं द्रविड़ भाषा (तमिल) एवं मराठी भाषा की सीमाओं से जुड़ी हुई हैं। इस कारण उड़िया में तमिल एवं मराठी के पर्याप्त शब्द विद्यमान हैं।

उड़िया की बोलियों का स्पष्ट रूप दिखलाई नहीं पड़ता, इसलिए स्थानीय भाषागत भेदों के बावजूद उसकी भाषाओं अथवा बोलियों का स्पष्ट उल्लेख कर सकना कठिन है।

उड़िया का प्राचीन साहित्य, मुख्य रूप से कृष्ण-भक्ति का है।

उड़िया की अपनी एक स्वतंत्र लिपि है, जो बंगला लिपि के काफी निकट है।

४.६.१० राजस्थानी :

'राजस्थान' की भाषा को 'राजस्थानी' कहते हैं। इसकी सीमाएं एक ओर पंजाबी एवं दूसरी ओर गुजराती से मिलती हैं। राजस्थानी एवं गुजराती में पर्याप्त निकटता है।

उत्पत्ति की दृष्टि से राजस्थानी का संबंध भी शोरसेनी प्राकृत से है।

राजस्थानी विस्तृत क्षेत्र में फैली हुई है। इसकी कई बोलियां हैं; जिनमें से मेवाती, मालवी, मारवाड़ी तथा जयपुरी प्रसिद्ध हैं। इसके अतिरिक्त भीली एवं खानदेशी भी राजस्थानी के अंतर्गत ही रखी जाती हैं। तमिल क्षेत्र में एक ऐसा भाषाई रूप प्रयुक्त होता है जिसे 'सौराष्ट्री' कहते हैं। रचना की दृष्टि से 'सौराष्ट्री' भी राजस्थानी से समानता रखती है (इसकी समानता गुजराती से भी है)।

राजस्थानी की अपनी लिपि महाजनी है किंतु उसका प्रयोग दैनिक व्यवहार तक ही सीमित है। यहां साहित्य, शिक्षा एवं शासन का माध्यम हिंदी है। इस लिए राजस्थानी को हिंदी की सहभाषा माना जा सकता है।

४.९.११ हिंदी :

आगामी अध्याय में हिंदी के संबंध में विस्तार से लिखा जा रहा है, इसलिए यहां उसका अत्यंत संक्षिप्त परिचय ही दिया जा रहा है।

ग्रियर्सन ने पूर्वी हिंदी एवं पश्चिमी हिंदी को दो अलग-अलग भाषाओं के रूप में गिनाया है। यों इन्हें दो भिन्न भाषाएं न मानकर एक ही भाषा के दो भिन्न रूप माना जा सकता है।

४.९.११.१ पश्चिमी हिंदी :

'पश्चिमी हिंदी' का संबंध शौरसेनी प्राकृत के अपभ्रंश रूप से है। यह एक प्रकार से पूरे मध्य देश की भाषा है। बांगरू, खड़ी, ब्रज, कनौजी एवं बुंदेली इसकी बोलियां हैं। साहित्यिक खड़ी एवं उर्दू इसके साहित्यिक रूप हैं। हिंदुस्तानी रूप में वह जनसाधारण के संपर्क का माध्यम है। वह स्वतंत्र भारत की राजभाषा है तथा संपूर्ण भारत में एक मात्र संपर्क भाषा के रूप में प्रयुक्त होने के कारण वह राष्ट्रभाषा भी है :

पश्चिमी हिंदी की साहित्यिक परंपरा काफी प्राचीन एवं समृद्ध है। अपभ्रंश के अंतिम चरण से इसका विकास आरंभ होता है। हिंदी के प्राचीन काल में डिंगल के साथ पिंगल, मध्य काल में व्रज एवं आधुनिक काल में खड़ी साहित्य का माध्यम रही हैं।

पश्चिमी हिंदी की समस्त बोलियां देवनागरी लिपि में लिखी जाती हैं।

४.९.११.२ पूर्वी हिंदी :

'पूर्वी हिंदी' का संबंध अर्धमागधी प्राकृत से है। इस कारण एक ओर वह शौरसेनी प्राकृत के अपभ्रंश रूप से प्रभावित है तो दूसरी ओर मागधी प्राकृत के अपभ्रंश रूप से।

पूर्वी हिंदी का क्षेत्र अवध प्रदेश है। यह प्रदेश पश्चिमी हिंदी एवं बिहारी के क्षेत्रों के मध्य पड़ता है। इस कारण पूर्वी हिंदी में पश्चिमी हिंदी के साथ बिहारी की विशेषताएं भी दिखलाई पड़ती हैं।

हिंदी के मध्य काल में, व्रज के साथ अवधी भी साहित्य का माध्यम रही है।

पूर्वी हिंदी की समस्त बोलियां देवनागरी लिपि में लिखी जाती हैं।

४.९.१२ पहाड़ी :

पहाड़ी भाषाओं का क्षेत्र हैं हिमालय की तराई अथवा घाटी। यह क्षेत्र पूर्व से पश्चिम तक फैला हुआ है। स्थान के आधार पर ही पहाड़ी भाषाओं के तीन समूह किए गए हैं—पूर्वी पहाड़ी (नेपाली) मयध्ववर्ती पहाड़ी एवं पश्चिमी पहाड़ी।

ग्रियर्सन ने पहाड़ी भाषाओं को अलग से गिनाया है किंतु अधिकतर विद्वान पहाड़ी को राजस्थानी के अंतर्गत रखना उचित समझते हैं।

स्मरण-संकेत

४.१ भारोपीय परिवार संसार का सबसे प्रसिद्ध एवं महत्वपूर्ण भाषा परिवार है।

४.२ इस परिवार के लिए अनेक नामों का प्रयोग किया गया है। सबसे ज्यादा प्रसिद्ध एवं प्रचलित नाम 'भारोपीय' है।

४.३ अधिकतर विद्वानों के मतानुसार भारोपीय भाषा बोलने वाले ईसा से लग-भग ढाई हजार वर्ष पूर्व मध्य एशिया में रहते थे।

४.४ भारोपीय भाषा में ५ ह्रस्व स्वर (अ, इ, उ, ऍ ऑ) थे। इतने ही दीर्घ स्वर थे। एक उदासीन स्वर (अ॑) था। कुछ अन्य ध्वनियां भी स्वरों के समान प्रयुक्त होती थीं। संयुक्त स्वरों की संख्या बहुत थी। अनुनासिकता का प्रयोग नहीं होता था। व्यंजनों में पवर्ग, तवर्ग के अतिरिक्त तीन प्रकार की कवर्गीय ध्वनियां थीं। इसके सिवाय य, र, ल, व, स, ज़, ह ध्वनियां भी थीं। संयुक्त व्यंजनों का प्रयोग होता था। शब्द-रूपों में काफी जटिलता थी। तीन लिंग, तीन वचन एवं आठ कारकों का प्रयोग होता था। समास-रचना का प्रयोग होता था। क्रिया का रूप काल एवं भाव के आधार पर बदलता था। भाषा की संरचना में स्वराघात एवं सुरों का महत्व था।

४.५ भारोपीय परिवार को केंतुम एव सतम समुदायों में विभाजित किया जाता है। यह विभाजन, भारोपीय भाषा की 'क' ध्वनि के 'क' अथवा 'स' में विकासित होने पर आधारित है।
केंतुम समुदाय के उपपरिवार हैं—
ग्रीक, इटालिक, केलिटिक, जर्मनिक, तोखारी, (हिट्टाइट)।
सतम समुदाय के उपपरिवार हैं—
बाल्टो-सिलाविक, आर्मेनियन, अल्बेनियन, आर्य।

४.६ आर्य उपपरिवार की तीन शाखाएं हैं—
ईरानी शाखा, दरद शाखा एवं भारतीय शाखा।

४.७ भारतीय भाषाओं के विकास के तीन काल हैं—
प्राचीन काल (वैदिक एवं संस्कृत)
मध्य काल (पालि, प्राकृत, अपभ्रंश)
आधुनिक काल (हिंदी, बंगला, मराठी आदि)

४.८ आधुनिक आर्य भाषाओं के वर्गीकरण का प्रथम प्रयास हार्नले द्वारा। ग्रियर्सन, चटर्जी, धीरेंद्र वर्मा, हरदेव बाहरी एवं सीताराम चतुर्वेदी के वर्गीकरण।

४.९ आधुनिक आर्य-भाषाएं—

सिंधी, लहंदा, पंजाबी, गुजराती, मराठी, बंगला, बिहारी, असमी, उड़िया, राजस्थानी, हिंदी (पश्चिमी हिंदी एवं पूर्वी हिंदी), पहाड़ी।

५ हिंदी एवं हिंदी भाषा-मंडल

•

- 'हिंदी' नाम
- हिंदी का क्षेत्र
- हिंदी की उत्पति
  - —आदि काल
  - —मध्यकाल
  - —आधुनिक काल
- हिंदी भाषा-मंडल
- हिंदी भाषा-मंडल की भाषाएं
  - —साधु हिंदी
  - —उर्दू
  - —हिंदी-उर्दू में अंतर
  - —हिंदवी, दक्खिनी, रेख़्ता, रेख़्ती
  - —हिंदुस्तानी
  - —पश्चिमी हिंदी एवं पूर्वी हिंदी
  - —पश्चिमी हिंदी–पूर्वी हिंदी में अंतर
- पश्चिमी हिंदी की बोलियां
  - —व्रज
  - —कन्नौजी
  - —बुंदेली
  - —खड़ी
  - —बांगरू
- पूर्वी हिंदी की बोलियां
  - —अवधी
  - —बघेली
  - —छतीसगढ़ी
- भोजपुरी
- हिंदी शब्दावली

•

५.१ 'हिंदी' नाम

'हिंदी' शब्द का बहुप्रचलित प्रयोग दो अर्थों में होता रहा है—एक तो 'हिंदुस्तान के निवासी' के अर्थ में (हिंदी हैं, हम-वतन है हिंदोस्तां हमारा—इकबाल) एवं दूसरा भाषा के अर्थ में। यों इसका प्रयोग हिंदुस्तान के लिए (ईरान के बादशाह नौशेखां (५३१-५७९ ई०) के आदेश से किये गये पंचतंत्र पर आधारित 'कर्कटक और दिमनक' के अनुवाद 'कलीला व दिमना' में लिखा गया है कि यह अनुवाद 'जबान-ए-हिंदी' से किया गया है। यहां 'हिंदी' का अर्थ 'हिंदुस्तान' से है। 'जबान-ए-हिंदी' अर्थात हिंदुस्तान की जबान या भाषा) एवं हिंदुस्तान के मुसलमानों के लिए (अमीर खुसरो ने लिखा है 'बादशाह ने हिंदुओं को तो हाथी से कुचलवा डाला; किंतु मुसलमान, जो हिंदो थे, सुरक्षित रहें। यहां हिंदी का अर्थ हिंदुस्तान के मुसलमानों से है।) भी हुआ है।

भाषा के अर्थ में भी 'हिंदी' शब्द अनेक संदर्भों में प्रयुक्त हुआ है एवं अब भी होता है।

'हिंदी' का भाषा के रूप में विस्तृत अर्थ है 'हिंदुस्तान की भाषा'। जैसे 'जापानी' अर्थात जापान की भाषा, 'रूसी' अर्थात रूस की भाषा वैसे ही 'हिंदी' अर्थात हिंद (हिंदुस्तान या भारत) की भाषा।

इससे कम व्यापक अर्थ में इसका प्रयोग संपूर्ण उत्तर भारत की भाषा के रूप में होता है।

शास्त्रीय, विशेषकर भाषा-शास्त्रीय दृष्टि से हिंदी के लिए उपर्युक्त दोनों अर्थ ग्रहणीय नहीं समझे जाते। भाषा-शास्त्रीय दृष्टि से हिंदी शब्द का प्रयोग निम्नलिखित स्थितियों में होता है।

(क) वह प्रदेश जिसमें बिहार, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, राजस्थान, पंजाब एवं हिमाचल प्रदेश के कुछ भाग आ जाते हैं, हिन्दी प्रदेश कहा जाता है; अर्थात इस प्रदेश की भाषा को 'हिंदी' कहा जाता है। इस दृष्टि से हिंदी में बिहारी, पूर्वी हिंदी, पश्चिमी हिंदी, राजस्थानी एवं पहाड़ी भाषाएं आ जाती हैं। सामान्य रूप से हिंदी का प्रयोग इसी अर्थ में होता है। 'हिंदी' शब्द के इस प्रयोग से भाषावैज्ञानिक प्रायः सहमत नहीं हैं।

(ख) उपर्युक्त हिंदी प्रदेश में से बिहार, राजस्थान एवं हिमाचल प्रदेश के कुछ भागों को अलग करने पर जो भू-भाग बचता है, उस भू-भाग के बोल-चाल, शिक्षा एवं साहित्य की भाषा हिंदी है। इस प्रदेश में मुख्य रूप से उत्तर प्रदेश एवं मध्य प्रदेश आ जाते हैं। इस दृष्टि से हिंदी के अंतर्गत मात्र पश्चिमी

हिंदी एवं पूर्वी हिंदी को गिना जाता है। भाषा-शास्त्री बहुधा 'हिंदी' के इसी प्रयोग को मानते हैं।

(ग) 'हिंदी' शब्द का एक सीमित प्रयोग उस परिनिष्ठित रूप के लिए होता है जो रूप 'राष्ट्रभाषा' के लिए स्वीकृत है तथा उपर्युक्त हिंदी प्रदेश में साहित्य, शिक्षा एवं प्रशासकीय कार्यों का माध्यम है। यह रूप हिंदी की एक बोली—खड़ी, पर आधारित है तथा 'साहित्यिक हिंदी', 'साधु हिंदी', 'परिनिष्ठित हिंदी' आदि नामों से पुकारा जाता है।

(घ) सुनीति कुमार चटर्जी का विचार है कि पश्चिमी हिंदी को ही वास्तव में हिंदी मानना चाहिए। उनके इस मत से अधिक विद्वान सहमत नहीं हैं।

५.२ हिंदी का क्षेत्र :

हिंदी का क्षेत्र, 'हिंदी' नाम के विस्तार एवं संकोच पर विस्तृत एवं संकुचित होता है। यदि 'हिंदी' शब्द विस्तुत अर्थ में लिया जाय (हिंदी = हिंद की भाषा) तो सारा हिंदुस्तान ही हिंदी का क्षेत्र है। अत्यंत सीमित अर्थ (केवल पश्चिमी हिंदी) ग्रहण करने पर उसका क्षेत्र दिल्ली, आगरा, मेरठ के आस-पास तक ही सीमित रह जायगा। सामान्य रूप से पश्चिमी एवं पूर्वी हिंदी के सम्मिलित क्षेत्र को हिंदी का क्षेत्र माना जाता है। ग्रियर्सन के अनुसार इस क्षेत्र की सीमाएं हैं—पश्चिम में अंबाला (पंजाब) से लेकर पूर्व में वाराणसी तक और उत्तर में नैनीताल की तलहटी से लेकर दक्षिण में बालाघाट (मध्य प्रदेश) तक।

५.३ हिंदी की उत्पत्ति एवं विकास :

भारतीय आर्य भाषाओं का मध्ययुग १० वीं शताब्दी के निकट समाप्त होता है तथा वहीं से आधुनिक आर्य भाषाओं का युग आरंभ होता है। अतः हिंदी सहित समस्त आधुनिक आर्य भाषाओं की उत्पत्ति का समय १० वीं शताब्दी के आस-पास माना जाता है। आरंभ के २-३ सौ वर्षों की अवधि को 'संक्रमण काल' अथवा 'संधि काल' कहा जाता है क्योंकि इस अवधि की भाषा में मध्यकालीन अपभ्रंश भाषा के ह्रास एवं आधुनिक आर्य भाषाओं के विकास के चिह्न एक साथ दृष्टिगोचर होते हैं।

यों तो हिंदी भाषा-मण्डल की प्रत्येक सहभाषा के विकास की अपनी कहानी है किंतु सहभाषा होने के कारण उनके विकास की एक सामान्य कहानी भी है जिसे हिंदी के विकास की कहानी कहा जा सकता है। विकास की दृष्टि से

हिंदी की तीन स्पष्ट अवस्थाओं का बोध होता है। इन अवस्थाओं को काल की संज्ञा दी जाती है। इस प्रकार हिंदी के विकास के तीन काल माने जाते हैं।

(क) आदि काल (१००० ईसा–१५०० ईसा)

(ख) मध्य काल (१६०० ईसा–१८०० ईसा)

(ग) आधुनिक काल (१९०० ईसा–)

५.३.१ आदिकाल

हिंदी का आदिकाल प्राय: १००० ई० से १५०० तक माना जाता है। यह युग राजनैतिक दृष्टि से अशांति एवं उथल-पुथल का युग था, जो नई भाषा के विकास हेतु अनुकूल नहीं था।

इस काल की भाषा के मुख्य तीन रूप दिखलाई पड़ते हैं।

अपभ्रंशाभास रूप—अपभ्रंश से प्रभावित भाषा रूप, जिसमें सिद्धों, नाथों एवं जैनियों का धार्मिक साहित्य उपलब्ध होता है।

पिंगल रूप—स्थानीय भाषा एवं मध्य देश अथवा ब्रजभूमि की भाषा के मिश्रित रूप का नाम पिंगल है। पिंगल उस समय साहित्य में प्रयुक्त होने वाला मुख्य भाषा-रूप है।

डिंगल रूप—अपभ्रंश एवं राजस्थानी के मिश्रित रूप को डिंगल कहा जाता है। चारणों की वीरगाथाओं की भाषा डिंगल है। बीसलदेव रासो, पृथ्वीराज रासो आदि रचनाओं की भाषा डिंगल ही है।

उपर्युक्त भाषा-रूपों के अतिरिक्त इस काल के उत्तरार्ध में दो और भाषा-रूप दिखलाइ पड़ते हैं। इनमें से एक रूप वह है जिसे पुरानी हिंदी या हिंदवी कहा जाता है। इस भाषा-रूप में अरबी-फारसी शब्दों की अपेक्षाकृत अधिकता है। दूसरा रूप है पूर्व में विकसित पुरानी मैथिली का, जिसमें विद्यापति की रचनाएं मिलती हैं।

यह हिंदी का आरंभिक युग है अत: इस युग में विभिन्न बोलियों एवं उप-भाषाओं का स्पष्ट अंतर लक्षित नहीं होता। प्रत्येक भाषा रूप में अन्य रूपों का मिश्रण दिखलाई पड़ता है।

अपभ्रंश की प्राय: समस्त ध्वनियां हिंदी में आ गई थीं। इसके अतिरिक्त इस काल में 'ऐ' एवं 'औ' जैसी संयुक्त स्वर ध्वनियां हिंदी में विकसित हुईं। अपभ्रंश में तद्भव शब्दों की संख्या अधिक थी। आदिकालीन हिंदी में भी यही प्रवृत्ति विद्यमान रही। इस काल की भाषा में फारसी, अरबी, तुर्की आदि

मुसलमानी भाषाओं के अनेक शब्द आ गये जो मुसलमानों के साथ बढ़ते हुए संपर्क का परिणामा था।

इस काल की प्रमुख साहित्यिक रचनाएं हैं—चंद वरदायी का पृथ्वीराज रासो, नरपति नाल्ह का बीसलदेव रासो एवं जगनक का आल्हा खंड। इसके अतिरिक्त इस काल में गोरखनाथ एवं अन्य सिद्धों तथा नाथों की रचनाएं, विद्यापति की मैथिली में लिखी हुई रचनाएं, ख्वाजा बंदा नेवाज़, ख्वाजा मसऊद, खुसरो आदि मुसलमान कवियों की हिंदवी की रचनाएं तथा उस काल के उत्तर भाग में कबीर आदि संतो की रचनाएं भी प्राप्त होती हैं।

इस काल की प्रामाणिक लिखित सामग्री बहुत कम मात्रा में मिलती है। जो लिखित रचनाएं उपलब्ध होती हैं वे प्राय: संदिग्ध हैं। अत: इस काल की भाषा का पूर्ण आधिकारिक परिचय प्राप्त कर सकना संभव नहीं है।

५.३.२ मध्य काल :

हिंदी के विकास का मध्य काल प्राय: १६०० ई० से १८०० तक माना जाता है। यह मुगलों का शासन काल था। इस समय देश में राजनैतिक स्थिरता, व्यवस्था एवं शांति का वातावरण था, जिसके फलस्वरूप देशी भाषाओं को विकसित होने का अवसर प्राप्त हुआ।

इस काल में पर्याप्त मात्रा में साहित्य का सृजन हुआ। साहित्य मुख्य रूप से पद्यात्मक था। काव्य ग्रंथों की टीकाओं के रूप मे कुछ गद्यात्मक रचनाएं भी प्राप्त होती हैं।

इस काल में भाषा के जो दो मुख्य रूप विकसित हुए वे थे 'ब्रज' एवं 'अवधी'। ब्रज का विकास शौरसेनी प्राकृत के अपभ्रंश रूप से हुआ था, जबकि अवधी का संबंध अर्धमागधी प्राकृत के अपभ्रंश रूप से था। इस प्रकार ब्रज हिंदी क्षेत्र के पश्चिम में एवं अवधी उसके पूर्वी क्षेत्र में विकसित हुई थी।

सूफी कवियों कुतुबन, मंझन, जायसी एवं रामभक्त कवि तुलसीदास ने अवधी के विकास में महत्वपूर्ण योगदान किया है। अवधी को साहित्यिक भाषा का रूप देने का श्रेय तुलसी को ही है। अवधी का प्रचार मुख्य रूप से मध्य काल के मध्य तक ही रहा। व्रजभाषा का प्रयोग न केवल पश्चिम में हुआ, बल्कि वह संपूर्ण हिंदी क्षेत्र के साहित्य का माध्यम बन गयी थी। ब्रज का प्रयोग न केवल मध्य काल के अंत तक होता रहा अपितु आधुनिक काल में भी ब्रज भाषा की कई सुंदर रचनाएं प्राप्त होती हैं।

उपर्युक्त दो रूपों के अतिरिक्त खड़ी बोली पर आधारित 'दक्खिनी' का रूप भी विकसित हो चला था। 'दक्खिनी' का विकास दक्षिण में हुआ। मुसलमान शासन के साथ, दिल्ली से मेरठ के आस-पास बोली जाने वाली खड़ी बोली दक्षिण में पहुंच गयी। वहां उसे मुसलमान शासकों के दरबार का आश्रय एवं मुसलमान साहित्यकारों का सहयोग प्राप्त हुआ। यही 'दक्खिनी' अथवा 'दक्खिनी हिंदी' १८वीं शताब्दी के आस-पास उत्तर भारत में 'उर्दू' के रूप में विकसित हुई।

मध्य काल के पूर्वार्ध में मुख्य रूप से धार्मिक साहित्य की रचना हुई। अवधी मुख्य रूप से राम-साहित्य का माध्यम रही और ब्रज कृष्ण-साहित्य का। जायसी, तुलसी, सूर, मीरा, इस समय के मुख्य कवि हैं। मध्य काल का उत्तरार्ध रीति साहित्य का समय है। केशव, विहारी, भूषण, देव आदि मुख्य रीतिकालीन कवि हैं जिन्होंने मुख्य रूप से ब्रजभाषा में रचनाएं की।

इसी काल की 'दक्खिनी' (उर्दू) के मुख्य साहित्यकार हैं—क़ुली क़ुतुब शाह, नुसरती, वजही, वली आदि।

ध्वनियों की दृष्टि से इस काल की भाषा में क़, ख़, ग़, ज़, फ़ ध्वनियों का प्रयोग आरंभ हुआ। इसका एक मात्र कारण अरबी, फारसी के आगत शब्दों का शुद्ध उच्चारण करने की प्रवृत्ति थी। यह प्रवृत्ति मुख्य रूप से पढ़े-लिखे लोगों में थी। शासकों की दरबारी भाषा फारसी होने के कारण फारसी का प्रचार-प्रसार बढ़ा और इसके कारण हज़ारों की संख्या में फारसी, एवं फारसी के माध्यम से अरबी, तुर्की शब्द हिंदी में प्रविष्ट हुए। इस युग में धार्मिक साहित्य की प्रधानता रही इस कारण संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग भी बढ़ा। इस काल के उत्तरार्ध में यूरोपवासियों से भारत का संपर्क बढ़ा जिसके कारण अंग्रेज़ी, फ्रांसीसी आदि यूरोपीय भाषाओं के कुछ शब्दों ने इस काल की भाषा में स्थान प्राप्त कर लिया।

५.३.३ आधुनिक काल :

इस काल का आरंभ १९वीं शताब्दी के आस-पास होता है। १८वीं शताब्दी के मध्य में ही अंग्रेज़ों ने भारत में अपने पांव जमा दिये थे। अंग्रेज़ों के आगमन से भारत में पश्चिमी सभ्यता, पश्चिमी साहित्य एवं पश्चिमी भाषाओं का आगमन हुआ। शासन बदल जाने से फारसी का राजभाषा-पद जाता रहा। अंग्रेज़ों ने एक ओर अपनी अंग्रेज़ी को प्रोत्साहित किया तो दूसरी ओर यहां के लोगों से अपनापन स्थापित करने के लिए तथा शासन को सुचारु रूप से चलाने के लिए यहां की भाषाओं के विकास का प्रयत्न किया। अंग्रेज़ों

ने शासन की बागडोर मुसलमानों से ली थी अतः उर्दू के प्रति वे अपना एक विशेष उत्तरदायित्व अनुभव कर रहे थे। दूसरी ओर हिंदी मध्य देश की मुख्य भाषा के रूप में उनके सामने खड़ी थी। अतः कलकत्ते में फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना कर उन्होंने हिंदी और उर्दू दोनों के विकासार्थ प्रयत्न आरंभ किया। कर्मचारियों को हिंदी सिखाने के लिए तथा अपने धर्म-प्रचार के लिए उन्हें गद्य की आवश्यकता थी। इस युग में गद्य की आवश्यकता इसलिए भी थी क्योंकि यह युग विभिन्न विचारों के प्रचार का युग था। गद्य के लिए उन्होंने ब्रज की अपेक्षा खड़ी बोली को अधिक उपयुक्त समझा। इस प्रकार इस युग के आरंभ में ही खड़ी बोली को ऊपर उभरने का अवसर प्राप्त हुआ।

आधुनिक काल के पूर्वार्ध में गद्य की भाषा खड़ी बोली रही किंतु पद्य की भाषा ब्रज ही बनी रही। उत्तरार्ध में पहूंचते-पहुंचते खड़ी बोली पद्य की भाषा भी बन गयी। और आज खड़ी बोली पर आधारित 'साधु हिंदी' न केवल मध्य देश के संपूर्ण साहित्य का माध्यम है अपितु इस प्रदेश की शिक्षा, प्रशासन एवं शिष्ट समाज के सामाजिक वार्तालाप का माध्यम भी है। साथ ही उसे स्वतंत्र भारत की 'राष्ट्रभाषा' का गौरवमय पद भी प्राप्त हो चुका है।

'साधु हिंदी' के अतिरिक्त इस काल में अनेक सहभाषाओं, उनकी उप-भाषाओं एवं बोलियों का विकास भी हुआ है। साहित्यिक हिंदी के साथ-साथ साहित्यिक उर्दू का प्रयोग भी होता रहा है।

इस काल की भाषा में तत्सम शब्दों की संख्या बहुत अधिक बढ़ गयी है। ज्ञान-विज्ञान के लिए निर्मित नये पारिभाषिक शब्दों का मूल आधार संस्कृत शब्दावली ही है। हिंदी ने अन्य भारतीय आर्य भाषाओं एवं आर्येतर भाषाओं से भी शब्द ग्रहण किये हैं। अंग्रेज़ी के आगत शब्दों की संख्या तो बहुत अधिक है। इसके अतिरिक्त समर्थ साहित्यकारों ने अनेक नये शब्दों का निर्माण किया है। अंग्रेज़ी के प्रभाव से इस काल में 'ऑ' (डॉक्टर) जैसी नवीन स्वर ध्वनि का आविर्भाव हो रहा है।

भारतेंदु, महावीर प्रसाद द्विवेदी, रामचंद्र शुक्ल, प्रेमचंद, प्रसाद, पंत, निराला, महादेवी वर्मा हजारो प्रसाद द्विवेदी आदि इस काल के कुछ समर्थ साहित्यकार हैं। साहित्य की समस्त विधाओं का इस युग में पर्याप्त विकास हुआ है।

५.४ हिंदी भाषा-मण्डल :

वास्तव में हिंदी किसी प्रदेश विशेष की भाषा नहीं है। सही अर्थों में हिंदी एक भाषा न होकर एक भाषा-समूह है जिसमें अनेक भाषाएं, उपभाषाएं,

बोलियां, तथा उपबोलियां सम्मिलित हैं।

हिंदी समूह अथवा हिंदी परिवार के सदस्यों के संबंध में कुछ मतभेद अवश्य है। ग्रियर्सन, सुनीतिकुमार चटर्जी, धीरेंद्र वर्मा एवं अन्य विद्वान राजस्थानी एवं बिहारी को (चटर्जी पूर्वी हिंदी को भी) हिंदी के अंतर्गत रखने के पक्ष में नहीं हैं। पहाड़ी को भी वे हिंदी की अपेक्षा राजस्थानी के अंतर्गत रखना अधिक सही समझते हैं।

इधर डॉ० हरदेव बाहरी एवं कुछ दूसरे विद्वान इस पक्ष में हैं कि राजस्थानी, पहाड़ी एवं बिहारी को हिंदी के अंतर्गत ही माना जाय। इस संबंध में इन विद्वानों का मत है कि राजस्थान (राजस्थानी का प्रदेश), बिहार (बिहारी का प्रदेश) एवं हिमाचल प्रदेश (पहाड़ी का प्रदेश—नेपाल को छोड़कर) में साहित्य, शिक्षा, प्रशासन एवं पत्र-व्यवहार की भाषा हिंदी है। इनके विचार से स्वतंत्र भारत के संविधान की आठवीं सूची में उल्लिखित भाषाओं में राजस्थानी, बिहारी एवं पहाड़ी को इसीलिए अलग से नहीं गिनाया गया है क्योंकि इन भाषाओं को हिंदी के अंतर्गत माना गया है। डॉ० बाहरी के विचार से "राजस्थानी भाषा या बिहारी भाषा नाम की कोई चीज ही नहीं—इनकी कोई अपनी लिपि नहीं, साहित्य की अपनी परंपरा नहीं, शासन द्वारा कोई मान्यता प्राप्त नहीं, कोई एक स्वरूप नहीं, कोई सामान्य आदर्श नहीं।"

प्रश्न यह है कि दो भाषाओं की भिन्नता का निर्णय किस आधार पर होता है? साहित्य, लिपि, प्रशासकीय मान्यता, क्या ऐसे तत्व हैं जिनको भाषायी भिन्नता का आधार बनाया जा सके? भाषा-शास्त्रीय दृष्टि से भाषायी भिन्नता का मुख्य आधार भाषाओं की संरचना (ध्वन्यात्मक संरचना एवं व्याकरणात्मक संरचना) में पायी जानेवाली भिन्नता होती है। साहित्य, लिपि एवं प्रशासकीय मान्यता भाषायी तत्व नहीं हैं। इसका एक प्रत्यक्ष उदाहरण कच्छी भाषा है। कच्छ, गुजरात प्रदेश का भाग है। कच्छी की न तो कोई लिपि है; न उसकी कोई विशेष साहित्यिक परंपरा है और न ही उसे गुजरात शासन से मान्यता प्राप्त है। कच्छ में साहित्य, शिक्षा एवं प्रशासन का माध्यम गुजराती है किंतु इससे कच्छी, गुजराती के अंतर्गत नहीं रखी जा सकती। निस्संदेह कच्छी गुजराती की उपभाषा अथवा बोली नहीं है। कच्छी, सिंधी की उपभाषा है।

मेरे इस कथन का यह तात्पर्य नहीं है कि बिहारी तथा राजस्थानी को हिंदी से असंबंधित माना जाय, मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि उनका संबंध

भाषायी तथ्यों पर स्थापित होना चाहिए। इस संदर्भ में एक बात और कही जा सकती है। आज जैसी स्थिति बिहारी एवं राजस्थानी की है क्या वैसी ही स्थिति कुछ समय पूर्व पंजाबी की नहीं थी ? कुछ वर्ष पूर्व तक पंजाब में हिंदी ही साहित्य, शिक्षा एवं प्रशासन की भाषा थी, किंतु इस कारण पंजाबी हिंदी की उपभाषा नहीं थी, वह एक स्वतंत्र भाषा थी और है।

सही बात तो यह है कि आज जिन्हें हिंदी की बोलियां माना जाजा है, उनमें से कुछ बोलियों के स्तर से ऊपर उठकर उपभाषाओं की स्थिति में पहुंच गयी हैं, तथा यदि उन्हें आवश्यक प्रोत्साहन प्रदान किया जाय तो वे स्वतंत्र भाषाओं के रूप में विकसित हो सकती हैं। उदाहरण के लिए भोजपुरी को लिया जा सकता है। यदि पूर्वाग्रहों को छोड़ दिया जाय तो यह मानना पड़ेगा कि भोजपुरी में एक भाषा बनने का सामर्थ्य है। यों भी बोली, उपभाषा, भाषा परस्पर संबंधित स्थितियां हैं; उनमें कोई तात्विक भिन्नता अथवा अंतर नहीं है।

हिंदी भाषा-समूह के संबंध में मतभेद की स्थिति इसलिए उत्पन्न होती है क्योंकि हम हिंदी को एक विशिष्ट भाषा मानने का प्रयत्न करते हैं। मेरे विचार से हिंदी एक भाषा नहीं, वरन् भाषा-समूह है, जिसे 'हिंदी भाषा-मंडल' कहना उचित होगा। इस मंडल के अंतर्गत आनेवाली भाषाओं का संबंध, भाषा-उपभाषा का न होकर, 'सहभाषाओं' का-सा है। यह संबंध कुछ ऐसा ही है जैसा कि सौर-मंडल में सूर्य और अन्य ग्रहों (मंगल, शुक्र आदि) का है। ये समस्त ग्रह एक ओर अपने आप में स्वतंत्र ग्रह हैं, दूसरी ओर सूर्य से संबंधित होने के कारण परस्पर सहयोगी हैं। फिर जैसे ग्रहों के अपने उपग्रह होते हैं वैसे ही इनमें से प्रत्येक भाषा की अपनी उपभाषाएं एवं बोलियां हैं।

'हिंदी भाषा-मंउल' की सहयोगी भाषाएं हैं—पूर्वी हिंदी, पश्चिमी हिंदी, बिहारी, राजस्थानी एवं पहाड़ी। इस भाषा-मंडल का आधुनिक काल में केन्द्रीय रूप वह है जिसे 'साधु हिंदी', 'साहित्यिक हिंदी' 'परिनिष्ठित हिंदी आदि नामों से पुकारा जाता है तथा जो भारतीय संविधान में राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकृत है। उर्दू, हिंदुस्तानी इसी रूप के उपरूप हैं।

५.५ हिंदी भाषा-मंडल की भाषाएं :

आगामी परिच्छेदों में हिंदी भाषा-मंडल की भाषाओं का विवेचन किया जा रहा है। (राजस्थानी, बिहारी, पहाड़ी को छोड़कर जिनका परिचय पूर्व के अध्याय में दिया गया है।)

५.५.१ साधु हिंदी :

'साधु हिंदी' (परिनिष्ठित हिंदी) हिंदी भाषा-मंडल का केंदीय रूप है। यही वह रूप है जिसे भारतीय संविधान में 'राष्ट्रभाषा' की संज्ञा दी गई है। 'साधु हिंदी' सहभाषी प्रांतों में अंतर-प्रांतीय व्यवहार का माध्यम है। इन प्रांतों में वह साहित्य, शिक्षा, प्रशासन के अतिरिक्त सामाजिक अवसरों पर शिष्ट समाज के वार्तालाप का साधन भी है। सामान्य रूप से 'हिंदी' कहने पर 'साधु हिंदी' का ही बोध होता है। साधु हिंदी की संरचना (ध्वन्यात्मक एवं व्याकरणात्मक) का मुख्य आधार पश्चिमी हिंदी की खड़ी बोली है किंतु फारसी एवं अंग्रेजी के प्रभाव से उसकी ध्वन्यात्मक तथा व्याकरणात्मक संरचनाओं में कुछ परिवर्तन-परिवर्धन (कुछ नवीन ध्वनियों का आविर्भाव एवं कुछ नये व्याकरणात्मक प्रयोगों का प्रचलन) हुआ है (संरचना के परिच्छेद में इसका वर्णन किया जा रहा है)। इसके शब्द-भंडार का मूल स्रोत संस्कृत शब्दावली है। संस्कृत शब्दों के आधार पर अनेक नये शब्दों की रचना भी हुई है। यों इसमें फारसी-अरबी के अतिरिक्त अंग्रेज़ी एवं अन्य यूरोपीय भाषाओं के शब्दों की भी काफी संख्या है। (अधिक विवरण 'शब्द-भंडार' परिच्छेद में दिया जा रहा है)।

साधु हिंदी; देवनागरी लिपि में लिखी जाती है। साहित्यिक समृद्धि एवं विचार अभिव्यक्ति की अनुपम क्षमता के कारण, साधु हिंदी का स्थान संसार की मुख्य एवं श्रेष्ठ भाषाओं में है।

५.५.२ उर्दू :

उर्दू, साधु अथवा परिनिष्ठित हिंदी रूप का एक उपरूप अर्थात शैली है।

'उर्दू' तुर्की भाषा का शब्द माना जाता है जिसका अर्थ है 'पड़ाव', 'शिविर', 'फ़ौजी पड़ाव,' 'खेमा' आदि। शाही पड़ाव को 'उर्दू-ए-मुअल्ला' कहा जाता था। पड़ावों में प्रयुक्त होने के कारण यह भाषा 'ज़बान-ए-उर्दू-ए-मुअल्ला' अथवा 'ज़बान-ए-उर्दू' कही गयी; जो संक्षिप्त होकर 'उर्दू' रह गई।

उर्दू की उत्पत्ति के संबंध में यद्यपि अनेक मत प्रकट किये जाते हैं (उर्दू की उत्पत्ति ब्रज, पंजाबी, सिंधी से भी बताई जाती है) किंतु मान्य मत यह है कि इसका आधार भी दिल्ली के आस-पास की वही खड़ी बोली है जो साहित्यिक हिंदी का आधार है। दिल्ली में राजधानी होने के कारण मुसलमान शासकों ने दिल्ली के आस-पास की बोल-चाल की बोली को अपनाया तथा उसमें अरबी-फारसी के पर्याप्त शब्दों का प्रयोग कर उन्होंने जिस काम-चलाऊ भाषा को

जन्म दिया, वही आगे चलकर 'उर्दू' भाषा के नाम से प्रसिद्ध हुई। अतः उर्दू की उत्पत्ति तब से मानी जानी चाहिए जब से दिल्ली में इस्लामी शासन स्थापित हुआ। यह समय १३वीं शताब्दी के आरंभ का है। इस्लामी शासन के साथ यह कामचलाऊ भाषा दक्षिण में पहुंची जहां दक्खिनी के नाम से प्रसिद्ध हुई। यहां उसमें साहित्य की रचना आरंभ हुई। दक्खिनी के कवि 'वली' के उत्तर की ओर आने पर यह भाषा फिर उत्तर भारत में पहुंच गई तथा मुसलमान शासकों का आश्रय पाकर फलती-फूलती रही। इस प्रकार उत्पत्ति की दृष्टि से उर्दू (साहित्यिक उर्दू), साहित्यिक हिंदी से प्राचीन है।

भाषायी संरचना को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उर्दू हिंदी से भिन्न भाषा नहीं है। इस दृष्टि से वह साधु हिंदी का एक ऐसा उपरूप अथवा शैली है जिसमें फारसी-अरबी के शब्दों की संख्या पर्याप्त मात्रा में हैं तथा जिसके कुछ व्याकरणात्मक रूप (एवं कुछ स्थितियों में कुछ ध्वन्यात्मक रूप) भिन्न हैं एवं जो अरबी पर आधारित लिपि में लिखी जाती है।

५.५.३ हिंदी-उर्दू में अंतर :

संरचनात्मक दृष्टि से भिन्न न होने पर भी हिंदी एवं उर्दू में कुछ भिन्नताएं दृष्टिगोचर होती हैं। संक्षेप में ये भिन्नताएं निम्नलिखित हैं—

(क) उर्दू में फारसी, अरबी तुर्की भाषाओं के शब्दों की संख्या अधिक रहती है। इसके विपरीत हिंदी में संस्कृत के तत्सम-तद्भव शब्द अधिक मात्रा में हैं।

(ख) क़, ख़, ग़, ज़, फ़, जैसी व्यंजन ध्वनियों का उर्दू में प्रयोग होता है। उर्दू के ही प्रभाव से इन ध्वनियों का हिंदी में आगमन हो रहा है (इन ध्वनियों का प्रयोग उर्दू पढ़े-लिखे व्यक्ति, सावधानी पूर्वक बोलने पर ही कर पाते हैं)।

(ग) उर्दू में विसर्गांत शब्दों का पर्याप्त प्रयोग होता है ('मलिकः', 'आइंदः' आदि), हिंदी में विसर्गांत शब्दों की संख्या न के बराबर है। उर्दू के ऐसे शब्द हिंदी में आकारांत बन जाते हैं (मलिकः, का मलिका, आइंदः का आइंदा आदि)।

(घ) एक वचन से बहुवचन बनाने की पद्धति उर्दू एवं हिंदी में प्रायः समान है; किंतु उर्दू में कुछ ऐसे प्रयोग भी होते हैं जो हिंदी में नहीं होते। यथा—'मकान' का 'मकानात', 'हाकिम' का 'हुक्काम'। कुछ शब्द जो उर्दू में

बहुवचन हैं, हिंदी में एक वचन में प्रयुक्त होते हैं। यथा—'अख़बार', 'ख़बर' का 'कवायद', 'कायदः' का बहुवचन है किंतु हिंदी में 'अख़बार' तथा 'कवायद' एकवचन के रूप में ही प्रयुक्त होते हैं।

(ङ) लिंग बदलने की प्रक्रिया भी दोनों भाषाओं में प्रायः समान है किंतु उर्दू में कुछ नये रूप भी मिलते हैं। 'मलिक' से 'म'लकः', 'ख़ान' से 'ख़ानम'। ऐसे कुछ रूप उर्दू के प्रभाव से हिंदी में भी प्रयुक्त होने लगे हैं।

(च) उर्दू में संबंध अभिव्यक्त करने के लिए ज़ेर-ए-इज़ाफ़त का प्रयोग होता है जिसके अनुसार संबंधित शब्दों का क्रम बदल जाता है। यथा 'शेर-ए-पंजाब' अर्थात 'पंजाब का शेर'। हिंदी में इस प्रकार का प्रयोग नहीं होता।

(छ) कुछ ऐसे उपसर्ग, प्रत्यय, अव्यय हैं जिनका प्रयोग उर्दू में होता है तो हिंदी में नहीं। (उर्दू—बा-बाअदब, बराय-बराय मेहरबानी)।

(ज) हिंदी देवनागरी लिपि में लिखी जाती है एवं उर्दू अरबी लिपि (अरबी लिपि के आधार पर बनी हुई लिपि) में।

ऊपर जिन भिन्नताओं का उल्लेख किया गया है वे ऐसी नहीं हैं जिनके आधार पर उर्दू को अलगभाषा माना जाय।

५.५.४ हिंदवी, दक्खिनी, रेख़्ता, रेख़्ती :

मुसलमान शासकों द्वारा अपनायी गयी अरबी-फारसी शब्दों से युक्त दिल्ली के आस-पास की स्थानीय खड़ी बोली का उर्दू नाम तो १९वीं शताब्दी के आरंभ में पड़ा किंतु उसका आविर्भाव तो १३वीं शताब्दी के आरंभ में ही हो चुका था। 'उर्दू' कहलवाने से पहले यही भाषा, कुछ थोड़े से परिवर्तन के साथ, अनेक नामों से प्रचलित थी। उसका सबसे प्राचीन नाम 'हिंदवी' अथवा 'हिंदुवी' है। इन्शा अल्ला खां ने अपनी रचना रानी केतकी की कहानी में जब यह लिखा था कि 'उसमें हिंदवी छुट अन्य किसी भाषा का पुट नहीं है' तब उनका तात्पर्य संभवतः इसी हिंदवी से था (यह नाम संभवतः १३-१४वीं शताब्दी तक रहा)।

१३वीं शताब्दी में मुसलमानी शासन उत्तर से दक्षिण की ओर अग्रसर हुआ, जिसके फलस्वरूप इस हिंदवी कही जाने वाली भाषा का दक्षिण में प्रवेश हुआ। दक्षिण में उसे मुसलमान शासकों के दरबार का आश्रय मिला तथा मुसलमान साहित्यकारों का सहयोग। इस प्रकार इस भाषा-रूप का साहित्य में प्रवेश हुआ। दक्षिण की इस साहित्यिक भाषा को 'दक्खिनी', 'दकिनी'

अथवा 'दक्खिनी हिंदी' नाम दिये गये हैं। बंदानवाज़, निजामी आदि इसी दक्खिनी के कवि थे।

'रेख़्ता' दक्खिनी एवं उर्दू के बीच की कड़ी है। 'दक्खिनी' का विकसित रूप, जिसका प्रचार दक्षिण की अपेक्षा उत्तर भारत में अधिक हुआ, 'रेख़्ता' कहा जाता है। १८वीं शताब्दी में 'दक्खिनी' के प्रसिद्ध कवि 'वली' ने 'रेख़्ता' नाम की एक नवीन काव्य-शैली को जन्म दिया। इस काव्य-शैली के आधार पर ही उस भाषा रूप को भी रेख़्ता कहा गया। 'वली' ने दक्षिण से उत्तर में आकर इसका प्रचार किया। १३वीं शताब्दी के आस-पास लिखी फ़रीद की कविता को भी 'रेख़्ता' के नाम से ही जाना जाता है।

'रेख़्ता' एवं 'रेख़्ती' में मुख्य अंतर यह था कि पुरुषों की भाषा को 'रेख़्ता' कहा जाता था एवं स्त्रियों की भाषा को 'रेख़्ती'। यों स्त्रियों की भाषा होने के कारण 'रेख़्ती' में अरबी-फारसी के कठिन शब्द अपेक्षाकृत कम रहते थे।

१८वीं शताब्दी की 'रेख़्ता' ही १९वीं शताब्दी तक पहुंचते-पहुंचते 'उर्दू' बन गयी।

५.५.५ हिंदुस्तानी :

'हिंदुस्तानी' को सामान्य रूप से हिंदी एवं उर्दू के मध्य की ऐसी भाषा माना जाता है जिसमें हिंदी एवं उर्दू की अपेक्षा संस्कृत एवं फारसी-अरबी के कठिन शब्द कम होते हैं। इस दृष्टि से हिंदुस्तानी का आधार भी दिल्ली के आस-पास की बोल-चाल की भाषा अर्थात खड़ी ही है। हिंदुस्तानी शब्द का प्रथम प्रयोग चाहे जब एवं जिस अर्थ में हुआ हो, उसका प्रचार अंग्रेज़ों ने किया। इस हिंदुस्तानी के प्रयोग के कारण हिंदी को हिंदुओं से एवं उर्दू को मुसलमानों से संबद्ध किया जाने लगा।

हिंदी-उर्दू से जोड़ी गयी इस धार्मिकता से प्रभावित होने के कारण ही गांधीजी ने 'राष्ट्रभाषा' के लिए हिंदी के स्थान पर हिंदुस्तानी शब्द का प्रयोग करना उचित समझा।

वास्तव में भाषा का कोई धर्म नहीं होता; वह किसी धर्म से संबद्ध नहीं होती।

यह मानी हुई बात है कि संपूर्ण भारत में सामान्य रूप से जनता जिस 'संपर्क भाषा' का विभिन्न सामाजिक, धार्मिक अवसरों पर प्रयोग करती है, उसका रूप साहित्यिक हिंदी की अपेक्षा हिंदुस्तानी के निकट है। किंतु

हिंदुस्तानी को एक भाषा के रूप में स्वीकार करना सही नहीं है, क्योंकि उसकी ध्वन्यात्मक एवं व्याकरणात्मक संरचनाएं, हिंदी (साधु हिंदी) से भिन्नता नहीं रखतीं। इसी से उर्दू के समान ही हिंदुस्तानी को भी हिंदी (साधु हिंदी) का एक उपरूप मानना चाहिए।

५.५.६ पश्चिमी हिंदी एवं पूर्वी हिंदी :

हिंदी भाषा मंडल की सहभाषाएं, जिनका परस्पर एवं केंद्रीय रूप (साधु हिंदी) से अत्यंत निकट संबंध है, वे हैं पश्चिमी हिंदी एवं पूर्वी हिंदी। वास्तव में ये दोनों सहभाषाएं, साधु हिंदी से मिलकर, हिंदी भाषा मंडल का एक आंतरिक मंडल बनाती हैं। यह पहले ही बताया जा चुका है कि सामान्य रूप से पश्चिमी हिंदी, पूर्वी हिंदी एवं साधु हिंदी के सम्मिलित रूप को ही हिंदी कहा जाता है।

५.५.७ पश्चिमी हिंदी तथा पूर्वी हिंदी में अंतर :

पश्चिमी हिंदी शौरसेनी प्राकृत के अपभ्रंश रूप से उद्भूत होने के कारण शौरसेनी से प्रभावित है जबकि पूर्वी हिंदी अर्धमागधी के अपभ्रंश रूप से विकसित हुई है। इसलिए पूर्वी हिंदी पर मागधी का प्रभाव तो है ही, शौरसेनी के प्रभाव से भी वह मुक्त नहीं है। भौगोलिक दृष्टि से जहां पश्चिमी हिंदी, राजस्थानी, गुजराती, पंजाबी और मराठी से घिरी होने के कारण उनसे प्रभावित है, वहां पूर्वी हिंदी, बिहारी, उड़िया और बंगाली के बीच में होने के कारण उनसे प्रभावित है। यही भौगोलिक तथा ऐतिहासिक भिन्नताएं पश्चिमी और पूर्वी हिंदी को एक-दूसरे से अलग करती हैं। नीचे इन भाषाओं में पायी जानेवाली कुछ भिन्नताओं का उल्लेख किया जाता है।

(क) पश्चिमी हिंदी (प. हि.) के 'ड़', 'ढ़' के स्थान पर पूर्वी हिंदी (पू. हि.) में 'र' तथा 'र्ह' का प्रयोग होता है। यथा—प. हि.—तोड़े, पू. हि.—तोरे।

(ख) पश्चिमी हिंदी में शब्द मध्यग 'ह' का प्रायः लोप हो जाता है जबकि पूर्वी हिंदी में वह प्रायः संध्यक्षररूप में सुरक्षित है। यथा—प, हि.–दिया, पू. हि.—देहेसि।

(ग) पश्चिमी हिंदी के शब्दों के आदि का 'य' तथा 'व', पूर्वी हिंदी में परिवर्तित होकर 'ए' तथा 'ओ' हो जाता है। कभी-कभी संध्यक्षररूप में 'ह'

का प्रयोग भी होता है। यथा—प. हिं. (ब्रज)—यामें, वामें, पू. हिं. — एमें, एहमें, ओमें, ओहमें।

(घ) पश्चिमी हिंदी में दो स्वर प्रायः एक साथ नहीं आते किंतु पूर्वी हिंदी में ऐसा कोई नियम नहीं है। परिणाम स्वरूप पश्चिमी हिंदी के 'ऐ' तथा 'औ', पूर्वी हिंदी में 'अइ' तथा 'अउ' में परिवर्तित हो जाते हैं यथा—प. हिं.—कहै, और, मौर, पू. हिं. क्रमशः—कहइ, अउर, मउर।

(ङ) पश्चिमी हिंदी के आकारांत (ब्रज के ओकारांत) शब्द पूर्वी हिंदी में अकारांत या व्यंजनांत हो जाते हैं। यथा—प. हिं.—बड़ा (ब्रज—बड़ो), पू. हिं. —बड़् या बड़।

(च) पश्चिमी हिंदी में आकारांत शब्दों का तिर्यक् रूप एकारांत बनता है जबकि पूर्वी हिंदी में ऐसा नहीं होता। यथा—

प. हिं.—घोड़ा	पू. हिं.—घोड़ा
तिर्यक्—घोड़े	तिर्यक—घोड़ा

(छ) पश्चिमी हिंदी की खड़ी बोली तथा ब्रजभाषा के 'जो', 'सो', आदि रूप पूर्वी हिंदी तथा भोजपुरी में जे, जवन, से, तवन, आदि रूपों में प्राप्त होते हैं।

(ज) पश्चिमी हिंदी में पुरुषवाचक सर्वनामों के संबंध रूपों में मध्यग 'ए' रहता है जो पूर्वी हिंदी में परिवर्तित होकर 'ओ' हो जाता है। यथा—प. हि.—मेरा, पू हिं—मोर।

(झ) पश्चिमी हिंदी (खड़ी बोली) में 'हम' पुरुषवाचक सर्वनाम बहुवचन (कभी-कभी एक वचन के लिए भी) प्रयुक्त होता है, जबकि पूर्वी हिंदी में वह केवल एकवचन के लिए है, बहुवचन बनाने के लिए उसमें 'लोग' जोड़ना अनिवार्य है।

(ञ) पश्चिमी हिंदी में 'ने' परसर्ग का प्रयोग उसकी निजी विशेषता है जिसका पूर्वी हिंदी में सर्वथा अभाव है। यथा—प. हिं.—उसने दिया, पू. हिं. (अवधी)—उ दिहिसि।

(ट) पश्चिमी एवं पूर्वी हिंदी के क्रिया-रूपों में भी पर्याप्त अंतर है। उदाहरण के लिए भूत एवं भविष्यकाल को लिया जा सकता है।

भूतकाल में, पश्चिमी हिंदी में, सर्वनाम के अनुसार क्रिया रूप में परिवर्तन नहीं होता किंतु पूर्वी हिंदी में सर्वनाम के अनुरूप क्रिया के रूप में परिवर्तन हो जाता है। यथा—प. हिं. में मैंने–, तुमने–, उसने–, तीनों के साथ —'मारा'

क्रिया रूप होगा किंतु पू. हिं. (अवधी) में मैंने--के पीछे--'मारेऊं' होगा किंतु तुमने —तथा उसने—के पीछे—'मारिस' होगा।

भविष्यकाल में पश्चिमी हिंदी (ब्रज) में -ह–का प्रयोग करने पर 'मारिहौं', 'मारिहै' जैसे रूप बनते हैं किंतु पूर्वी हिंदी (अवधि) में-ब- का प्रयोग कर 'मारिब', 'मारिबे' जैसे रूप बनाये जाते हैं।

५,६ पश्चिमी हिंदी को बोलियां :

पश्चिमी हिंदी की पांच मुख्य बोलियां गिनी जाती हैं--ब्रज, कन्नौजी, बुंदेली, खड़ी एवं बांगरू। इनमें से ब्रज, कन्नौजी एवं बुंदेली के मध्य बहुत अधिक समीपता है। दूसरी ओर खड़ी एवं बांगरू परस्पर निकटता रखती हैं।

५,६,१ ब्रज :

'ब्रज-मंडल' की भाषा ही 'ब्रज' कहलाती है। यही वह प्रदेश है जिसे कभी 'शूरसेन' कहा जाहा था। यह मथुरा, आगरा, अलीगढ़ एवं धौलपुर की प्रमुख बोली है।

पश्चिमी हिंदी की यह प्रमुख बोली है। ब्रज के अध्ययन से न केवल पश्चिमी हिंदी, वरन पहाड़ी एवं राजस्थानी भाषाओं के समझने में भी सहायता मिलती है, क्योंकि शौरसेनी प्राकृत से विकसित बोलियों में ब्रज महत्वपूर्ण बोली है।

हिंदी का मध्यकाल एक प्रकार से 'ब्रज-युग' कहा जा सकता है। अवधी की कुछ रचनाओं को छोड़कर संपूर्ण भक्ति-साहित्य तथा पूरा रीति-साहित्य ब्रज में है। ब्रज की साहित्यिक धारा आधुनिककाल में भी प्रवाहित होती रही है।

भुक्सा (नैनीताल), अंतर्वेदी (एटा, बदायूं, बरेली) डांगी (धौलपुर) आदि इसकी उपबोलियां हैं। आगरा, मथुरा, अलीगढ़ की ब्रज को 'साधु-ब्रज' कहा जा सकता है।

खड़ी बोली (साधु हिंदी) से तुलना करने पर ब्रज की निम्नलिखित विशेषताएं दृष्टिगोचर होती हैं—

(क) खड़ी बोली के आकारांत शब्द प्रायः ब्रज में ओकारांत अथवा औकारांत हो जाते हैं। खड़ी बोली—दूजा, आया, ब्रज—दूजो, आयो)।

(ख) खड़ी बोली (ख. बो.) के—ए,—ओ ब्रज के क्रमशः—ऐ, औ बन जाते हैं (ख. बो—में, को; ब्रज—मैं, कौ)।

(ग) जहां खड़ी बोली के शब्द व्यंजनांत हो गये हैं, वहां ब्रज में पुल्लिग शब्द उकारांत एवं स्त्रीलिंग इकारांत मिलते हैं (सुखः सुखु, दूरः दूरि)।

(घ) सर्वनामों में 'मैं' के स्थान पर 'हौं', का प्रयोग विशेष है।

(ङ) वर्तमान काल में सहायक क्रिया रूप 'हूं' के स्थान पर 'हौं', भूत-काल में 'था' आदि रूपों के स्थान पर '–हतो', 'हती' तथा भविष्यकाल में 'ह्वै, है' आदि प्रयुक्त होते है।

५.६.२ कन्नौजी :

कन्नौज प्रदेश की भाषा होने के कारण इसे 'कन्नौजी' कहा गया है। इसके क्षेत्र में हरदोई, शाहजहांपुर, पीलीभीत, फर्रुखाबाद, इटावा, कानपुर आ जाते हैं। क्षेत्र की दृष्टि से कन्नौजी अवधी एवं ब्रज के मध्य पड़ती है। कन्नौजी की ब्रज से बहुत अधिक समीपता है, इसी से कुछ लोग उसे ब्रज की उपबोली मानते हैं। यों कन्नौजी में निकटता के कारण कुछ विशेषताएं अवधी की भी आ गयी हैं। उदाहरणार्थ संबंध परसर्ग—कर, अधिकरण परसर्ग—मां–मंह; यह, वह सर्वनाम के स्थान पर ई, ऊ अवधी के प्रभाव से ही कनौजी में आये हैं।

यहां ब्रज ही साहित्य का माध्यम रही है। अतः कन्नौजी में साहित्य न के बराबर है।

५.६.३ बुंदेली :

बुंदेलखंड में बोली जाने के कारण इस भाषा रूप को 'बुंदेली' अथवा 'बुंदेलखंडी' कहते हैं। बुंदेली मुख्य रूप से बांदा, झांसी, जालौन, ग्वालियर (पूर्वी भाग), भोपाल (कुछ भाग), ओड़छा, छिंदवाड़ा में बोली जाती है। बुंदेली की भी ब्रज से बहुत अधिक निकटता है। इस कारण कन्नौजी के समान इसे भी ब्रज की एक उपबोली समझा जाता है।

बुंदेलखंड में भी साहित्य रचना के लिए मुख्य रूप से ब्रज का ही प्रयोग होता रहा है। विशुद्ध बुंदेली के साहित्यकारों में गंगाधर एवं इसुरी प्रसिद्ध हैं।

बुंदेली में ब्रज के समान उकारांत एवं इकारांत संज्ञाएं नहीं हैं। बुंदेली में ब्रज से कुछ भिन्न परसर्ग भी प्रयुक्त होते हैं (यथा—केलाने, केकाजे = के लिए; खों = को)। सहायक क्रिया के वर्तमान काल में अऊं, आंय तथा भूतकाल में तो, ती जैसे रूप बनते हैं।

बुंदेली के बहुत से विशिष्ट प्रयोग एवं शब्द हैं। इन विशिष्ट शब्दों एवं

प्रयोगों के कारण शैली में जो बुंदेलीपन आ जाता है, इससे यह भाषा रूप हिंदी की अन्य बोलियों से भिन्न लगता है।

५.६.४ खड़ी बोली :

पश्चिमी हिंदी की मुख्य बोली 'खड़ी' है। 'खड़ी' नाम के संबंध में यद्यपि अनेक मत हैं किंतु मान्य मत यह है कि 'खड़ी', 'खरी' अर्थात परिनिष्ठित का अर्थ सूचित करती है। इस भाषा रूप के लिए सरहिंदी, हिंदुस्तानी, कौरवी आदि अन्य नाम भी प्रयुक्त हुए हैं किंतु इसका बहुप्रचलित नाम 'खड़ी' ही है। यह बोली सहारनपुर, मुजफ़्फ़रनगर, मेरठ, अंबाला, बिजनौर, रामपुर, आदि स्थानों की स्थानीय बोली है, जिसमें अरबी-फारसी के शब्दों की पर्याप्त संख्या है।

यह पहले ही बताया जा चुका है कि साधु हिंदी, उर्दू अथवा हिंदुस्तानी का आधार यही खड़ी बोली है।

खड़ी को आकारांत बोली माना जाता है; क्योंकि जो शब्द अवधी में व्यंजनांत तथा ब्रज में ओकारांत हैं वे खड़ी में प्रायः आकारांत होते हैं—जैसे, अवधी–करत, ब्रज–करतो, खड़ी–करता। या अवधी–घोड़, ब्रज–घोरो, खड़ी–घोड़ा। स्वरों के मध्य, दीर्घ स्वर के पश्चात भी द्वित्त व्यंजन का अस्तित्व खड़ी की दूसरी मुख्य विशेषता है। यथा—'बेट्टा', 'बाप्पू'। तिर्यक् बहुवचन परसर्ग–ऊं भी विशेष है। यथा–मरद : मरदूं; बेटी : बेटचूं। भूतकाल एक वचन रूप 'रिह्या', 'उठ्या' (=रहा, उठा); अपूर्ण भूत 'मारन था', 'मारेथा', आदि भी खड़ी के विशेष प्रयोग हैं।

५.६.५ बांगरू :

इस बोली का यह नाम इसलिए पड़ा है क्योंकि इसका प्रयोग 'बांगर' प्रदेश में होता हैं। बांगर, करनार जिले के आस-पास के क्षेत्र का नाम है। यों यह बोली करनाल के अतिरिक्त रोहतक, हिसार, जिंद, नाभा आदि क्षेत्रों में भी बोली जाती हैं।

बांगरू को जाटू तथा हरियानी भी कहा जाता है। बांगरू एवं खड़ी में इतनी अधिक निकटता है कि कुछ विद्वान बांगरू को खड़ी की एक उपबोली मानते हैं।

बांगरू की कुछ विशेषताएं हैं—तिर्यक्, बहुवचन, आकारांत रूप। जैसे–घर: घरां, संप्रदान परसर्ग 'कील्यां' तथा अधिकरण परसर्ग 'महं, मांह।'

सहायक क्रिया है, 'हूं' के स्थान पर 'सै', 'सैं', 'सूं' आदि का प्रयोग। वर्तमान काल में वैकल्पिक रूप—ता/दा का प्रयोग; यथा—करता/करदा।

५.७ पूर्वी हिंदी की बोलियां :

पूर्वी हिंदी का विकास अर्धमागधी प्राकृत से संबद्ध है। जैसे अर्धमागधी, मागधी एवं शौरसेनी प्राकृतों के माध्य का रूप थी वैसे ही पूर्वी हिंदी एक ओर शौरसेनी की उत्तराधिकारणी पश्चिमी हिंदी से प्रभावित है तो दूसरी ओर मागधी प्रसूत पूर्व की अन्य भाषाओं (बिहारी, बंगला आदि) की विशेषताओं को भी अपने में आत्मसात किये हुए है।

पूर्वी हिंदी की मुख्य तीन बोलियां हैं—अवधी, बघेली एवं छत्तीसगढ़ी। इन तीनों के मध्य पर्याप्त समानता है।

५.७.१ अवधी :

अर्धमागधी प्राकृत से विकसित बोलियों में अवधी का प्रमुख स्थान है।

अवधी का संबंध 'अवध' प्रदेश से है। अवधी को 'कोसली' एवं 'बेसवाड़ी' नामों से भी पुकारा जाता है। यों ये दोनों एक प्रकार से उसकी उपबोलियां हैं। अवध प्रदेश में लखीमपुर, गोंडा, बारबांकी, लखनऊ, सीतापुर, उन्नाव, रायबरेली, प्रतापगढ़ आदि स्थानों पर अवधी का प्रयोग होता है।

हिंदी-विकास के मध्यकाल काल में ब्रज के समान अवधी भी एक महत्वपूर्ण भाषा थी। जायसी एवं तुलसी जैसे समर्थ साहित्यकारों की रचना अवधी में है।

अवधी की कुछ मुख्य विशेषताएं ये हैं : खड़ी जहां अकारांत भाषा है, वहां अवधी व्यंजनांत (अथवा आकारांत) भाषा है। यथा—खड़ी, घोड़ा, अवधी—घोर। साधु हिंदी के ऐ, औ अवधी में संध्यक्षर अइ, अउ हैं। यथा—जइसे (जैसे), अउरत (औरत), 'श' 'ष' के स्थान पर अवधी में 'स' का ही प्रयोग होता है। 'व' के स्थान पर 'ब' तथा 'य' के स्थान पर 'ज' का उच्चारण होता है। संज्ञा शब्दों के तीन-तीन रूप भी होते हैं। यथा—घोर (= घोड़ा) का बहुवचन में घोर, घोरवा, घोरौना रूप बनते हैं।

मूल रूप एवं तिर्यक् रूप एक वचन में समान रहते हैं। यथा-साधु हिंदी में मूल रूप 'घोड़ा' एवं तिर्यक् रूप घोड़े–(–से, का आदि) रूप बनता है किंतु अवधी में एक ही रूप 'घोर' रहेगा।

विशेषण मूल रूप में प्रायः व्यंजनांत होते है, यथा—नीक, भल, थोर आदि।

सहायक क्रिया वर्तमान काल में 'हैं', 'हूं', के स्थान पर 'आरे', 'बारे' तथा भूत काल में 'था', 'थे' के स्थान पर 'भए' 'रहे' आदि रूप बनते हैं।

'देखना' 'करना' आदि रूप 'देखब', 'करब' बनते हैं। 'ब' का प्रयोग भविष्यकाल के लिए भी होता है; यथा—कहब = कहूंगा।

अवधी की संख्याएं भी साधु हिंदी से भिन्नता रखती हैं।

५.७.२ बघेली :

बघेल खंड में बोली जाने के कारण इसका नाम 'बघेली' पड़ा है। रीवां, बघेलखंड का केंद्र है। बघेलखंड से बाहर यह बोली दक्षिण में बालघाट, पश्चिम में बांदा, पूर्व में मिर्जापुर, बिलासपुर, छोटा नागपुर एवं उत्तर में उत्तर प्रदेश एवं मध्य प्रदेश की सीमा तक बोली जाती है।

वास्तव में बघेली अवधी से इतनी अधिक समानता रखती है कि बहुत से विद्वान उसे अवधी की उपबोली ही मानना उचित समझते हैं।

बघेली में साहित्य का प्रायः अभाव है।

बघेली की कुछ विशेषताएं हैं : सर्वनामों में म्वां, मोहीं (= मुझे), त्वा, तोहीं (=तुझे), विशेषण में '–हा' का प्रयोग। यथा–'नीक' के स्थान पर 'नीकहा'।

अवधी में भविष्यकाल में–'ब'– की प्रधानता रहती है, किंतु बघेली में –'ह'–की प्रधानता रहती है; यथा—कहिहौं (= कहूंगा)।

बघेली में कुछ नये परसर्ग भी पाये जाते हैं, यथा—कर्म कारक के लिए 'कहा' तथा करण कारक के लिए 'तार' का प्रयोग।

५.७.३ छत्तीसगढ़ी :

छत्तीसगढ़ नामक प्रदेश की बोली होने के कारण ही इसे 'छत्तीसगढ़ी' कहा जाता है। रायपुर, बिलासपुर, रायगढ़, खैरागढ़, उदयपुर के अतिरिक्त मध्य प्रदेश के बस्तर जिले में भी इस बोली का प्रयोग होता है।

छत्तीसगढ़ी में साहित्य न के बराबर है।

छत्तीसगढ़ी की मुख्य विशेताएं हैं : '–मन' लगाकर बहुवचन की रचना करना; यथा—मनुख (= मनुष्य)—मनुखमन (=बहुत मनुष्य)।

तिर्यक् रूप में कभी-कभी '–अन' जोड़कर बहुवचन बनाने की प्रवृत्ति; यथा—बइला (= बैल) का बहुवचन, बइलन।

निश्चयार्थ के लिए 'हर' का प्रयोग।

ध्वनियों में महाप्राणीकरण प्रवृत्ति। यथा—धौड़ (=दौड़), झन (=जन)।

इसके अतिरिक्त छत्तीसगढ़ी में अवधी से भिन्न कई प्रकार के परसर्गों का

प्रयोग होता है। यथा—कर्म कारक के लिए 'ला' तथा करण कारक के लिए 'ले' का प्रयोग।

छत्तीसगढ़ी को ही बालाघाट के निकट 'खल्टाही' अथवा 'खलोटी' कहते हैं।

५.८ भोजपुरी को स्थिति :

भोजपुरी के संबंध में प्राय: दो प्रश्न पूछे जाछे जाते हैं। एक तो यह कि भोजपुरी बोली है अथवा भाषा। और दूसरा यह कि यदि भोजपुरी एक बोली है तो वह किस भाषा की बोली है—बिहारी अथवा हिंदी की।

५.८.१ भोजपुरी बोली है अथवा भाषा ?

उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर जानने से पहले भाषा एवं बोली के संबंध में कुछ सामान्य जानकारी प्राप्त कर लेना आवश्यक है।

वास्तप में भाषा एवं बोली में कोई तात्विक अंतर नहीं होता। एक व्यक्ति की वाणी को 'व्यक्ति-बोली' कहा जाता है कुछ व्यक्तियों का समूह (जिनकी संख्या के संबंध में कुछ नहीं कहा जा सकता) संपर्क स्थापित करने के लिए जिस वाणी का प्रयोग करता है उसे बोली कहा जाता है। ऐसी सब बोलियां जो परस्पर संबद्ध हैं तथा जो बिना सिखाये परस्पर समझी जाती हैं, उनके समूह को भाषा कहते हैं। उन बोलियों के समूह में से जिस बोली को धर्म, राजनीति अथवा साहित्य की दृष्टि से अधिक महत्व प्राप्त हो जाता है, वही भाषा कहालाने लगती है। मध्य युग में व्रज को धर्म का आधार मिला और वह 'व्रज बोली' न रहकर 'व्रज भाषा' बन गई। आधुनिक युग में खड़ी बोली को शासन का आश्रय मिल गया और आज हिंदी के नाम से जिस भाषा को जाना जाता है, वह खड़ी बोली ही है। कहने का तात्पर्य यह है कि भाषा और बोली का मुख्य अंतर भाषावैज्ञानिक नहीं है। राजनीति, धर्म एवं साहित्य ही वे तत्व हैं जो किसी बोली को भाषा बनने में सहायक होते हैं।

इस दृष्टि से भोजपुरी एक बोली ही है। यों भोजपुरी का क्षेत्र अत्यंत विस्तृत है (बिहार से उत्तर प्रदेश तक) तथा उसके बोलने वालों की संख्या भी करोड़ों में है किंतु भोजपुरी न तो कहीं शिक्षा का माध्यम है और न ही वह किसी प्रदेश के राज-काज की भाषा है। उसका साहित्य भी अभी बाल्यावस्था में ही है। अत: इस बात में कोई संदेह नहीं कि अपनी वर्तमान स्थिति में भोज-पुरी एक बोली ही है।

५.८.२ भोजपुरी किस भाषा की बोली है ?

भोजपुरी के भाषायी संबंध को लेकर हमेशा एक विवाद चलता रहा है। ग्रियर्सन ने अपने 'भाषा सर्वेक्षण' में भोजपुरी को मैथिली एवं मगही के साथ, बिहारी की बोली दिखाया है। सुनीति कुमार चटर्जी, ग्रियर्सन के इस मत से सहमत नहीं हैं। उनका विचार है कि भोजपुरी, पूर्व की बिहारी की अपेक्षा मध्य देश की हिंदी से अधिक प्रभावित है। भोजपुरी की बिहारी की अन्य बोलियों एवं हिंदी से तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि भोजपुरी मध्य देशीय हिंदी से प्रभावित होने पर भी, भाषा की दृष्टि से हिंदी की अपेक्षा मैथिली एवं मगही से अधिक निकटता रखती है। यहां यह न भूलना चाहिए कि जहां मध्य देशीय हिंदी का संबंध शौरसेनी प्राकृत के अपभ्रंश रूप से है वहां भोजपुरी का नाता मागधी प्राकृत के अपभ्रंश रूप से है। भोजपुरी का विकास मागधी प्राकृत के पश्चिमी रूप से हुआ है, इस कारण वह कितनी ही बातों में, अर्ध-मागधी से विकसित पूर्वी हिंदी के साथ समानता दिखाती है; फिर उत्तर प्रदेश के विभिन्न भागों में प्रयुक्त होने के कारण उसका हिंदी से प्रभावित होना स्वाभाविक है किंतु इससे वह हिंदी की बोली नहीं बन जाती। हां, अगर बिहारी को ही हिंदी के अंतर्गत माना जाय तो फिर बात दूसरी है।

भोजपुरी एवं मगही तथा मैथिली में जो भाषागत समानता है, उसके कुछ उदाहरण यहां दिये जा रहे हैं। तीनों बोलियों में संज्ञा तथा विशेषण शब्दों के कई रूप होते हैं, जिनके अर्थ में बहुत कम अंतर रहता है। यथा—पोथि, पोथिया; घोड़ा, घोड़वा; वड़ा, बड़क्का; छोटि, छोटकी। 'निन', 'न्ह' लगाकर बहुवचन बनाने की प्रवृत्ति भी इन सबमें समान है। यथा—लरिका, (लईका) लरिकन, लरिकन्हि। भोजपुरी तथा मगही दोनों में ही 'क' 'कर' से संबद्ध का बोध होता है। यथा—केकर, ओकर। इन बोलियों के क्रिया रूपों में भी पर्याप्त समानता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि भोजपुरी को बिहारी की बोली मानना ही उचित है।

५.९ शब्दावली :

वाक्य के ऐसे सार्थक खंड जो स्वतंत्रतापूर्वक उच्चरित हो सकें, सामान्य रूप से शब्द कहे जाते हैं। किसी भी भाषा के समस्त शब्दों के समूह को उस भाषा का 'शब्द-भंडार' अथवा 'शब्दावली' कहा जाता है।

शब्द अपने आप में भाषा नहीं हैं किंतु शब्दों के अभाव में भाषा का अस्तित्व संभव नहीं है।

शब्दों के माध्यम से ही भाषा एवं संस्कृति में संबंध स्थापित होता है। शब्दावली जाति के सांस्कृतिक विकास का सूचक है। प्राचीन भारतीय आर्य भाषा में धर्म एवं दर्शन से संबद्ध शब्दों की अधिकता एवं वैज्ञानिक शब्दावली का अभाव इस बात का द्योतक है कि प्राचीन काल में आर्य जाति जितनी आध्यात्मिक दृष्टि से उन्नत थी उतनी वैज्ञानिक दृष्टि से नहीं।

जीवित एवं विकासशील भाषाओं में शब्दों का आदान-प्रदान होता ही रहता है। भाषा की ग्रहण-शक्ति, उसकी जीवन-शक्ति का परिचायक है, उसकी निर्धनता अथवा अभाव का नहीं।

शब्दों का विवेचन अनेक दृष्टियों से किया जा सकता है। जैसे—कार्य की दृष्टि से (संज्ञा, क्रिया आदि); रचना की दृष्टि से (मूल = राम, पर्वत आदि, यौगिक = धर्मशाला, कुमार्ग आदि); अर्थ की दृष्टि से (धारणात्मक अर्थ देने वाले, व्याकरणात्मक अर्थ देने वाले आदि); इतिहास की दृष्टि से। सामान्य रूप से जब 'शब्दावली' का विवेचन करने को कहा जाता है तब इतिहास अथवा स्रोत की दृष्टि से शब्दों का विवेचन किया जाता है। इसका मुख्य कारण यह है कि इतिहास के सिवाय अन्य दृष्टियों से शब्दों का विवेचन रूप-विज्ञान के अंतर्गत होता है।

५.९.१ हिंदी शब्दावली :

इतिहास अथवा स्रोत की दृष्टि से शब्दों का विवेचन करते समय यह देखा जाता है कि शब्द किन स्रोतों अर्थात भाषाओं से आये हैं। इस दृष्टि से हिंदी शब्द दो प्रकार के हैं : अज्ञातमूलक एवं ज्ञातमूलम। अज्ञातमूलक शब्द वे हैं जिनके मूलस्रोत अर्थात भाषा का पता नहीं है। सामान्य रूप से इन शब्दों को ही 'देशज' कहा जाता है। वास्तव में 'देशज' नाम का अर्थ है जो देश (अर्थात देश की भाषा) में जन्मा हो किंतु 'देशज' शब्दों के नाम से उन शब्दों का विवेचन होता है जिन शब्दों के मूल का पता नहीं है। ज्ञातमूलक शब्द वे हैं जिनके मूलस्रोत का पता है। ज्ञातमूलक हिंदी शब्दों को प्रायः चार वर्गों में विभाजित किया जाता है :

तत्सम शब्द— वे शब्द जिनका रूप संस्कृत के शब्दों के समान है। यथा—कृष्ण, कर्म, मित्र।

तद्भव शब्द—वे शब्द जो संस्कृत के शब्दों से विकसित हुए हैं किंतु जिनका रूप बदल गया है। यथा—कान्हा, काम, मीत।

देशज शब्द—वे शब्द जिनके मूल का पता नहीं है। यथा—चूहा, ठेठ, तेंदुआ।

विदेशी शब्द—वे शब्द जो विदेशी भाषाओं से आये हैं। यथा—ग्लास, बटन (अंग्रेजी), गरीव, अमीर, (फारसी)।

हिंदी शब्दों का उपर्युक्त विभाजन बहुत अधिक तर्कसंगत नहीं है। स्रोत की दृष्टि से हिंदी शब्दों को निम्नलिखित तीन वर्गों में विभाजित करना चाहिए।

(क) परंपरागत शब्द।

(ख) निर्मित शब्द।

(ग) आगत शब्द।

५.९.२ हिंदी के परंपरागत शब्द :

परंपरागत शब्द वे हैं जो किसी भी भाषा को अपने पूर्व रूप से विरासत में मिलते हैं। हिंदी के परंपरागत शब्द वे हैं जो उसे प्राकृत–अपभ्रंश के माध्यम से प्राप्त हुए हैं।

(क) तत्सम एवं तद्भव शब्द

हिंदी के ये परंपरागत शब्द दो प्रकार के हैं। एक तो तत्सम दूसरे तद्भव।

तत् = उस (= संस्कृत), सम = समान। अतः तत्सम शब्द वे हैं जो प्राचीन आर्य भाषा (संस्कृत) के समान हैं। जैसे—कृष्ण, कर्म, मित्र आदि। तद्भव शब्द का अर्थ है, तत् = उस (संस्कृत) भव = उत्पन्न या विकसित। इस प्रकार तद्भव शब्द वे हैं जो प्राचीन आर्य भाषा (संस्कृत) से विकसित हुए हैं किंतु जिनका रूप बदल गया है। जैसे—कान्हा, काम, मीत। ये शब्द क्रमशः कृष्ण, कर्म एवं मित्र से विकसित हुए हैं।

(ख) अर्धतत्सम एवं अर्धतद्भव शब्द

ऐसे शब्द जो मूल प्राचीन शब्दों से कम परिवर्तित है उन्हें प्रायः अर्धतत्सम कहा जाता है। जैसे—'कृष्ण' से बना हुआ 'कान्हा' तो तद्भव है किंतु 'कृष्ण' से ही वना 'किशन' 'किशुन' अर्धतत्सम हैं।

अर्धतद्भव शब्द वे हैं जो तद्भव शब्दों के आधार पर बने हैं। उदाहरणार्थ 'मौसी' शब्द प्राचीन शब्द 'मातृष्वसा' का तद्भव रूप है। 'मौसी'

शब्द के आधार पर 'मौसा' शब्द बना है; अतः यह अर्ध तद्भव हुआ।

तत्सम एवं तद्भव के मध्य एक अन्य श्रेणी तत्समाभास शब्दों की भी मानी जाती है। ऐसे शब्द जो तत्सम हैं नहीं किंतु तत्सम लगते हैं उन्हें तत्समाभास कहा जाता है। जैसे—उपरोक्त (संस्कृत, उपर्युक्त), औषधि (संस्कृत, ओषधि)।

ऊपर तत्सम एवं तद्भव शब्दों के जिन भेदों-उपभेदों का विवेचन किया गया है, वे बहुत अधिक तर्कसंगत नहीं हैं। जो शब्द तत्सम नहीं है वह तद्भव हुआ; फिर चाहे उसमें कम परिवर्तन हुआ हो या ज्यादा।

सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो हिंदी में तत्सम शब्द प्रायः हैं ही नहीं। तत्सम कहे जाने वाले शब्द भी एक प्रकार से तद्भव ही हैं। हिंदी आधुनिक भाषा है और संस्कृत का समय आज से ढाई-तीन हजार वर्ष पहले का है। समय की इतनी लंबी अवधि के गुजरने के पश्चात भी शब्द ज्यों के त्यों (अपरिवर्तित) रह जायं यह भाषावैज्ञानिक नियमों के अनुकूल नहीं है। प्राचीन आर्य-भाषाओं ने परिवर्तित होकर मध्यकालीन आर्य-भाषाओं (प्राकृत—अपभ्रंश) का रूप धारण किया। मध्यकालीन आर्य भाषाएं परिवर्तित होकर आधुनिक आर्य भाषाओं (हिंदी एवं अन्य आधुनिक आर्य भाषाओं) के रूप में विकसित हुई हैं। इस बीच ध्वनियों का उच्चारण बदला है, शब्दों की आकृति बदली है, उनका अर्थ बदला है। 'ऋ' ध्वनि प्राचीन काल में स्वर थी; हिंदी में इसका उच्चारण 'रि' के समान होता है। 'ष' ध्वनि प्राचीन काल में मूर्धन्य थी; हिंदी में उसका उच्चारण तालव्य 'श' के समान होता है। पाणिनि ने 'न' ध्वनि को दंत्य कहा है किंतु हिंदी में इसका उच्चारण वर्त्स (दांतों के ऊपर का कठोर मांसल भाग) से होता है। संस्कृत में जो शब्द अकारंत ('अ' स्वर में अंत करने वाले) थे, वे प्रायः हिंदी में व्यंजनांत (व्यंजन में पूरे होने वाले) बन गये हैं। उदाहरणार्थ संस्कृत के राम, फल शब्दों का हिंदी में उच्चारण राम्, फल् के समान होता है।

'वास्तव' में शब्दों की तत्समता मुख्य रूप से उनके लिखित रूप तक ही सीमित रह गई है। उदाहरणार्थ 'ऋषि' शब्द हिंदी में भी वैसे ही लिखा जाता है जिस प्रकार से संस्कृत में लिखा जाता है किंतु हिंदी में लिखे इस शब्द का उच्चारण 'रिशि' के समान होता है जो इस शब्द के प्राचीन उच्चारण से पूर्ण रूप से भिन्न है।

५.९.३ हिंदी के निर्मित शब्द :

प्रत्येक विकासशील भाषा में सदैव नये शब्द निर्मित होते रहते हैं। नये शब्दों के निर्माण के यों तो अनेक कारण हो सकते हैं किंतु उनमें से मुख्य कारण दो हैं। एक तो बढ़ती हुई सांस्कृतिक आवश्यकता की पूर्ति करना; दूसरा, विचारों को अधिकाधिक सूक्ष्मता से अभिव्यक्त करना। आज हिंदी में ज्ञान-विज्ञान से संबद्ध अनेक पारिभाषिक शब्दों का निर्माण हो चुका है तथा हो रहा है। पारिभाषिक शब्दों के अतिरिक्त भी कई शब्द बन गये हैं। मंच से मंचाना, फिलम से फिलमाना, अभिनय से अभनीत आदि जैसे बने हुए शब्दों की संख्या काफी बड़ी है। विचार एवं भाव की सूक्ष्मता हेतु बने नये शब्दों के संदर्भ में छायावादी एवं प्रयोगवादी साहित्यकारों का उल्लेख किया जा सकता है।

निर्मित शब्दों के भी कई भेद-उपभेद हो सकते हैं। मूल की दृष्टि से ये शब्द दो प्रकार के होते हैं : एकमूलीय तथा बहुमूलीय अथवा संकर। एकमूलीय शब्द वे हैं जिन शब्दों का निर्माण एक ही भाषा के तत्वों से हुआ है। जैसे—दर्शनि (दर्शन से), समाजीकरण (समाज से), राष्ट्रीयकरण (राष्ट्र से)। बहुमूलीय शब्द वे हैं जो एकसे अधिक भाषाओं के तत्वों को मिलाकर बनाएं जाते हैं। जैसे—'रेल मंत्री' (रेल—अंग्रेजी; मंत्री—संस्कृत), डाकखाना (डाक—हिंदी; खाना—फारसी), डाकबंगला (डाक - हिंदी; बंगला—अंग्रेजी)।

कुछ निर्मित शब्द ऐसे भी होते हैं जो दूसरी भाषाओं से आगत धारणाओं के आधार पर बन जाते हैं। जैसे—निःशस्त्रीकरण (Disarmament), हरित क्रांति (Green revolution), शीत युद्ध (Cold war), उपभोक्ता (Consumer) आदि।

५.९.४ हिंदी में आगत शब्द :

जो शब्द दूसरी भाषाओं (अथवा बोलियों से) ले लिये जाते हैं उन्हें 'आगत शब्द' अथवा 'उधार लिए हुए शब्द' कहा जाता है। सामान्य रूप से इन्हा शब्दों को 'विदेशी' शब्द कहा जाता है। आगत शब्दों को विदेशी कहना उचित नहीं है क्योंकि नये शब्द केवल विदेशी भाषाओं से ही नहीं लिए जाते वरन देश की विभिन्न भाषाओं एवं बोलियों से भी लिए जाते हैं।

हिंदी में ऐसे शब्द चार प्रकार के हैं—

(क) संस्कृत से आये हुए शब्द

(ख) भारतीय भाषाओं से आये हुए शब्द

(ग) हिंदी की अपनी ग्रामीण बोलियों से आये हुए शब्द
(घ) विदेशी भाषाओं से आये हुए शब्द

५.९.४.१ संस्कृत से आगत शब्द :

आज हिंदी में ऐसे अनेक संस्कृत के शब्द (तत्सम एवं तद्भव) प्रयुक्त हो रहे हैं जो प्राकृत–अपभ्रंश से होते हुए हिंदी में नहीं आये हैं। हिंदी ने सीधे संस्कृत से इन शब्दों को उधार ले लिया है। उदाहरण के लिए कृष्ण, कर्म, मित्र को लिया जा सकता है। ये शब्द यदि सीधे संस्कृत से न लिए गये होते तो इनका रूप परिवर्तित हो गया होता।

५.९.४.२ भारतीय भाषाओं से आगत शब्द :

हिंदी भारत की राष्ट्रभाषा एवं संपर्क भाषा है। उसका प्रयोग विभिन्न प्रदेशों में भी होता है। इसी से हिंदी में प्रदेशीय भाषाओं के कुछ शब्दों ने स्थान पा लिया है। यथा—हड़ताल, गरबा (गुजराती), चालू, बाजू (मराठी), रसगुला, उपन्यास, गल्प (बंगला), सिक्ख (पंजाबी)। उपर्युक्त आय भाषाओं के अतिरिक्त आर्येतर भाषाओं के भी बहुत से शब्द हिंदी में आ गये हैं। इनमें से कई शब्द तो संस्कृत के माध्यम से हिंदी में आ गये हैं जैसे नीर; कुटिया आदि। कुछ शब्द सीधे हिंदी में आ गये हैं। इनमें से कुछ पुराने शब्द हैं, पिल्ला, कोड़ी आदि एवं कुछ नये शब्द हैं, दोसा, इडली सांबर आदि।

५.९.४.३ बोलियों से आगत शब्द :

अपनी शब्दावली को समृद्ध करने हेतु हिंदी ने कई शब्द अपनी ग्रामीण बोलियों से भी लिये हैं। शब्दों के आगम का यह कार्य मुख्य रूप से आंचलिक साहित्य के माध्मम से हुआ है। आंचलिक उपन्यासों एवं कहानियों के माध्यम से ग्रामीण बोलियों के बहुत से शब्द साहित्यिक अथवा साधु हिंदी में आ गये हैं।

५.९.४.४ विदेशी आगत शब्द :

आगत शब्दों में सबसे महत्वपूर्ण हैं विदेशी शब्द। ऐसे शब्दों में सबसे बड़ी संख्या फारसी-अरबी एवं अंग्रेजी शब्दों की है। इनमें से कुछ शब्द तो हिंदी ने सीधे ग्रहण किये हैं एवं कुछ शब्द ऐसे हैं जो अन्य भाषाओं के माध्यम से हिंदी में आये हैं। जैसे तुर्की एवं अरबी के बहुत से शब्द फारसी के माध्यम

से तथा फ्रांसीसी एवं डच भाषाओं के शब्द अंग्रेजी के माध्यम से हिंदी में आये हैं।

नीचे विदेशी भाषाओं से आगत शब्दों के कुछ उदाहरण दिये जाते हैं।

फारसी, अरबी, तुर्की एवं पश्तो के आगत शब्द

फारसी एवं हिंदी एक ही आर्य उपकुल की भाषाएं हैं, इसलिए उनकी शब्दावली में पर्याप्त समानता है; फिर भारत में स्थापित मुसलमानी शासन की राजभाषा फारसी रही, इस कारण फारसी के हजारों शब्द हिंदी में आ गये हैं।

यों तो भारत के अरबस्थान एवं तुर्की से प्राचीन काल से व्यापारिक संबंध रहे हैं इस कारण इन भाषाओं के शब्दों का हिंदी में (एवं अन्य भारतीय भाषाओं में) होना आश्चर्य की बात नहीं है किंतु हिंदी में प्रयुक्त अरबी एवं तुर्की के शब्द मुख्य रूप से फारसी के माध्यम से ही आये हैं।

फारसी शब्द—खुदा, फरिश्ता, तीर, कमान, कमीज, पाजामा, खत, लिफाफा, हलवा, बुखार, आसान, खुश, तेज।

अरबी—हाकिम, अदालत, हराम, शैतान, किताब, कलम, ईद, फैसला।

तुर्की—उर्दू, तोपची, तुर्क, खच्चर, बहादुर, बेगम, बारूद, चाकू, कैंची।

पश्तो—पठान, रुहेला, मटरगश्ती, गुंडा।

अंग्रेजी से आगत शब्द

अंग्रेजी शासन के फलस्वरूप भारत में अंग्रेजी भाषा का प्रचार-प्रसार हुआ। अंग्रेजी न केवल यहां की राजभाषा रही बरन वह कई वर्षों तक यहां की शिक्षा का माध्यम भी रही है। आज भी भारत में उसका महत्व कम नहीं है। ऐसी स्थिति में अंग्रेजी शब्दों का हिंदी में समाजाना स्वाभाविक ही है। आज हजारों अंग्रेजी शब्द हिंदी में प्रयुक्त हो रहे हैं। यथा—इंजन, मोटर, ग्लास, रेडियो, कोट, सूट, पिन, स्कूल, प्रोफेसर आदि। बहुत से शब्दों के उच्चारण में अंतर पड़ गया है। यथा—अस्पताल (हॉस्पीटल), सिगल (सिगनल), लाट (लार्ड), तिजोरी (ट्रेजरी) आदि।

अन्य विदेशी भाषाओं से आगत शब्द

उपर्युक्त भाषाओं के अतिरिक्त, अन्य कई भाषाओं से थोड़े–बहुत शब्द सीधे हिंदी में आये हैं और कुछ शब्द अंग्रेजी के माध्यम से भी आये हैं। यहां थोड़े से उदाहरण दिये जा रहे हैं।

फ्रांसीसी—मास्टर, जज, मेम, पिकनिक।

डच—तुरूप (ताश में), बम (गाड़ी का)

स्पेनी—सिगरेट, सिगार, कार्क ।

पुर्तगाली—आलमारी, कमरा, काजू, पादरी, बोतल ।

जर्मन—वैगन, ट्रेन, सेमीनार ।

इटैलियन—लाटरी, राकेट, कारटून ।

जापानी – रिक्शा', जूडो (कुश्ती) ।

अफ्रीकी —ज़ेब्रा ।

रूसी – ज़ार, वोदिका, सोवियत, स्पूतनिक ।

चीनी—चाय ।

यदि हिंदी शब्दावली का सूक्ष्मता से विश्लेषण किया जाय तो और भी कई भाषाओं के शब्द दिखलाई पड़ेंगे ।

स्मरण-संकेत

५.१ 'हिंदी' शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में किया जाता है। यथा–हिंदुस्तान का निवासी, हिंदुस्तान की कोई भी भाषा, मध्य देश की भाषा, परिनिष्ठित हिंदी आदि।

५.२ विस्तृत अर्थ में हिंदी का क्षेत्र बिहारी से पंजाबी एवं काश्मीरी से राजस्थानी भाषाओं तक फैला हुआ है। सीमित अर्थ में पूर्वी एवं पश्चिमी हिंदी का क्षेत्र ही हिंदी का क्षेत्र है।

५.३ हिंदी की उत्पत्ति १०वीं शताब्दी के आस-पास हुई। उसके विकास के तीन चरण हैं : आदिकाल, मध्यकाल एवं आधुनिक काल।

५.४ 'हिंदी' एक भाषा का नाम न होकर कुछ संबद्ध भाषाओं के समूह का नाम है। इस समूह को हिंदी भाषा-मंडल कहना चाहिए। इस भाषा-मंडल की भाषाएं परस्पर 'सह भाषाएं' हैं।

५.५ राजस्थानी, बिहारी, पहाड़ी के अतिरिक्त हिंदी भाषा-मंडल की अन्य भाषाएं हैं : साधु हिंदी, उर्दू, हिंदवी, हिंदुस्तानी, पूर्वी एवं पश्चिमी हिंदी।

५.६ पश्चिमी हिंदी की बोलियां : ब्रज, कन्नौजी, बुंदेली खड़ी एवं बांगरू।

५.७ पूर्वी हिंदी की बोलियां : अवधी, बघेली एवं छत्तीसगढ़ी।

५.८ अपनी वर्तमान स्थिति में भोजपुरी एक बोली है। भोजपुरी को हिंदी की अपेक्षा बिहारी की बोली मानना ही उचित है।

५.९ शब्दावली किसी भी जाति के सांस्कृतिक विकास की सूचक है। स्रोत अथवा इतिहास की दृष्टि से हिंदी शब्दों के दो वर्ग हैं : अज्ञातमूलक एवं ज्ञातमूलक। ज्ञातमूलक शब्द तीन श्रेणियों में विभाजित हो सकते हैं : परंपरागत, निर्मित एवं आगत।

६ हिंदी की ध्वन्यात्मक संरचना

●

वर्णन

- हिंदी की संरचना
- हिंदी की ध्वन्यात्मक संरचना
- खंडनीय ध्वनियां
  - —स्वर, स्वर-संयोग
  - —व्यंजन, व्यंजन द्वित्त एवं संयुक्त व्यंजन
- खंडेतर ध्वनियां
  - —नासिक्यता, मात्रा, आघात, सुर, तान, अंतराल

विकास

- हिंदी ध्वनियों का विकास
- हिंदी स्वरों का विकास
  - —प्रा. भा. आ., म. भा. आ. एवं हिंदी के स्वर
  - —स्वरों के विकास की सामान्य प्रवृत्तियां
  - —स्वरों का विकास-स्रोत
- हिंदी व्यंजनों का विकास
  - —प्रा. भा. आ., म. भा. आ. एवं हिंदी के व्यंजन
  - —व्यंजनों के विकास की सामान्य प्रवृत्तियां
  - —व्यंजनों का विकास-स्रोत
- खंडेतर ध्वनियों का विकास

●

६.१ हिंदी की संरचना :

यह पहले ही बताया जा चुका है कि 'हिंदी' शब्द एक पूरे भाषा-मंडल को इंगित करता है। इस भाषा-मंडल की विभिन्न सह भाषाओं की अपनी-अपनी संरचनाएं हैं। यहां 'हिंदी की संरचना, से तात्पर्य 'साधु हिंदी' अथवा 'परिनिष्ठित हिंदी' की संरचना से है।

किसी भी भाषा की संरचना में मुख्य रूप से उसकी ध्वन्यात्मक संरचना एवं व्याकरणात्मक संरचना का विवेचन होता है।

इस अध्याय में हिंदी की ध्वन्यात्मक संरचना का विवेचन किया जा रहा है। आगामी अध्याय में उसकी व्याकरणात्मक संरचना का विवेचन किया जाएगा।

६.२ हिंदी की ध्वन्यात्मक संरचना :

ध्वन्यात्मक संरचना में ध्वनियों का विवेचन होता है। ध्वनियां दो प्रकार की होती हैं। खंडनीय ध्वनियां एवं खंडेतर ध्वनियां। खंडनीय ध्वनियां वे हैं जिनका उच्चारण क्रमशः (एक के पश्चात दूसरी) होता है। यथा—'काला' शब्द में क्रमशः क + आ + ल् + आ ध्वनियां है। ये खंडनीय ध्वनियां हैं। स्वर एवं व्यंजन ध्वनियां खंडनीय ध्वनिया होती हैं। खंडेतर ध्वनियां वे हैं जिनका उच्चारण अन्य ध्वनियों के साथ होता है, अर्थात जिनको क्रम से खंडित नहीं किया जा सकता। यथा—'आंख' शब्द में नासिक्य ध्वनि का उच्चारण 'आ' स्वर ध्वनि के साथ हुआ है। 'आ' एवं नासिक्यता को क्रम से आ + ँ के रूप में विश्लेषित नहीं किया जा सकता क्योंकि नासिक्यता खंडेतर है।

६.३ हिंदी की खंडनीय ध्वनियां[1] (स्वर-व्यंजन)

हिंदी में निम्नलिखित स्वर एवं व्यंजन ध्वनियां है :

स्वर[2]			व्यंजन[3]
ई		ऊ	क ख ग घ [ङ]
इ		उ	च छ ज झ [ञ]
ए	अ	ओ	ट ठ ड ढ ण ड़ ढ़
ऐ	आ	औ	त थ द ध न
			प फ ब भ म
			य र ल व
			श स ह

१. यहां पर 'ध्वनि' शब्द का प्रयोग 'महत्वपूर्ण ध्वनि' अथवा ध्वनिग्राम के अर्थ में किया गया है। ध्वनिग्राम उस ध्वनि (अथवा ध्वनि समष्टि) को कहते हैं, जिसमें अर्थ

[शेष दूसरे पृष्ठ पर]

कुछ विदेशी ध्वनियां

उपर्युक्त स्वर एवं व्यंजन ध्वनियों के अतिरिक्त कुछ अन्य ध्वनियों का भी उल्लेख किया जा सकता।

अंग्रेजी शब्दों के यथावत उच्चारण की प्रवृत्ति के फलस्वरूप अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों की हिंदी में ऑ स्वर ध्वनि दिखाई पड़ती है जो 'डॉक्टर' (Doctor)' 'कॉलेज' (College), जैसे शब्दों में देखी जा सकती है।

फारसी-अरबी के अनेक शब्द हिंदी में प्रयुक्त होते हैं। इन शब्दों के तत्सम-वत उच्चारण की प्रवृत्ति के कारण पढ़े-लिखे (विशेषकर फारसी-उर्दू पढ़े हुए) लोगों की भाषा में 'क़, ख़, ग़, ज़, फ़' पांच व्यंजन ध्वनियों का प्रयोग होने लगा है। यह प्रयोग, क़लम, क़ाबिल; ख़ाली, ख़ूबी; ग़म, बग़ीचा; हज़ार, वज़ीर फ़र्क, वफ़ादारी जैसे शब्दों में दिखाई पड़ता हैं। इनमें से 'ज़' एवं 'फ़' का प्रयोग बहुत लोग करते हैं; 'ग़' एवं 'ख़' का प्रयोग थोड़े से लोगों की भाषा में ही मिलता है; बाकी 'क़' का प्रयोग तो कोई बिरला हिंदी भाषी (सो भी अस्वाभाविक सावधानी बरतने के बाद) ही कर सकता है।

उपर्युक्त अंग्रेजी अथवा फारसी ध्वनियों के प्रयोग की प्रवृत्ति तो दिखाई पड़ती है किंतु वे ध्वनियां अभी तक महत्वपूर्ण अर्थात ध्वनिग्राम कहलाने की स्थिति में नहीं हैं। यों इन ध्वनियों के सूचक लिपि-चिह्नों (जैसे इंगित किया गया है) का प्रयोग लेखन में अवश्य हो रहा है।

कुछ अन्य ध्वनियां

कुछ विद्वान उपर्युक्त ध्वनियों के अतिरिक्त 'ङ्ह, ण्ह, न्ह, म्ह, ऱ्ह, ल्ह' आदि ध्वनियों को भी हिंदी की ध्वन्यात्मक संरचना में गिनते हैं। इसके विपरीत कुछ विद्वान इन ध्वनियों को स्वतंत्र व्यंजन ध्वनियां न मानकर संयुक्त

भिन्नता उत्पन्न करने का गुण हो। उदाहरणार्थ 'काला' एवं 'खाला' हिंदी में दो भिन्नार्थी शब्द हैं। इन शब्दों की अर्थ भिन्नता का कारण 'क' एवं 'ख' ध्वनियों की भिन्नता है; अर्थात् 'क' एवं 'ख' में अर्थ भिन्नता उत्पन्न करने का गुण है, इसलिए 'क' एवं 'ख' हिंदी में दो ध्वनिग्राम अथवा महत्वपूर्ण ध्वनियां हैं। जो ध्वनियां, ध्वनिग्राम हैं उन्हें दो आड़ी लकीरों / / के मध्य एवं जो ध्वनिग्राम नहीं हैं उन्हें [ ] कोष्ठक के मध्य लिखने की प्रथा है।

२. स्वर वह ध्वनि है, जिसके उच्चारण में भीतर से आती हुई वायु मुख (अथवा मुख एवं नासिका से) निर्बाध रूप से निकलती है।

३. व्यंजन वह ध्वनि है जिसके उच्चारण में भीतर से आती हुई वायु मुख (अथवा उससे पूर्व) में कहीं न कहीं, किसी न किसी रूप में बाधित होती है।

व्यंजन ध्वनियां मानते हैं। यों इनको स्वतंत्र व्यंजन ध्वनियां मानने के पक्ष में बहुत सबल तर्क नहीं है।

अनुस्वार, विसर्ग एवं नासिक्यता

हिंदी की ध्वनि-संरचना में स्वरों के पश्चात दो ध्वनियों—अनुस्वार (ं) एवं विसर्ग (:) की गणना भी की जाती है। वास्तव में ये स्वर नहीं हैं। विसर्ग (:) का प्रयोग इने-गिने संस्कृत के शब्दों में ही होता है एवं हिंदी में उसका उच्चारण 'ह' के समान (किंतु उससे थोड़ा हल्का) होता है। जैसे—प्रायः = प्रायहँ।[1] अनुस्वार का प्रयोग पांचों नासिक्य व्यंजन ध्वनियों (ङ, ञ, ण, न, म) के लिए होता है तथा इसका आधार परवर्ती व्यंजन पर रहता है। जैसे गंगा, पंजा, डंडा, फंदा, चंपा में अनुस्वार क्रमशः ङ्, ञ्, ण्, न् एवं म् के लिए प्रयुक्त हुआ है (गंगा = गङ्गा; पंजा = पञ्जा; डंडा = डण्डा; फंदा = फन्दा; चंपा = चम्पा)।

इसके अतिरिक्त एक ध्वनि 'नासिक्यता' की माननी चाहिए, जिसका प्रयोग स्वरों के साथ होता है। नासिक्यता का अर्थ है भीतर से आई हुई वायु का नासिका के मार्ग से निर्गमन, जो स्वरों के उच्चारण के समय उनके साथ होता है।

क्ष, त्र, ज्ञ, ध्वनियां

क्ष, त्र, ज्ञ—देवनागरी लिपि में प्रयुक्त ये लिपि-चिह्न संयुक्त व्यंजन ध्वनियों को सूचित करते हैं। क्ष = क्ष (उच्चारण क्श), त्र = त्र, ज्ञ = ज्ञ (उच्चारण ग्य)। इसलिए उन्हें स्वतंत्र ध्वनियों में नहीं गिनना चाहिए।

ऋ, ष

'ऋ' चिह्न स्वर का सूचक है किंतु हिंदी में आज-कल इसका उच्चारण 'रि' के बराबर होता है, जिसमें व्यंजन एवं स्वर का योग है। 'ष' ध्वनि का उच्चारण हिंदी में नहीं रह गया है। 'ष' के स्थान पर भी 'श' का ही उच्चारण होता है।

६.३.१ स्वरों का विवेचन एवं वर्गीकरण :

जीभ की ऊंचाई एवं स्थान

स्वरों का विवेचन मुख्य रूप से जीभ की ऊंचाई (उच्चारण के समय)

---

१. व्यंजन ध्वनि के ऊपर ˘ चिह्न उसके हलके उच्चार को इंगित करता है।

एवं जीभ के स्थान (उच्चारण करने वाला जीभ का स्थान) के आधार पर किया जाता है।

जीभ की ऊंचाई की चार मुख्य स्थितियां मानी जाती हैं। संवृत स्थिति—जिसमें जीभ सर्वाधिक ऊंची उठ जाती है। विवृत स्थिति—जिसमें जीभ सर्वाधिक नीचे की स्थिति में होती है। इन दोनों के मध्य अर्धसंवृत (संवृत की स्थिति से थोड़ा नीचे) एवं अर्धविवृत (विवृत की स्थिति से थोड़ा ऊपर) की दो स्थितियां मानी जाती हैं। संवृत की स्थिति में मुख ढंका रहता है (उसके मध्य थोड़ा सा स्थान छूटा रहता है) तथा विवृत की स्थिति में मुख खुला रहता है।

जीभ की ऊंचाई की दृष्टि से हिंदी के/ई, इ, ऊ, उ/संवृत;/ए, ओ/अर्ध-संवृत,/अ, ऐ, ओ/अर्धविवृत एवं/आ/विवृत स्वर है।

नवीन पद्धति के अनुसार जीभ की ऊंचाई की निम्नलिखित सात स्थितियां मानी जाती हैं। उच्च, निम्नतरउच्च, उच्चतरमध्य, मध्य, निम्नतरमध्य, उच्चतरनिम्न एवं निम्न। आगे हिंदी स्वरों की दोनों तालिकाएं दी जा रही हैं।

स्थान की दृष्टि से/ई, इ, ए, ऐ/आग्र स्वर (इनके उच्चारण में जीभ का अग्र भाग क्रियाशील रहता है)। /अ/मध्य स्वर (इसके उच्चारण में जीभ का मध्य भाग क्रियाशील रहता है) तथा/ऊ, उ, ओ, औ/पश्च स्वर (इनके उच्चारण में जीभ का पश्च या पिछला भाग क्रियाशील रहता है) हैं।

होंठों की स्थिति

स्वरों के उच्चारण में होंठों की स्थिति का भी महत्व है। हिंदी के/ई, इ, ए, ऐ, अ/अवृताकार स्वर हैं, अर्थात इन स्वरों के उच्चारण में होंठ या तो फैले रहते हैं (जैसे—'ई' के उच्चारण में,) या वृताकार नहीं बनते (जैसे 'अ' के उच्चारण में)। /ऊ, उ, ओ, औ/वृताकार स्वर हैं, अर्थात इन स्वरों के उच्चारण में होंठ थोड़े-बहुत वृताकार होते हैं।

मात्रा

मात्रा अथवा उच्चारण के समय की दृष्टि से हिंदी स्वर दो प्रकार के हैं। एक तो ह्रस्व स्वर, दूसरे दीर्घ स्वर। ह्रस्व स्वर के उच्चारण में जितना समय लगता है, दीर्घ स्वर के उच्चारण में उससे ज्यादा समय लगता है। यों इस आधार पर स्वरों के कई भेद हो सकते हैं (यथा—ह्रस्व, अति ह्रस्व; दीर्घ, दीर्घतर, अतिदीर्घ आदि) किंतु मुख्य भेद दो ही हैं।

नासिक्यता

हिंदी के समस्त स्वर मौखिक (जब वायु केवल मुख से निकले) भी हैं तथा अनुनासिक भी (जब वायु मुख के अतिरिक्त नासिका से भी बाहर निकले)। हिंदी में नासिक्यता महत्वपूर्ण है अर्थात नासिक्यता के कारण अर्थ में परिवर्तन हो जाता है। यथा—'काटा' एवं 'कांटा'। यहां और सब ध्वनियां दोनों शब्दों में समान हैं केवल नासिक्यता का अंतर है; जिसके कारण दोनों शब्दों के अर्थ में भिन्नता उत्पन्न हो गयी है।

संध्यता

संध्यता की दृष्टि से हिंदी के समस्त स्वर (ऐ, औ) के सिवाय असंध्य अथवा एकल स्वर (Simple Vowels) हैं। 'ऐ, औ' का उच्चारण कुछ स्थितियों में 'एकल' तथा कुछ स्थितियों में, संध्यक्षर जैसा होता है। जैसे—'है' एवं 'औरत' शब्दों में '–ऐ' एवं 'औ' का उच्चारण एकल स्वरों जैसा है किंतु 'गवैया' एवं 'कौआ' शब्दों में इनका उच्चारण संध्यक्षर (अइ, अउ) के समान है।[1]

६.३.२ स्वर-संयोग

जब एक से अधिक स्वर, मध्य के किसी व्यंजन के सिवाय प्रयुक्त होते हैं तो स्वरों की इस स्थिति को 'स्वर-संयोग' की संज्ञा दी जाती है। यथा—'भाई' शब्द में आ + ई (भ् + आ + ई) का स्वर-संयोग है। हिंदी में प्रायः दो स्वरों के ही संयोग मिलते हैं। थोड़े से उदाहरण तीन स्वरों के संयोग के भी मिलते हैं। यथा—'आइए' (आ + इ + ए)। हिंदी में कुछ स्वर-संयोगों के मध्य 'य' अथवा 'व' का समावेश हो जाता है। स्वरों के मध्य प्रयुक्त इन ध्वनियों को 'श्रुति' कहा जाता है। एक स्वर के उच्चारण के पश्चात् जीभ जब दूसरे स्वर के उच्चारण के लिए प्रयत्नशील होती है, तब उससे पूर्व श्रुति का आविर्भाव होता है। यथा—'लिया' शब्द में 'इ' एवं 'आ' स्वरों के मध्य 'य' श्रुति है तथा 'खोवा' शब्द में 'ओ' एवं 'आ' स्वरों के मध्य 'व' श्रुति है।

---

१. असंध्य अथवा एकल स्वरों का उच्चारण एक ही प्रश्वास एवं एक ही स्थान से होता है। संध्यक्षरों का उच्चारण दो स्थानों से होता है। एक स्थान से उच्चारण आरंभ होता है एवं दूसरे स्थान पर पूरा होता है।

हिंदी स्वरों की तालिकाएं (जीभ की ऊंचाई एवं स्थान)

तालिका—१

स्थान→ ऊंचाई ↓	अग्र	मध्य	पश्च
संवृत	ई, इ		ऊ, उ
अर्ध-संवृत	ए		ओ
अर्धविवृत	ऐ		औ
विवृत		अ	आ

तालिका—२

स्थान→ ऊंचाई ↓	अग्र	मध्य	पश्च
उच्च	ई		ऊ
निम्नतर उच्च	इ		उ
उच्चतर मध्य	ए		ओ
मध्य			
निम्नतर मध्य		अ	औ
उच्चतर निम्न			
निम्न			आ

६.३.३ व्यंजनों का विवेचन एवं वर्गीकरण :

व्यंजनों के विवेचन में जिन दो मुख्य बातों का उल्लेख किया जाता है, हैं 'स्थान' (जहां पर भीतर से आती हुई वायु बाधित होती है) तथा 'प्रयत्न' (उत्पन्न की हुई बाधा)।

स्थान की दृष्टि से व्यंजन ध्वनियां

प्राचीन वैयाकरणों ने स्थान की दृष्टि से हिंदी व्यंजन ध्वनियों को निम्नलिखित पांच भागों में विभाजित किया है।

ओष्ठ्य—(होठों से उच्चरित) यथा—प, ब।

दंत्य—(दांतों से उच्चरित) : यथा—त, द।

मूर्धन्य—(मुख के ऊपरी ऊंचे भाग, मूर्धा से उच्चरित) : यथा—ट, ड।

तालव्य—(तालु से उच्चरित) : यथा—च, ज।

कंठ्य—(कंठ से उच्चरित) : यथा—क, ग।

आधुनिक भाषा शास्त्री उपर्युक्त पांच स्थानों के अतिरिक्त निम्नलिखित स्थानों का भी उल्लेख करते हैं।

दंतोष्ठ्य–(निचले होंठ एवं ऊपर के दांत की सहायता से उच्चरित) : यथा–व :

वर्त्स्य–(ऊपर के दांतों के पीछे उभरे हुए कठोर मांस वर्त्स से उच्चरित) : यथा—न।

जिह्वामूलीय–(कंठ के निचले भाग अथवा जीभ के मूल से उच्चरित) : यथा–क्।

स्वरयंत्र मुखी–(स्वरयंत्र से उच्चरित) : यथा—ह।

प्रयत्न की दृष्टि से हिंदी व्यंजन

प्रयत्न की दृष्टि से हिंदी व्यंजनों के निम्नलिखित प्रकार हैं।

स्पर्शी—इन ध्वनियों के उच्चारणण में जीभ मुख के भीतर किसी स्थान को स्पर्श कर भीतर से आती हुई वायु का पूर्ण रूप से अवरोध करती है तथा फिर एकदम हट जाती है। इन ध्वनियों को 'स्फोटक' ध्वनियां भी कहते हैं क्योंकि इनके उच्चारण में एक प्रकार का स्फोट होता है। यथा—क, त, प आदि।

संघर्षी—इन ध्वनियों के उच्चारण में जीभ मुख में इतना संकरा मार्ग बनाती है कि भीतर से आती हुई वायु घर्षण करती हुई बाहर निकलतीहै। यथा—स, श।

स्पर्श संघर्षी—इन ध्वनियों के उच्चारण में जीभ पहले तो मुख में किसी स्थान को स्पर्श करती है (जिससे भीतर से आती हुई वायु का पूर्ण अवरोध होता है) फिर धीरे-धीरे हटती है (जिससे वायु घर्षण करती हुई बाहर निकलती है)। इस प्रकार इन ध्वनियों के उच्चारण में स्पर्शी एवं संघर्षी ध्वनियों का प्रयत्न सम्मिलित है। यथा—च, छ,।

नासिक्य—इन ध्वनियों का उच्चारण स्पर्शी ध्वनियों जैसा ही होता है; अंतर केवल इतना है कि भीतर से आती हुई वायु केवल मुख से न निकलकर, मुख एवं नासिका से बाहर निकलती है। यथा—म, न।

पार्श्विक—इन ध्वनियों के उच्चारण में जीभ मुख में मध्म मार्ग को रोक लेती है; इसलिए भीतर से आती हुई वायु जीभ के दोनों ओर से निकल जाती है यथा–ल।

उत्क्षिप्त—इन ध्वनियों के उच्चारण में जीभ मुख के किसी भाग को छूकर, झटके से रगड़ खाकर रह जाती है। यथा—ड़, ढ़।

प्रकंपी–इन ध्वनियों के उच्चारण में जीभ मुख के अंदर किसी भाग को शीघ्रता से बार-बार छूती है। जिससे ध्वनि कंपित होकर बाहर निकलती है। यथा—र।

अर्ध व्यंजन—इनका उच्चारण स्वर एवं व्यंजन के मध्य का है; अर्थात इन ध्वनियों के उच्चारण में वायु न तो स्वर के समान निर्बाध गति से बाहर निकलती है और न ही व्यंजन के समान बाधित होती है। यथा—य, व।

घोषत्व एवं प्राणत्व

स्थान एवं प्रयत्न के अतिरिक्त घोषत्व एवं प्राणत्व के आधार पर भी व्यंजनों का विवेचन किया जाता हैं। जिन व्यंजनों के उच्चारण में स्वर-तंत्री की तारें (टेंटुए के पीछे के भाग में लगे हुए झिलीदार पट) झंकृत होती हैं, वे सघोष अथवा घोष ध्वनियां कहलाती हैं तथा जिन ध्वनियों के उच्चारण में ये तारें झंकृत नहीं होतीं वे अघोष ध्वनियां कहलाती हैं। स्वर ध्वनियां प्रायः सघोष होती हैं (हिंदी के समस्त स्वर सघोष हैं) । हिंदी में प्रत्येक वर्ग की पहली एवं दूसरी ध्वनि (यथा—क, ख, च, छ आदि) अघोष तथा प्रत्येक वर्ग की शेष तीन ध्वनियां (ग, घ, ङ, ज, झ, ञ, आदि) सघोष हैं।

'प्राण' का अर्थ है भीतर से आती हुई वायु जिसके फलस्वरूप ध्वनियों का उच्चारण होता है। जिन व्यंजन ध्वनियों के उच्चारण में वायु का विशेष दबाव नहीं पड़ता उन्हें 'अल्प प्राण' कहते हैं तथा जिन ध्वनियों के उच्चारण में वायु की अतिरिक्त फूंक मारनी पड़ती है उन्हें 'महाप्राण' कहते हैं। हिंदी में प्रत्येक वर्ग की दूसरी तथा चौथी ध्वनि (यथा—ख, घ, छ, झ आदि) महाप्राण तथा प्रत्येक वर्ग की शेष तीन ध्वनियां (यथा—क, ग, ङ, च, ज, ञ आदि) अल्पप्राण हैं।

६.३.४ व्यंजन द्वित्त एवं संयुक्त व्यंजन :

जब सामान्य की अपेक्षा किसी व्यंजन को अधिक समय तक उच्चरित किया जाता है (एक प्रकार से व्यंजन को दुहरा दिया जाता है) तब उसे व्यंजन द्वित्त अथवा व्यंजन दीर्घीकरण कहते हैं। यथा—'पता' एवं 'पत्ता'। पहले शब्द में /त्-/ का साधारण अथवा इकहरा उच्चारण है किंतु दूसरे शब्द में /-त्त-/ का दीर्घ अथवा दुहरा उच्चारण है। हिंदी में व्यंजन द्वित्त महत्वपूर्ण है क्योंकि इससे अर्थ में भिन्नता उत्पन्न हो जाती है। जैसे—'पता' एवं 'पत्ता' भिन्न अर्थ रखते हैं।

जब भिन्न प्रकार के व्यंजन, स्वर के सिवाय एक साथ प्रयुक्त होते हैं तब उन्हें संयुक्त व्यंजन कहते हैं। यथा—'क्या', 'क्रांति, प्यार', 'भ्रांति में क्रमशः क्य-, क्र-, प्य-, भ्र- संयुक्त व्यंजन हैं। संयुक्त व्यंजन अर्थात व्यंजन-गुच्छ तीन, चार, पांच व्यंजनों के भी हो सकते हैं। संस्कृत में संयुक्त व्यंजनों की संख्या- अधिक थी। संस्कृत में तीन, चार कभी-कभी पांच व्यंजनों के गुच्छ भी मिल जाते हैं। हिंदी में प्रायः दो एवं तीन व्यंजनों के गुच्छ ही मिलते हैं। तीन व्यंजन गुच्छ का उदाहरण हैं 'स्वास्थ्य' (-स् + थ् + य्-) तथा चार व्यंजन-गुच्छ का उदाहरण है 'वर्त्स्य' (-र् + त् + स् + य्-) ।

हिंदी व्यंजनों की तालिकाएं

नीचे व्यंजनों की तालिकाएं दी जा रही हैं। तालिका—१ में प्राचीन पद्धतियों के अनुसार ध्वनियों को दिखाया गया है। तालिका—२ आधुनिक पद्धति पर आधारित है। तालिका—२ में ऐसा ध्वनियों को [ ] कोष्ठक में दिखाया गया है जो अभी निश्चित रूप से ध्वनिग्राम नहीं हैं।

अघ = अघोष; सघ = सघोष; अ = अल्पप्राण; म = महाप्राण।

तालिका—१

प्रयत्न→	स्पर्शी				संघर्षी				नासिक्य				पार्श्विक				प्रकंपी				अर्धव्यंजन			
	अघ		सघ		अघ		सघ		अघ		सघ		अघ		सघ		अघ		सघ		अघ		सघ	
स्थान ↓	अ	म	अ	म	अ	म	अ	म	अ	म	अ	म	अ	म	अ	म	अ	म	अ	म	अ	म	अ	म
ओष्ठ्य	प्	फ्	ब्	भ्							म्												व्	
दंत्य	त्	थ्	द्	ध्	स्						न्				ल्									
मूर्धन्य	ट्	ठ्	ड्	ढ्							ण्				र्									
तालव्य	च्	छ्	ज्	झ्	श्						ञ्												य्	
कंठ्य	क्	ख्	ग्	घ्	ष्		ह्				ङ्													

तालिका—२

प्रयत्न →	स्पर्शी		संघर्षी		स्पर्श-संघर्षी		नासिक्य		पार्श्विक		उत्क्षिप्त		प्रकंपी		अर्ध व्यंजन	
	अघ	सघ	अघ	सघ	अघ	सघ	अघ	सघ	अघ	सघ	अघ	सघ	अघ	सघ	अघ	सघ
स्थान ↓	अ म	अ म	अ म	अ म	अ म	अ म	अ म	अ म	अ म	अ म	अ म	अ म	अ म	अ म	अ म	अ म
ओष्ठ्य	प् फ्	ब् भ्						म् [म्ह्]								व्
दंतोष्ठ्य			[फ़्]	[व्]												
दंत्य	त् थ्	द् ध्														
वर्त्स्य			स्	[ज़्]				न् [न्ह्]		ल् [ल्ह्]				र् [र्ह्]		
मूर्धन्य	ट् ठ्	ड् ढ्						ण् [ण्ह्]				ड़् ढ़्				
तालव्य			श्		च् छ्	ज् झ्		[ञ्]								य्
कंठ्य	क् ख्	ग् घ्	[ख़्]	[ग़्]				[ङ्] [ङ्ह्]								
जिह्वामूलीय	[क़्]															
स्वरयंत्रमुखी				ह्												

६.४ हिंदी की खंडेतर ध्वनियां (अथवा अधिखंडात्मक अभिलक्षण) :

यह पहले ही बताया जा चुका है कि खंडेतर ध्वनियों से तात्पर्य ऐसी ध्वनियों से हैं जो क्रमशः खंडित नहीं हो सकतीं; अर्थात जिनका उच्चारण अन्य ध्वनियों के साथ होता है। इसी से ऐसी ध्वनियों को प्रायः ध्वनियां न कहकर 'ध्वनि गुण' या 'ध्वनि का संगीतात्मक गुण' कहा जाता है। इन्हें 'अधिखंडात्मक अभिलक्षण' भी कहा जाता है। खंडेतर ध्वनियों के अंतर्गत नासिक्यता, मात्रा, अघात, सुर, तान, अंतराल आदि विशेषताओं का विवेचन किया जाता है।

नासिक्यता

नासिक्यता का संबंध स्वरों से है। हिंदी में नासिक्यता महत्वपूर्ण है। हिंदी स्वरों के विवेचन में नासिक्यता का वर्णन कर दिया गया है।

मात्रा

'मात्रा' से तात्पर्य ध्वनि के उच्चारण में लगने वाले समय से है। हिंदी ध्वनियों में मात्रा महत्वपूर्ण है। इस मात्रा के आधार पर ही स्वरों के ह्रस्व एवं दीर्घ भेद किये गये हैं (हिंदी के ह्रस्व एवं दीर्घ स्वरों में मात्रा के अतिरिक्त उच्चारण स्थान का भी अंतर है)। इसी मात्रा के आधार पर 'व्यंजन द्वित' की रचना होती है। 'पता' एवं 'पत्ता' शब्दों की अर्थ-भिन्नता का कारण 'त्' की मात्रा ही तो है। 'पता' की अपेक्षा 'पत्ता' में 'त्' का उच्चारण अधिक दीर्घ है।

आघात

'आघात' (Accent) से तात्पर्य प्रभाव अथवा दबाव से है। यह प्रभाव दो प्रकार का है। एक तो ध्वनि के उच्चारण में लगाया हुआ बल जिसे 'बलाघात' (Stress) कहते हैं; तथा दूसरा, ध्वनि—उच्चारण के समय स्वरतंत्री में उत्पन्न कंपन की गति, जिसे 'स्वराघात' (Pitch accent) कहते हैं।

यों तो प्रत्येक ध्वनि के उच्चारण में कुछ न कुछ बल लगता ही है तथा प्रत्येक सघोष ध्वनि के उच्चारण में स्वराघात होता ही है किंतु आघात तब महत्वपूर्ण कहा जाता है जब उसमें अर्थ-भिन्नता उत्पन्न करने का गुण हो।

हिंदी में ध्वनि के स्तर पर तो आघात का कोई महत्व नहीं है। शब्द के स्तर पर कभी-कभी उसका प्रयोग किया जाता है किंतु उससे अर्थ में कोई

विशेष भिन्नता नहीं आती। इसीसे कई विद्वान ऐसा मानते हैं कि हिंदी में आघात महत्वपूर्ण नहीं है।

सुर एवं तान

'सुर' (Pitch) का संबंध स्वरतंत्री के कंपन से है। जब यह कंपन तीव्रगति से होता है तो ध्वनि ऊंचे सुर में सुनाई पड़ती है तथा जब यह कंपन मंद रहता है तो ध्वनि नीचे सुर में सुनाई पड़ती हैं। सुरों का महत्व केवल संगीत में ही नहीं है, कथन में भी है। पूरे शब्द अथवा पूरे वाक्य के सुरों के समष्टि रूप को अनुतान (Intonation) कहा जाता है। प्रत्येक भाषा में सुर एवं अनुतान का महत्व रहता है। जब कोई अहिंदी भाषी हिंदी बोलता है तब स्वर एवं व्यंजन के सही होने पर सुर एवं अनुतान की भिन्नता के कारण यह समझने में देर नहीं लगती कि वह हिंदी भाषी नहीं है (अपवादों को छोड़ कर)। हिंदी में भी सुर एवं अनुतान महत्वपूर्ण हैं (विशेषकर वाक्य के स्तर पर)। अनुतान के बदल जाने से एक ही वाक्य के भिन्न-भिन्न अर्थ निकल सकते हैं।

'मैं घर जाऊंगा'

'मैं घर जाऊंगा ?'

उपर्युक्त दोनों वाक्यों में स्वर एवं व्यंजन ध्वनियां समान हैं किंतु सुर एवं अनुतान के बदल जाने से प्रथम वाक्य का सामान्य कथन दूसरे वाक्य में प्रश्न वाचक या नकारात्मक बन गया है (पहले वाक्य में घर जाने का स्वीकारात्मक कथन है किंतु दूसरे वाक्य का भाव यह है कि घर जाने की बात पूछी जा रही है अथवा यह कहा जा रहा है कि मैं घर नहीं जाऊंगा)।

'तान' (Tone) एक प्रकार से सुर का समानार्थी है। जब किसी शब्द का सुर बदलने से उस शब्द का अर्थ बदल जाय तब उस सुर को प्रायः तान कहा जाता है। हिंदी में तान महत्वपूर्ण नहीं है। पंजाबी में तान महत्वपूर्ण है। जिन भाषाओं में तान महत्वपूर्ण रहती है, उन्हें 'तान भाषाएं' कहते हैं।

अंतराल

अंतराल (Juncture) से तात्पर्य है उच्चारण के मध्य का मौन अथवा विराम। इसे 'संहिता' अथवा संमम भी कहते हैं। अंतराल मुख्य रूप से तीन प्रकार का होता है। दो ध्वनियों अथवा अक्षरों के मध्य का अंतराल, दो शब्दों के मध्य का अंतराल तथा वाक्य के अंत का अंतराल। वाक्य के अंत में रहनेवाले अंतराल को प्रायः अंतराल नहीं कहा जाता। दो ध्वनियों के मध्य

पड़नेवाले सहज अंतराल को 'बंद अंतराल' (Close Juncture) कहते हैं। भाषा-विश्लेषण में इस अंतराल को दिखलाने की आवश्यकता नहीं पड़ती। उदाहरण के लिए हिंदी के 'काला' एवं 'कान' शब्दों को लिया जा सकता है। दोनों शब्दों में 'का'--के पश्चात थोड़ा-सा अंतराल पड़ता है। यह बंद अंतराल है। वह अंतराल जो अर्थ की भिन्नता उत्पन्न कर देता है, उसे खुला अंतराल (Open Juncture) कहते हैं। खुला अंतराल '+' चिह्न से इंगित किया जाता है। जैसे—'दो + दो आना' (= दो आने दो)।

'दो दो + आना।' (= प्रत्येक वस्तु का दाम दो आना)। अंतराल के स्थान परिवर्तित हो जाने के कारण एक ही वाक्य के दो भिन्न अर्थ निकलते हैं।

उपर्युक्त उदाहरण में खुला अंतराल दो शब्दों के मध्य आया है। यहां एक उदाहरण दिया जा रहा है, जहां यह अंतराल एक ही शब्द में घटित हुआ है।

'कलिका' (= कली)।

कलि + का (= कलयुग का)।

६.५ हिंदी ध्वनियों का विकास :

भारतीय आर्य भाषाओं के विकास के तीन चरण हैं—प्राचीन भारतीय आर्य भाषा (प्रा भा. आ.) काल, मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा (म. भा. आ.) काल एवं आधुनिक भारतीय आर्य भाषा (आ. भा. आ.) काल। हिंदी आधुनिक काल की भाषा है; अतः हिंदी ध्वनियों के विकास-क्रम का सूत्र म. भा. आ. से होकर प्रा. भा. आ. तक जा पहुँचता है।

प्रा. भा. आ. की प्रमाणित सामग्री का एक प्रकार से अभाव है, इसलिए उस काल की भाषा के उदाहरण प्रस्तुत करने के लिए, उस काल की साधु भाषा अर्थात संस्कृत का ही उल्लेख किया जाता है।

यदि प्रा. भा. आ. से आ. भा. आ. तक की इस अवधि में कोई मुख्य भाषायी परिवर्तन न हुआ होता तो हिंदी की प्रत्येक ध्वनि का विकास अपनी समानांतर प्रा. भा आ. की ध्वनि (यथा—हिंदी अ < संस्कृत अ) से ही हुआ होता किंतु इस अवधि के बीच अनेक भाषायी परिवर्वन हुए हैं जिनके फलस्वरूप प्रत्येक हिंदी ध्वनि के विकास के अनेक स्रोत दिखलाई पड़ते हैं।

हिंदी ध्वनियों के विकास में केवल उन्हीं ध्वनियों की चर्चा की गयी है जो महत्वपूर्ण (अर्थात ध्वनिग्राम) हैं। अंग्रेजी शब्दों के प्रभाव से आगत स्वर ध्वनि 'ऑ' तथा अरबी-फारसी शब्दों के माध्यम से आगत व्यंजन ध्वनियों

'क़, ख़, ग़, ज़, फ़' की चर्चा नहीं की गयी है क्योंकि ये ध्वनियां अभी तक ध्वनिग्राम नहीं बनी हैं।

६.६ हिंदी स्वरों का विकास :

हिंदी स्वरों का विकास-सूत्र, मुख्य रूप से मध्य भारतीय आर्य भाषा (म. भा. आ) के माध्यम से प्राचीन भारतीय आर्य भाषा (प्रा. भा. आ) से जुड़ा हुआ है। इसलिए हिंदी स्वरों के विकास-स्रोत की चर्चा से पूर्व प्रा. भा. आ, म. भा. आ. तथा हिंदी के स्वरों की सामान्य तुलनात्मक जानकारी प्राप्त कर लेना आवश्यक है।

६.६.१ प्रा. भा. आ., म. भा. आ. एवं हिंदी के स्वर :

ऐसा समझा जाता है कि वैदिक भाषा में अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, लृ स्वतंत्र स्वर; ए, ओ, ऐ, औ, संध्यक्षर थे। इसके अतिरिक्त विसर्ग (:) तथा य, व, का स्वरवत प्रयोग होता था। संस्कृत तक पहुंचते-पहुंचते, लृ का प्रयोग समाप्त हो गया। य, व, का प्रयोग स्वरवत कम हो गया। ए, ओ के उच्चारण में परिवर्तन हो गया एवं उनका स्वरूप स्वतंत्र स्वर-सा बन गया। इस प्रकार संस्कृत में अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ओ, ऋ, ॠ स्वतंत्र स्वर तथा ऐ, औ, संध्यक्षर थे। इसके सिवाय विसर्ग का प्रयोग भी होता था।

मध्यकालीन आर्यभाषाओं पालि-प्राकृत में ऋ, ॠ का प्रयोग नहीं रहा; साथ ही संध्यक्षर ऐ, औ भी स्वतंत्र बन कर ए, ओ में विकसित हो गये। विसर्ग का प्रयोग भी समाप्त-सा हो गया। मध्यकाल की भाषा में दो नवीन स्वर ध्वनियों का विकास हुआ; वे थीं ह्रस्व ऍ एवं ह्रस्व 'ऑ'। इस प्रकार मध्यकाल की आर्यभाषाओं (पालि-प्राकृत) में केवल १० स्वतंत्र स्वर रह गये, जो थे—अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऍ, ए, ओ, ऑ।

जहां तक हिंदी का संबंध है; हिंदी में मध्यकाल की ये समस्त स्वर ध्वनियां प्रयुक्त होती हैं किंतु उनमें से ह्रस्व ऍ, ऑ का प्रयोग बोलियों तक ही सीमित है। साधु हिंदी में यदि उनका उच्चारण होता भी है तो वह महत्वपूर्ण अर्थात ध्वनिग्रामिक नहीं है। इसी से देवनागरी में इन ह्रस्व ध्वनियों को इंगित करने के लिए लिपि-चिह्न भी नहीं हैं। हिंदी में इन स्वर ध्वनियों के अतिरिक्त 'ऐ, औ' संध्यक्ष स्वर ध्वनियों का विकास हुआ है (इन ध्वनियों का उच्चारण भी अब प्रायः स्वतंत्र ध्वनियों के समान होता है)। इस प्रकार साधु-हिंदी में

अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ स्वर ध्वनियां हैं, जो सब की सब स्वतंत्र स्वर ध्वनियां हैं। हिंदी में विसर्ग का प्रयोग स्वरवत नहीं रहा।

स्वर-संयोगों की दृष्टि से देखा जाय तो संस्कृत में उनका अभाव-सा है। मध्यकाल की भाषाओं—पालि-प्राकृत में स्वर-संयोग बहुत अधिक मात्रा में प्राप्त होते हैं। हिंदी तक आते-आते इनकी संख्या कुछ कम हुई है, फिर भी हिंदी में स्वर-संयोग पर्याप्त मात्रा में प्राप्त होते हैं।

६.६.२ स्वरों के विकास की सामान्य प्रवृत्तियां :

हिंदो स्वरों की प्रा. भा. आ. (अथवा संस्कृत) के स्वरों से तुलना करने पर उनके परिवर्तन की निम्नलिखित सामान्य प्रवृत्तियां दृष्टिगोचर होती हैं।

(क) स्वरों का सुरक्षित रहना

प्रा. भा. आ. के एकल या स्वतंत्र स्वर अ, इ, उ, हिंदी में भी सुरक्षित रहे हैं।

(ख) उच्चारण में परिवर्तन

संस्कृत में अ:आ, इ:ई, उ:ऊ, स्वर युग्मों में केवल मात्रा (ह्रस्व एवं दीर्घ) का ही अंतर था किंतु हिंदी में इनके मध्य, उच्चारण-स्थान का अंतर भी आ गया है। 'अ' हिंदी में मध्य एवं अर्ध-विवृत है किंतु 'आ' पश्च एवं विवृत है।

उच्चारण की दृष्टि से सब से बड़ा अंतर संध्यक्षर या संयुक्त स्वरों में हुआ है। पाणिनी ने ए, ओ, ऐ, औ, को संध्यक्षर माना है किंतु हिंदी ए, ओ का उच्चारण एकल अथवा स्वतंत्र स्वर-सा होता है। संस्कृत में इनका उच्चारण 'अइ', 'अउ' जैसा था। वैसे ही संस्कृत में ऐ, औ, का उच्चारण क्रमशः 'आइ', 'आउ' होता था किंतु हिंदी में इनका उच्चारण 'अइ', 'अउ' के समान होता है (हिंदी में तो ये स्वर भी स्वतंत्र हो चले हैं)।

(ग) वितरण में परिर्तन

संस्कृत में स्वर-संयोग न के बराबर थे अर्थात बिना व्यंचन के स्वर एक साथ प्रयुक्त नहीं होते थे किंतु हिंदी में स्वर-यंयोगों की अच्छी संख्या हैं।

(घ) स्वर लोप

संस्कृत में ऋ, ॠ, लृ का स्वरों के अंतर्गत उल्लेख किया गया है। यों लृ का प्रयोग तो संस्कृत में भी सीमित था। हिंदी में लृ का तो प्रयोग ही नहीं

होता; ऋ का प्रयोग भी स्वर के समान नहीं होता। उसका उच्चारण 'रि' के समान होता है जो पूरा अक्षर है (र + इ)। इसके दीर्घ रूप ॠ का प्रयोग हिंदी में नही होता।

६.६.३ स्वरों का विकास-स्रोत

नीचे हिंदी स्वरों का विकास दिखाया जा रहा है। विकास-क्रम को दर्शाने के लिए हिंदी स्वरों को लिखकर उनके सामने संस्कृत की स्रोत ध्वनियों का निर्देश कर दिया गया है। उदाहरण में मध्यकाल की भाषा का संकेत कर विकास के तीनों चरणों (प्राचीन काल, मध्य काल एवं आधुनिक काल) को प्रस्तुत किया गया है। '<' चिह्न विकास की दिशा का निर्देश करता है।

हिंदी स्वर	संस्कृत स्रोत ध्वनियां	उदाहरण		
		हिंदी	म. भा. भा.	प्रा. भा. आ.
	अ	गदही, गधी	<गद्दही	<गर्दभी
	आ	अहीर	<अहीर	<आभीर
	इ	बहेड़ा	<बहेड़अ	<विभीतक
	ई	परख	<परिक्खा	<परीक्षा
अ	< उ	अगर	<अगरु	<अगुरु
	ऊ	जत्था		<यूथ + क
	ए	अरंड	<एरंड	<एरंड
	ओ	सहजन (एक पेड़)		<शोभाजन
	ऋ	बड़ा	<बड़अ	<वृतक
	आ	साग	<साग	<शाक
	अ	चका	<चक्क	<चक्र
आ	< अ + क	घोड़ा	<घोड़अ	<घोटक
	ऋ	नाच	<णच्च	<नृत्य
	इ	गाभिन	<गब्भिनी	<गर्भिणी
	अ	पिंजरा	<पंजर	<पञ्जर
इ	< ई	दिया	<दिअऊ	<दीपक
	ऋ	मिट्टी	<मिट्टिआ	<मृत्तिका

हिंदी स्वर	संस्कृत स्रोत ध्वनियां	उदाहरण		
		हिंदी	म. भा. आ.	प्रा. भा. आ.
	ई	तीखा	<तिक्ख	<तीक्ष्ण
	इ	ईख	<इक्खु	<ईक्षु
ई	<इका	होली	<होलिआ	<होलिका
	ऋ	पीठ	<पिट्ठ	<पृष्ठ
	उ	कड़ुअ	<कड़ुअ	<कटुक
	ऊ	जुआ	<जूअ	<द्यूत
उ	<अ	पूंछ	<पुच्छ	<पश्च
	इ	बुरा	<वुरुअ	<विरूप
	ऋ	बुड्ढा	<बुड्ढ	<वृद्ध
	ऊ	ऊसर	<ऊसर	<ऊषर
	उ	ऊंट	<उट्ठ	<उष्ट्र
	–उक	भालू	<भल्लुअ	<भल्लुक
ऊ	<क	बिच्छू		<वृश्चिक
	औ	पूस	<पुस्स	<पौष
	ऋ	पूंछ	<पुच्छ	<पृच्छ
	ए	आगे	<अग्गे	<अग्रे
	अ	सेज	<सज्जा	<शय्या
ए	<इ	छेद	<छिद्द	<छिद्र
	ऐ	तेल	<तेल	<तैल
	ओ	ओंठ, होंठ	<ओट्ठ	<ओष्ठ
	उ	पोखर	<पुक्खर	<पुष्कर
ओ	<ऊ	मोल	<मोल्ल	<मूल्य
	अ	चोंच	<चंचु	<चञ्चु
	औ	मोती	<मोत्तिअ	<मौक्तिक

६.६.४ संयुक्त स्वरों का विकास :

संयुक्त स्वरों अथवा संध्यक्षरों 'ऐ, औ' के संबंध में यह पहले ही कहा जा चुका है कि म. भा. आ. में ये स्वर ध्वनियां संध्यक्षर नहीं थीं। आधुनिक काल में फिर ये ध्वनियां संध्यक्षरों के रूप में विकसित हुई हैं, इस कारण इन ध्वनियों का संस्कृत (प्रा. भा. आ.) से सीधा संपर्क नहीं है। इन ध्वनियों का संपर्क मुख्य रूप से संस्कृत की अइ (अय) तथा अउ (अव) ध्वनियों से है। यथा—संस्कृतः प्रविष्ट > पइट्ठ > पैठ।

संस्कृतः चतुष्क > चउक्क > चौक।

६.६.५ अनुनासिक स्वरों का विकास :

प्रा. भा. आ. में अनुनासिक स्वरों के उदाहरण मिल जाते हैं। (यथा-कांस्य) किंतु एक तो ऐसे उदाहरण बहुत कम मिलते हैं; दूसरा, उनका प्रयोग अस्पर्शी ध्वनियों (य, र, ल, व, स, श आदि) के पूर्व ही मिलता है। म. भा. आ. तथा आ. भा. आ. में क्रमशः स्वरों की अनुनासिकता बढ़ गई हैं।

हिंदी में प्रयुक्त अनुनासिक स्वरों के विकास के अनेक स्रोत दृष्टिगोचर होते हैं, जो इस प्रकार हैं।

(क) प्रा. भा. आ. के अनुनासिक स्वरों का सुरक्षित होना। यथा—संस्कृत का कांस्य > हिंदी कांसा।

(ख) प्रा. भा. आ. के जिन शब्दों में मौखिक व्यंजन के पीछे नासिक्य व्यंजन पाया जाता है, वहां हिंदी में अनुनासिक स्वर हो गया। यथा—संस्कृत पञ्च > हिंदी पांच; संस्कृत दन्त > हिंदी दांत।

(ग) नासिक्य व्यंजन की उपस्थिति मात्र से उत्पन्न सहज अनुनासिकता के उदाहरण भी मिलते हैं। यथा—संस्कृत महार्घ > हिंदी महंगा।

(घ) कुछ ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं जहां अनुनासिकता के लिए उपर्युक्त कारण उपलब्ध नहीं हैं। यथा–हिंदी सांप < संस्कृत सर्प; हिंदी आंख < संस्कृत अक्षि। ऐसी अनुनासिकता को 'स्वतः अनुनासिकता' कहा जाता है। स्वतः अनुनासिकता के कारणों का भी विवेचन किया गया है। इन कारणों के संबंध में विद्वान एक मत नहीं हैं। कुछ विद्वान इसे बोलीगत प्रभाव मानते हैं; कुछ अन्य विद्वानों के विचार से स्वरों के ह्रस्व के स्थान पर दीर्घ होने के

कारण अनुनासिकता उत्पन्न हुई। कुछ विद्वानों का ऐसा भी विचार हैं कि स्वतः अनुनासिकता व्यंजन की क्षति-पूर्ति के कारण उत्पन्न हुई है, जो क्षति संयुक्त व्यंजनों की समाप्ति के कारण उत्पन्न हुई।

६.७ हिंदी व्यंजनों का विकास :

स्वरों के समान ही हिंदी व्यंजनों का विकास-सूत्र अंत में प्राचीन भारतीय आर्य भाषा से ही जाकर जुड़ता है। इसलिए हिंदी व्यंजनों का विवेचन करने से पूर्व यहां प्रा. भा. आ; म. भा. आ. तथा हिंदी व्यंजनों का संक्षिप्त तुलनात्मक परिचय दिया जा रहा है।

६.७.१ प्रा. भा. आ. , म. भा. आ. एवं हिंदी को व्यंजन ध्वनियां :

महत्वपूर्ण व्यंजन ध्वनियों (अर्थात ध्वनिग्रामों) की दृष्टि से प्रा. भा. आ. एवं हिंदी में बहुत कम अंतर है।

वैदिक भाषा में तीन ऐसी ध्वनियां थीं जिनका प्रयोग संस्कृत तक पहुंचते-पहुंचते समाप्त हो गया था। ये ध्वनियां थीं उत्क्षिप्त ळ, जिह्वामूलीय ᳵ क एवं उपध्मानीय ᳵ प। प्रा. भा. आ. की ध्वनि 'ष' मध्यकाल तक लुप्त हो गयी थी। 'श' एवं 'स' का प्रयोग भी एक ही भाषा रूप में नहीं मिलता है; अर्थात मध्यकाल के पश्चिमी भाषा रूप में 'स' एवं पूर्वी भाषा रूप में 'श' की प्रधानता थी। मध्यकाल में और कुछ ध्वनि-भेद रहे होंगे किंतु लिपि-बद्ध न होने के कारण उनके संबंध में कुछ कहना संभव नहीं है।

हिंदी में उच्चारण की दृष्टि से मूर्धन्य 'ष' का प्रयोग नहीं होता। 'स' एवं 'श' साधु हिंदी में महत्वपूर्ण ध्वनियां हैं। 'ड़, ढ़' पहले 'ड' एवं 'ढ' के अंतर्गत गिनी जानेवाली उनकी संध्वनियां थीं किंतु आज-कल हिंदी में उनका प्रयोग स्वतंत्र ध्वनियों के रूप में होता है। हिंदी की नवीन ध्वनियों के रूप में क़, ख़, ग़, ज़, फ़ ध्वनियों का उल्लेख किया जा सकता है, जो फारसी-अरबी के माध्यम से हिंदी में प्रविष्ट हुई हैं तथा हिंदी में स्थान पाने की प्रक्रिया में से गुजर रही हैं।

शेष व्यंजन ध्वनियां प्रा. भा. आ , म. भा. आ. तथा हिंदी में समान हैं।

कवर्गीय स्पर्श ध्वनियों (क, ख, ग, घ, ङ) का उच्चारण स्थान पहले कंठ था। आज-कल हिंदी में इनका उच्चारण कुछ आगे के स्थान से होता है,

इस कारण कुछ विद्वान अब उन्हें कंठ्य कहने की अपेक्षा कोमल तालव्य कहना अधिक उचित समझते हैं।

चवर्गीय ध्वनियां (च, छ, ज, झ, ञ) भारोपीय भाषा के कवर्गीय ध्वनियों से ही विकसित हुई हैं। ये ध्वनियां शुद्ध स्पर्शी न होकर स्पर्श-संघर्षी ध्वनियां हैं।

टवर्गीय ध्वनियों (ट, ठ, ड, ढ, ण) का भारोपीय तथा मूल भारत-ईरानी भाषा में अभाव है। आर्यों की भाषा में इन ध्वनियों का विकास भारत आने के पश्चात हुआ है। इस कारण इन ध्वनियों के विकास में आर्येतर (द्रविड़ आदि) तत्वों का योग माना जाता है।

तवर्गीय ध्वनियों (त, थ, द, ध, न) के उच्चारण स्थान में भी थोड़ा परिवर्तन हो गया है। पहले ये ध्वनियां पूर्ण रूप से दंत्य थीं, अब इनका उच्चारण वर्त्स के निकट होता है।

पवर्गीय ध्वनियों (प, फ, ब, भ, म) में कोई विशेष अंतर नहीं हुआ है।

अंतस्थ ध्वनियां (य, व,) प्रा. भा. आ. में स्वरवत भी प्रयुक्त होती थीं। हिंदी में ये स्वरों की अपेक्षा व्यंजन अधिक हैं। 'ल' का उच्चारण पहले संभवतः दंत्य था; आजकल हिंदी में 'ल' का उच्चारण स्थान वर्त्स है। 'र' मूर्धन्य ध्वनि रही है।

ऊष्म ध्वनियों (श, ष, स) में से 'ष' का प्रयोग आधुनिक हिंदी में नहीं होता।

संभवतः 'ह' के दो उच्चारण थे—अघोष एवं सघोष। हिंदी में इसका केवल सघोष रूप ही रह गया है।

६.७.२ व्यंजनों के विकास की सामान्य प्रवृत्तियां :

नीचे व्यंजन परिवर्तन की उन मुख्य प्रवृत्तियों का उल्लेख किया जाता है जो प्रवृत्तियां प्राचीन काल से आधुनिक काल की अवधि के मध्य दृष्टिगोचर होती हैं।

(क) अल्पप्राण व्यंजन लोप

इस प्रवृत्ति के कारण स्वर मध्यग, अल्प प्राण व्यंजन का प्रायः ह्रास हो जाता है। यथा—कुम्भकार > कुम्भआर > कुम्हार; पाद > पाउ > पांव।

(ख) महाप्राण व्यंजनों का 'ह' में परिवर्तन

इस प्रवृत्ति के अनुसार स्वर मध्यग महाप्राण व्यंजन ध्वनियों का 'ह' में परिवर्तन हो जाता है (कुछ महाप्राण ठ, छ, आदि को छोड़कर)। यथा—दधि > दही; मुख > मुह > मुंह। वास्तव में यह प्रवृत्ति प्रथम प्रवृत्ति के ही समान है। प्रथम प्रवृत्ति में अल्पप्राण व्यंजन का लोप हो जाता है, दूसरी प्रवृत्ति में महाप्राण व्यंजन का केवल महाप्राणत्व (ह) रह जाता है, शेष अल्पप्राण व्यंजन लुप्त हो जाता है।

(ग) प्राणत्व में परिवर्तन

इस प्रवृत्ति के कारण महाप्राण व्यंजन ध्वनि अल्पप्राण बन जाती हैं (विशेष कर पश्चिमी भाषा रूप में)। यथा—भगिनी > बहन।

अल्पप्राण से महाप्राण करने की प्रवृत्ति के उदाहरण भी मिलते हैं (विशेष कर पूर्वी भाषा रूप में)। यथा—क्रीड़ा > खेल; वेष > वेस > भेस।

(घ) घोषीकरण

इस प्रवृत्ति के कारण कुछ विशेष स्थितियों में अघोष व्यंजन ध्वनियों को सघोष कर दिया जाता है। यथा—कंकण > कंगन; काक > काग

(ङ) समीकरण एवं दीर्घीकरण

यह प्रवृत्ति संभवतः व्यंजन परिवर्तन की सबसे अधिक प्रभावशाली प्रवृत्ति सिद्ध हुई है। इस प्रवृत्ति के कारण प्राचीन भाषा के संयुक्त व्यंजन मध्यकाल में परिवर्तित होकर द्वित्त व्यंजन में बदल गये और फिर आधुनिककाल तक आते-आते द्वित्त व्यंजन एकल व्यंजन में परिवर्तित हो गये। इस परिवर्तन के साथ ही एक परिवर्तन और भी हुआ। द्वित्त व्यंजन से एकल व्यंजन हो जाने के कारण जिस ध्वनि (व्यंजन) की क्षति हुई उसकी पूर्ति द्वित्त व्यंजन के पूर्व के ह्रस्व स्वर के दीर्घीकरण से हो गयी। यथा—चक्र > चक्क > चाक; कर्म > कम्म > काम।

(ख) अन्य परिवर्तन

उपर्युक्त मुख्य परिबर्तनों के अतिरिक्त, परिवर्तनों की कुछ अन्य प्रवृत्तियां भी दृष्टिगोचर होती हैं। जैसे—'य' का 'ज' में परिवर्तन, 'श, ष' का 'स' में परिवर्तन; ध्वनियों का मूर्धन्यीकरण (ऋ, र के प्रभाव से तवर्ग की ध्वनियों का टवर्गी बन जाना) यथा – भृत > भट, दाह > डाह; स्वरभक्ति (संयुक्त व्यंजन

के मध्य स्वर का आरोप करना। यथा—आश्रय >आसय, स्नेह >सनेह)। इसके अतिरिक्त व्यंजन ध्वनियों के उच्चारण के स्थान एवं प्रयत्न में भी पर्याप्त परिवर्तन हो गया है।

६.७.३ व्यंजनों का विकास-स्रोत :

नीचे हिंदी व्यंजनों के विकास को दर्शाया गया है। व्यंजनों के विकास में 'स्थान' का भी महत्व है। इसलिए विकास दिखाते समय स्थान का भी संकेत कर दिया गया है। यह संकेत पड़ी लकीर के द्वारा किया गया है। यथा–'क–' अर्थात शब्द के आरंभ में प्रयुक्त 'क'; '–क–' शब्द मध्यग एवं '–क' शब्दांत प्रयोग को सूचित करते हैं।

		उदाहरण		
हिंदी व्यंजन	संस्कृत स्रोत ध्वनियां	हिंदी	म. भा. आ.	प्रा. भा. आ.
क—	क्	काठ	< कट्ठ	< काष्ठ
	स्क्	कंधा	< कंधअ	< स्कंध
	क्र	कोस	< कोस	< क्रोश
	क्व्	काढ़ा	< काढअ	< क्वाथक
–क–	क	इक्कीस	< एक्कवीसअ	< एकविंशति
	र्क्	कंकड़	< कक्कर	< कर्कर
	क्र	चक्का	< चक्कअ	< चक्र
	क्क	चिकना	< चिक्कण	< चिक्कण
	क्व्	पका	< पक्क	< पक्व
—क्	क्	गाहक्	< गाहक	< ग्राहक
	ष्क्	चौक	< चउक्क	< चतुष्क
	क्य्	मानिक	< माणिक्क	< माणिक्य
	क्र्	चाक	< चक्क	< चक्र
	र्क्	आक	< अक्क	< अर्क
	क्क्	भूंक	< भुक्क	< बुक्क
ख–	ख्	खाट	< खट्टा, खट्ट	< खट्वा
	क्ष्	खेप	< खेप	< क्षेप

हिंदी	संस्कृत स्रोत ध्वनियां	हिंदी	म. भा. आ.	प्रा. भा. आ.
	स्क्	खंभा	<खंभ	<स्कंभ
-ख-	ख्	खसखस	<खसखस	<खसखस
	ख्य्	बखान	<वक्खाण	<व्याख्यान
	क्ष्ण्	तीखा	<तिक्ख	<तीक्ष्ण
	ष्क्	सूखा	<सुक्ख	<शुष्क
—ख्	ख्	दुख	<दुक्ख	<दुःख
	क्ष	आंख	<अक्खि	<अक्षि
ग—	ग्	गहरा	<गहिर	<गम्भीर
	ग्र	गांव	<गाम	<ग्राम
	क्	गेंद	<गेंदुअ	<कन्दुक
-ग-	ग्	अगर	<अगरु	<अगुरु
	ल्ग्	फागुन	<फग्गुण	<फाल्गुन
	र्ग	गागर	<गग्गर	<गर्गर
	ग्र	आगे	<अग्गे	<अग्रे
—ग	ग्	सींग	<सिंग	<श्रृंग
	क	लोग	<लोग	<लोक
	ग्न	आग	<अग्गि	<अग्नि
	ग्य	सोहाग	<सोहग्ग	<सौभाग्य
घ—	घ्	घड़ा	<घड़अ	<घट
	ग् (+ह)	घर	<घर	<गृह
	घ्र	घानी	<घाणिआ	<घ्राणिका
-घ-	द्घ्	उघाड़ना	<उग्घाड़	<उद्घाट
	घ्र	बाघिन	<बग्घिनी	<व्याघ्रिणी
	ग्र (+ह)	बीघा	<विग्गह	<विग्रह
—घ	घ	जांघ	<जंघ	<जंघा
	घ्र	बाघ	<वग्घ	<व्याघ्र
च—	च्	चैत	<चइत्त	<चैत्र
-च-	च्	अच्छा	<अच्छअ	<अच्छक

हिंदी	संस्कृत स्रोत ध्वनियां	हिंदी	म. भा. आ.	प्रा. भा. आ.
	र्च्	कूची	<कुच्चिआ	<कूर्चिका
	च्च्	ऊंचा	<उच्च	<उच्च
—च	च्	चोंच	<चंचु	<चञ्चु
	त्य	नाच्	<नच्च	<नृत्य
	स्	लालच		<लालसा
छ—	छ्	छाता	<छत्तअ	<छत्रक
	ष्	छठा	<छट्ठ	<षष्ठ
	श्	छिलका		<शल्कल
	क्ष्	छोटा	<छुट्ठ	<क्षुद्र
–छ–	क्ष्	रीछनी	<रिच्छनी	<ऋक्षिणी
	च्छ्	कछुआ	<कच्छवअ	<कच्छपक
	त्स्	उछाह	<उच्छाह	<उत्साह
	त्स्य	मछली	<मच्छ + ली	<मत्स्य
	श्च्	पछताव	<पच्छाताअ	<पाश्चाताप
—छ	च्छ्	पूछ (क्रिया)	<पुच्छ	<पृच्छ
	क्ष	रीछ	<रिच्छ	<ऋक्ष
	श्र	मूंछ	<म्हच्छु	<श्मश्रु
ज—	ज्	जीभ	<जिब्भा	<जिह्वा
	ज्य	जेठ	<जेट्ठ	<ज्येष्ठ
	ज्व्	जल	<जल्	<ज्वल
	द्य	जूआ	<जूअ	<द्यूत
	य्	जौ	<जौ	<यव
–ज–	ज्	सजन	<सज्जण	<स्वजन
	ज्ज	काजल	<कज्जल	<कज्जल
	द्य	बिजली	<बिज्जुलिआ	<विद्युत + इका
	र्ज	खजूर	<खज्जूर	<खर्जूर
	च्	कुंजी	<कुंजिआ	<कुंचिका
	य्	सरजू	<सरजू	<सरयू
—ज	ज्	भावज	<भाउज्जा	<भातृजाया

हिंदी	संस्कृत स्रोत ध्वनियां	हिंदी	मा. भा. आ.,	प्रा. भा. आ.,
	ज्य	राज	<रज्ज	<राज्य
	ज्ज्	लाज	<लज्ज	<लज्जा
	द्य	आज	<अज्ज	<अद्य
	र्य्	काज	<कज्ज	<कार्य
	य्य्	सेज्	<सेज्जा	<शय्या
झ—	झ्	झंझा	<झंझा	<झंझा
	श्	झड़	<झड्	<शद्
–झ–	झ्	झंझा	<झंझा	<झंझा
	ध्य्	ओझा	<ओझा	<उपाध्याय
—झ	ध्य्	सांझ	<संझ	<संध्या
ट—	ट्	टकसाल		<टंकशाला
	ट्ट्	टाल	<अट्टाल	<अट्टला
	त् (र ल	टीका		<तिलक
	त्र पास हों तो)	टसर	< टसर	<त्रसर
–ट–	ट्	कांटा	<कंटअ	<कंटक
	ट्ट्	अटारी	<अट्टारिआ	<अट्टालिका
	र्त	कटारी	<कट्टरिया	<कर्तरिका
	त् (ऋ पास हो)	मिट्टी	<मिट्टिआ	<मृत्तिका
—ट्	ट्ट्	रहट	<रहट्ट	<अरघट्ट
	र्त्	काट्	<कट्ट	<कर्त
	ष्ट्	ईंट्	<इट्ट	<इष्ट
ठ—	ठ्	ठाकुर	<ठक्कुर	<ठक्कुर
	स्थ्	ठग	<ठग	<स्थग
–ठ–	ठ्	कंठी	<कंठिआ	<कंठिका
	ष्ट	अंगूठा	<अंगुट्ठअ	<अंगुष्ठ
	ष्ट्	मिठाई		<मिष्टान्निका
	त्थ्	उठान	<उट्ठान	<उत्थान
—ठ	ठ्	सोंठ्	<सुंठि	<शुंठि

हिंदी	संस्कृत स्रोत ध्वनियां	हिंदी	म. भा. आ.	प्रा. भा. आ.
	ष्ठ्	आठ्	<अट्ठ	<अष्ट
	ष्ठ्	काठ्	<कट्ठ	<काष्ठ
	थ (र के समीप)	गांठि (गांठ)	<गंठि	<ग्रंथि
ड—	ड्	डाइन	<डाइणि	<डाकिनी
	द्	डोरा	<डोरअ	<दोरक
		डोली	<डोलिया	<दोलिका
–ड–	ड्	अंडा	<अण्डअ	<अण्डक
	स्थ्	हड्डी	<हड्डिया	<अस्थिका
—ड्		मांड्		<मंड
–ड़–	ड्	पीड़ा	<पीडा	<पीडा
	ट्	बाड़ी	<वाडिआ	<वाटिका
	ष्ट्	अड़तीस्	<अट्ठतीसा	<अष्टत्रिंशत
	द्	संड़सी	<सडंसिया	<संदंशिका
	त्	पड़ोस	<पडोस	<प्रतिवेश
	र्	पहाड़ा		<प्रस्तारक
–ड़्	ड्	गरुड़	<गरुड	<गरुड
	ट्	बड़्	<वड	<वट
	र्	कंकड़	<कक्कड	<कर्कर
ढ—	ढ्	ढाल		<ढाल
	धृ	ढीठ	<ढिट्ठ	<धृष्ट
	(ध र के)	ढाल		<धार
–ढ़–	ढ्	गाढ़ा	<गाढ	<गाढ
	ठ्	पढ़ना	<पढण	<पठन
	ड्	गढ़ी	<गढ़िआ	<गडिआ
—ढ़्	ढ्	गूढ़	<गूढ	<गूढ
	ठ्	पढ़्	<पढ्	<पठ्
	ध्य	कुढ़्	<कुड्ढ	<क्रुध्य

ड़, ढ़ ध्वनियां शब्दारंभ में नहीं आतीं।

हिंदी	संस्कृत स्रोत ध्वनियां	हिंदी	म. भा. आ.	प्रा. भा. आ.
	ष्ट्	कोढ़्	<कोड्ढ	<कुष्ट
त—	त्	ताला	<तालअ	<तालक
	त्र	तेईस	<तेवीस	<त्रयोविंशति
–त–	त्	सोता	<सोत्तअ	<स्रोतक
	त्र	चीता	<चित्तअ	<चित्रक
	त्त्	तीतर	<तित्तर	<तित्तिर
	क्त्	मोती	<मोत्तिअ	<मौक्तिक
	प्त	सत्तर	<सत्तरि	<सप्तति
—त्	त्	दांत्	<दन्त	<दन्त
	त्र	खेत्	<खेत्त	<क्षेत्र
	त्त्	भीत्	<भित्त	<भित्ति
	क्त्	पांत	<पंति	<पंक्ति
	प्त	सात	<सत्त	<सप्त
थ—	थ्	थाली	<थाली	<थाली
	स्थ्	थान	<थाण	<स्थान
	स्त	थन	<थण	<स्तन
–थ–	थ्	कथन		<कथन
	स्त्	माथा	<मत्थअ	<मस्तक
	न्थ्	मथनी	<मत्थणिआ	<मन्थनिका
—थ्	थ्	पथ्		<पथ
	र्थ्	चौथ	<चउत्थि	<चतुर्थी
	स्त्	हाथ्	<हत्थ	<हस्त
द—	द्	दुबला	<दुब्बल	<दुर्बल
	द्र्	दोना	<दोणअ	<द्रोणक
–द–	द्	आदर		<आदर
	द्र्	कोदों	<कोद्दव	<कोद्रव
	र्द्	चौदह	<चउद्दह	<चतुर्दश

हिंदी	संस्कृत स्रोत ध्वनियां	हिंदी	प्रा. भा. आ ,	म. भा. आ. ,
—द्	द्	बूंद	<बिंदु	<बिंदु
	द्र्	चांद्	<चंद	<चंद्र
ध—	ध्	धान्	<धण्ण	<धान्य
—ध—	ध्	इंधन	<इंधण	<इन्धन
	र्द्ध्	आधा	<अद्धअ	<अर्द्धक
	र्द्	गधा	<गद्दह	<गर्दभ
—ध्	ध्	वध्		<वध
	ध्र्	गीध्	<गिद्ध	<गृध्र
प—	प्	पारा	<पारअ	<पारद
	प्र्	पहेली	<पहेलिआ	<प्रहेलिका
	स्प्	परस		<स्पर्श
—प—	प्	सपना		<स्वप्न
	र्प्	कपूर	<कप्पूर	<कर्पूर
	त्प्	उपज	<उप्पज्ज	<उत्पद्य
	प्प्	पीपल	<पिप्पल	<पिप्पल
—प	प्	रूप्		<रूप
	र्प्	सूप	<सुप्प	<शूर्प
	ष्प्	भाप्		<वाष्प
	प्र	वाप्	<बप्प	<वप्र
फ—	फ्	फागुन	<फग्गुण	<फाल्गुन
	स्फ्	फोड़ा	<फोडअ	<स्फोटक
	प्	फरसा	<फरसु	<परशु
—फ—	फ्	सफल		<सफल
ब—	ब्	बाँध		<बन्ध्
	ब्र्	बाम्हन्	<बम्हण	<ब्राह्मण
	व्	बढ़	<बड्ढ	<वर्ध

		उदाहरण		
हिंदी	संस्कृत स्रोत ध्वनियां	हिंदी	म. भा. आ.	प्रा. भा. आ.
	व्य्	बाघ	<वग्घ	<व्याघ्र
	प्	बैठ	<बइट्ठ	<उपविष्ट
	भ्	बहिन	<बहिणि	<भगिनि
	प्र	बहुत	<बहुत्त	<प्रभूत
—ब—	ब्	कम्बल	<कम्बल	<कम्बल
	म्र	तांबा	<तम्म	<ताम्र
	भ्	अबरक	<अब्भय	<अभ्रक
	द्व	उबटन		<उद्वर्त्तन
—ब	ब्	कदम्ब्	<कद्दम	<कदम्ब
	र्व्	सब्	<सब्ब	<सर्व
भ—	भ्	भीख	<भिक्खा	<भिक्षा
	भ्र	भवंरा (भौंरा)	<भवंरअ	<भ्रमर
	व्	भेस	<भेस	<वेष
	म्	भैंस	<महिस	<महिष
	व्	भूंक	<भुक्क	<बुक्क
—भ—	भ्	आभूषण		<आभूषण
—भ्	भ्	लाभ्		<लाभ
	ह्व	जीभ्	<जिब्भा	<जिह्वा

ङ यह ध्वनि प्रा भा. आ. तथा संस्कृत में कवर्ग के व्यजनों के पूर्व ही प्रयुक्त होती थी। शब्दारंभ अथवा शब्दांत में इसका प्रयोग नहीं होता था। हिंदी में भी इस ध्वनि की यही स्थिति है।

—ङ—	ङ्	कंगाल	<कंकाल	<कङ्काल

ञ ञ की स्थिति ङ के समान ही थी अर्थात् यह ध्वनि केवल चवर्गीय व्यंजनों के पूर्व ही आती थी, शब्द के आदि या अंत में नहीं हिंदी में भी इसका प्रयोग ऐसे ही होता है।

—ञ—	ञ्	<चंचल	<चंचल	<चञ्चल

ण यह ध्वनि संस्कृत या प्रा. भा. आ. में शब्दारंभ में नहीं आती थी, अन्यत्र कहीं भी उसके प्रयोग पर प्रतिबंध नहीं था। हिंदी में मध्य तथा अंत में इस ध्वनि का कहीं भी प्रयोग हो सकता है।

–ण–	ण्	अगणित	<अगणिअ	<अगणित
—ण्	ण्	गुण्	<गुण	<गुण
न—	न्	नौ	<णउ	<नव
	स्न्	नेह	<णेह	<स्नेह
–न—	न्	पानी	<पाणिअ	<पानीय
	ण्	चना	<चणअ	<चणक
	र्ण	सोना	<सोण्ण	<स्वर्ण
	न्न्	अनाज्	<अण्णज्ज	<अन्नाद्य
—न्	न्	लहसुन	<लसुण	<लशुन
	न्य्	सुन्न्	<सुण्ण	<शून्य
	र्ण्	कान्	<कण्ण	<कर्ण
	ण्	सन्	<सण	<शण
म—	म्	मक्खी	<मक्खिआ	<मक्षिका
	म्र	मक्खन	<मक्खण	<म्रक्षण
	श्म्	मसान्	<मसाण	<श्मशान
–म–	म्	मामी	<मामिआ	<मामिका
	र्म्	चमड़ा	<चम्म + ड़ा	<चर्म
—म	म्	नाम	<नाम	<नाम
	र्म्	काम	<कम्म	<कर्म
	म्ब्	नीम्	<णिम्म	<निम्ब
	भ्	बालम्	वल्लभ	<वल्लभ
य—	य्	योजना		<योजना
	ए	ये	<एइ	<एते
–य–	य्	प्रयत्न	<पयत्त	<प्रयत्न
—य	य्	समय		<समय
	इ	गाय	<गाइ	<गाविका
व्—	व्	वधू	<वहुअ	<वधू

		उदाहरण		
हिंदी	संस्कृत स्रोत ध्वनियां	हिंदी	म. भा. आ.	प्रा. भा. आ.
-व-	व्	सावन	<सावण	<श्रावण
	प्	पूवा	<पूवअ	<पूपक
	म्	सांवला	<सांवलअ	<श्यामलक
—व्	व्	अभिनव्	<अभिणव	<अभिनव
	म्	गांव्	<गाम	<ग्राम
	प्	ताव्	<ताव	<ताप
र—	र्	राज	<रज्ज	<राज्य
	ऋ	रीछ	<रिच्छ	<ऋक्ष
-र-	र्	गेरू	<गेरुअ	<गैरिक
	ऋ	घरनी	<घरणा	<गृहिणी
	द्	ग्यारह	<एगारह	<एकादश
	ल्	पूरी	<पूवरिआ	<पूपालिका
—र्	र्	ऊसर	<उस्सर	<ऊषर
	त्	सत्तर	<सत्तरि	<सप्तति
	ऋ	पीहर		<पितृगृह
ल—	ल्	लाख	<लक्ख	<लक्ष
-ल-	ल्	होली	<होलिया	<होलिका
	ल्ल्	भालू	<भल्लुअ	<भल्लुक
	र्	हल्दी	<हलिद्दी	<हरिद्री
	र्य्	पलंग	<पल्लंग	<पर्यङ्क
	ड्	सोलह	<सोड़स	<षोडश
	त्	अलसी	<अलसी	<अतसी
—ल्	ल्	साल	<साल	<शाल
	ल्ल्	गाल	<गल्ल	<गल्ल
	ल्य्	कल	<कल्ल	<कल्य
	ल्व्	बेल	<बेल्ल	<बिल्व
श—	श्	शिक्षा	<सिक्खा	<शिक्षा

		उदाहरण		
हिंदी	संस्कृत स्रोत ध्वनियां	हिंदी	म. भा. आ.	प्रा. भा. आ.
	ष्	षड्यंत्र (शड्यंत्र)		<षड्यंत्र
–श–	श्	आशा	<आसा	<आशा
	ष्	शोषण (शोशण)	<सोसण	<शोषण
—श्	श्	नाश	<णास	<नाश
	ष्	दोष (दोश)		<दोष
स—	स्	सच	<सच्च	<सत्य
	श्	साड़ी	<साडिआ	<शाटिका
	श्र	सेठ्	<सेट्ठि	<श्रेष्ठि
	श्य्	सांवा	<सांवअ	<श्यामक
	श्व्	सांस	<सास	<श्वास
	शृ	सींग्	<सिंग्	<शृंग
	ष्	सांड़	<संड्	<षंड
–स–	स्	आसनी	<आसंदी	<आसन्दी
	स्य्	कांसा	<कंस्सअ	<कांस्य
	श्	डंसना	<डंसण	<दंशन
	ष्	ऊसर	<उस्सर	<ऊषर
—स्	स्	सांस	<सास	<श्वास
	स्य	किस	<किस्स	<कस्य
	श्	दस	<दस	<दश
	श्र	आस	<अस्स	<अश्रि
	श्य	ओस	<ओस्सा	<अवश्या
	ष्	बरस	<वरिस	<वर्ष
ह—	ह्	हाथी	<हत्थि	<हस्तिन
	ध्	हेठा	<हेट्ठा	<अधस्तात्
–ह–	ह्	पहर	<पहर	<प्रहर
	ख्	अहेर	<आहेड	<आखेट
	घ्	रहट्	<रहट्ट	<अरघट्ट
	थ्	कहना	<कहण	<कथन

		उदाहरण		
हिंदी	संस्कृत स्रोत ध्वनियां	हिंदी	म. भा. आ.	प्रा. भा. आ.
	ध्	दही	<दहि	<दधि
	भ्	अहीर	<अहीर	<आभीर
	श्	केहरो	<केसरी	<केशरी
	स्	इकहत्तर	<एकहत्तरि	<एकसप्तति
	स्त	पहाड़	<पासाण	<प्रस्तारक
—ह्	ह्	दाह	<दाह	<दाह
	ख्	मुह	<मुह	<मुख
	घ्	मेह	<मेह	<मेघ
	थ्	कह	<कह	<कथ्
	श्	सोलह	<सोडस	<षोडश

६.७.४ खंडेतर ध्वनियों का विकास :

नासिक्यता का संबंध स्वरों से है। अतः अनुनासिक स्वरों के विकास संबंधी विवेचन में नासिक्यता का विकास भी निहित है।

अंतराल का उपयोग प्रत्येक भाषा में होता है। इसलिए हिंदी में प्रयुक्त अंतराल की चर्चा के लिए परंपरा का विश्लेषण अनिवार्य नहीं है। अतः खंडेतर ध्वनियों अथवा खंडेतर लक्षणों में आघात ही शेष रहता है जिसके विकास का विवेचन अपेक्षित है।

ऐसा समझा जाता है कि वैदिक भाषा में स्वराघात महत्वपूर्ण था, बलाघात नहीं। स्वराघात के तीन भेद थे—'उदात्त' (जिसमें स्वर ऊंचा रहता था) 'अनुदात्त' (जिसमें स्वर नीचे रहता था) एवं 'स्वरित' (जो संभवतः उदात्त एवं अनुदात्त के मध्य की स्थिति थी)।

संस्कृत काल से स्वराघात का ह्रास एवं बलाघात का विकास आरंभ होता है। संस्कृत में केवल बलाघात का प्रयोग दृष्टिगोचर होता है। पालि-प्राकृत में स्वराघात के कुछ अवशेष दिखाई पड़ते हैं किंतु अपभ्रंश तक पहुंचते-पहुंचते स्वराघात का प्रयोग समाप्त हो जाता है तथा बलाघात विकसित हो जाता है।

आधुनिक आर्यभाषाओं के संबंध में विद्वान एक मत नहीं हैं। हिंदी में स्वराघात अथवा बलाघात का निश्चित एवं महत्वपूर्ण प्रयोग दिखाई नहीं पड़ता।

स्मरण-संकेत

६.१ 'हिंदी-संरचना' का अर्थ 'साधु हिंदी की संरचना' है ।

६.२ ध्वन्यात्मक संरचना में ध्वनियों का विवेचन होता है ।

६.३ खंडनीय अर्थात क्रमशः उच्चरित ध्वनियां; (स्वर, व्यंजन); खंडेतर अर्थात अन्य ध्वनियों के साथ उच्चरित ध्वनियां (आघात, सुर आदि) हिंदी में १० स्वर एवं ३२ व्यंजन । इसके सिवाय नासिक्यता, अनुस्वार, विसर्ग की ध्वनियां। कुछ अन्य ध्वनियां तथा विदेशी ध्वनियां। स्वरों के वर्गीकरण के आधार हैं—जीभ की उंचाई, जीभ का स्थान, होंठों की स्थिति, मात्रा, नासिक्यता तथा संध्यता ।

व्यंजन रहित स्वरों के एक साथ प्रयोग का नाम स्वर-संयोग। हिंदी में दो-तीन स्वरों के संयोग । व्यंजनों के वर्गीकरण के आधार हैं— स्थान, प्रयत्न, घोषत्व, प्राणत्व। स्वर रहित समान व्यंजनों के एक साथ प्रयोग को 'व्यंजन द्वित्त' तथा भिन्न व्यंजनों के एक साथ प्रयोग को 'संयुक्त व्यंजन' अथवा 'व्यंजन गुच्छ' कहते हैं। हिंदी में दो, तीन, चार व्वंजनों के गुच्छ मिलते हैं ।

६.४ हिंदी में नासिक्यता महत्वपूर्ण है। उच्चारण में लगाये हुए बल का नाम 'आघात'। आघात के दो प्रकार हैं—बलाघात एवं स्वराघात । हिंदी में आघात का निश्चित एवं महत्वपूर्ण प्रयोग नहीं होता। ध्वनियों के आरोह-अवरोह को सुर कहते हैं। हिंदी में वाक्य के स्तर पर सुर का महत्व है। उच्चारण के मध्य होने वाले विराम को अंतराल कहते हैं। हिंदी में तीन प्रकार का अंतराल है—वाक्यांत, बंद एवं खुला अंतराल।

६.५ हिंदी ध्वनियों का विकास म. भा. आ. के माध्यम से, प्रा. भा. आ. से हुआ है ।

६.६ स्वरों के विकास की सामान्य प्रवृत्तियां हैं—सुरक्षित रहना, उच्चारण में भिन्नता, वितरण में भिन्नता एवं स्वर-लोप ।
प्रत्येक हिंदी स्वर का विकास प्रा. भा. आ. के अनेक स्वरों से हुआ है ।

६.७ व्यंजनों के विकास की सामान्य प्रवृत्तियां हैं—अल्पप्राण ध्वनियों का लोप, महाप्राण ध्वनियों का 'ह' में परिवर्तन, प्राणत्व में अंतर, घोषत्व

में अंतर, समीकरण एवं दीर्घीकरण। प्रत्येक व्यंजन ध्वनि के विकास का स्रोत प्रा. भा. आ. की अनेक ध्वनियां।

६.८ वैदिक भाषा में स्वराघात का महत्व था। संस्कृत से बलाघात का विकास। अपभ्रंश में केवल बलाघात। हिंदी में दोनों प्रकार के आघात का निश्चित एवं महत्वपूर्ण प्रयोग नहीं होता।



७ हिंदी की व्याकरणात्मक संरचना (वर्णन एवं विकास)

- हिंदी की व्याकरणात्मक संरचना
- हिंदी की रूपात्मक संरचना
- हिंदी में शब्द निर्माण की पद्धतियां
- हिंदी में शब्द रूपांतर
- संज्ञा का रूपांतर एवं विकास
- सर्वनाम का रूपांतर एवं विकास
- विशेषण का रूपांतर एवं विकास
- क्रिया का रूपांतर एवं विकास
- अव्यय
- हिंदी की वाक्यात्मक संरचना

७.१ हिंदी की व्याकरणात्मक संरचना :

व्याकरणात्मक संरचना भाषा की सबसे महत्वपूर्ण संरचना है। व्याकरणात्मक संरचना की भिन्नता के कारण ही एक भाषा दूसरी भाषा से भिन्न दिखलाई पड़ती है।

व्याकरणात्मक संरचना को सुविधा के लिए दो भागों में विभाजित किया जाता है। एक को रूपात्मक संरचना एवं दूसरी को वाक्यात्मक संरचना कहा जाता है। रूपात्मक संरचना में शब्दों के निर्माण एवं विकार का विवेचन होता है। वाक्यात्मक संरचना में वाक्य की गठन एवं वाक्य के प्रकारों का विश्लेषण होता है। हिंदी की व्याकरणात्मक संरचना के विवेचन में, हिंदी की शब्द निर्माण की पद्धतियों, शब्द रूपांतर की विधियों, वाक्य की गठन वाक्य के प्रकारों आदि विषयों का उल्लेख होगा।

७.२ हिंदी को रूपात्मक संरचना :

हिंदी की रूपात्मक संरचना के अंतर्गत हिंदी के शब्द-निर्माण की पद्धतियों तथा हिंदी शब्दों के रूपांतर अथवा विकार का विवेचन होगा। आगामी परिच्छेदों में हिंदी की रूपात्मक संरचना का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है। यथासंभव ऐतिहासिक पृष्ठभूमि (विकास) का भी निर्देश कर दिया गया है।

७.३ हिंदी में शब्द-निर्माण की पद्धतियां :

हिंदी में शब्द-निर्माण की मुख्य तीन पद्धतियां हैं—

(क) सर्ग पद्धति
(ख) समास पद्धति
(ग) पुनरावृत्ति पद्धति

उपर्युक्त पद्धतियों में से सर्ग पद्धति मुख्य है अतः उसका विस्तार से विवेचन किया जायगा।

७.३.१ समास पद्धति :

समास पद्धति में संयोजक तत्व (विभक्ति आदि) को हटा दिया जाता है जिससे एक से अधिक शब्द आपस में मिलकर एक अन्य शब्द की रचना करते हैं। शब्दों के जुड़ने की क्रिया को समास कहते हैं तथा समास की क्रिया से बना हुआ शब्द 'सामासिक' शब्द कहलाता है। उदाहरणार्थ घुड़दौड़'

(= घोड़ों की दौड़) में 'की' परसर्ग का लोप है तथा 'दाल-भात' (= दाल और भात) में 'और' समुच्चय बोधक का लोप हुआ है ।

संस्कृत श्लिष्ट-प्रश्लिष्ट के मध्य की भाषा थी । अतः उसमें शब्दों को परस्पर जोड़ने की सुविधा थी । हिंदी अश्लिष्ट बनने की प्रक्रिया से गुजर रही है, जिसमें शब्द जुड़ने के स्थान पर अलग होते हैं, इसलिए हिंदी में समास पद्धति का ह्रास हो चला है । 'राम-राज्य', 'राज-भाषा' जैसे रूप जो संस्कृत की दृष्टि से सामासिक हैं, हिंदी में असामासिक हो चले हैं तथा 'रामराज्य', 'राजभाषा' के रूप में लिखे जाते हैं । कुछ सामासिक शब्द परंपरा से चले आ रहे हैं । हिंदी में आज भी उनका प्रयोग होता है किंतु शब्द निर्माण की दृष्टि से समास पद्धति हिंदी में बहुत प्रभावशाली नहीं है ।

७.३.२ पुनरावृत्ति की पद्धति :

पुनरावृत्ति की पद्धति में कभी तो पूरे शब्द को दुहरा दिया जाता है (जैसे—खटखट, चमचम) तथा कभी शब्द के उच्चारण से मेल खाते हुए सार्थक अथवा निरर्थक शब्द को दुहरा दिया जाता है । जैसे—'गाना-बजाना' में 'गाना' के साथ आया हुआ 'बजाना' सार्थक है, जबकि 'लोटा-वोटा' में 'लोटा' के साथ आया हुआ 'वोटा' निरर्थक है (सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो उसका भी एक अर्थ है । 'लोटा' अर्थात 'केवल लोटा' लेकिन 'लोटा-वोटा' अर्थात 'लोटे के साथ और भी चीज़ें') । कभी-कभी पुनरावृत्ति में मिलते-जुलते अर्थवाले दो शब्दों को भी साथ-साथ दुहरा दिया जाता है । जैसे—दौड़-धूप, नाच-गाना । वास्तव में देखा जाय तो ऐसे शब्द सामासिक बन जाते हैं ।

७.३.३ सर्ग पद्धति :

इस पद्धति में मूल शब्द के पूर्व अथवा पश्चात अथवा दोनों स्थितियों में सर्ग जोड़कर एक शब्द से दूसरा शब्द बनाया जाता है । यथा—'कर्म' शब्द के पूर्व 'कु–' सर्ग जोड़कर 'कुकर्म', 'योग' शब्द के पश्चात '–ई' सर्ग जोड़कर 'योगी' तथा 'मार्ग' के पूर्व '–कु' सर्ग एवं पश्चात '–ई' सर्ग जोड़कर 'कुमार्गी' बनाया जा सकता है ।

सामान्य रूप से शब्द के पूर्व जोड़े जानेवाले सर्ग को 'उपसर्ग' तथा शब्द के पश्चात जोड़े जानेवाले सर्ग को 'प्रत्यय' कहा जाता है ।

७.३.३.१ हिंदी उपसर्ग :

हिंदी-उपसर्गों के तीन भेद माने जाते हैं—

(क) तत्सम

(ख) तद्भव

(ग) विदेशी

तत्सम उपसर्ग

इन उपसर्गों का रूप संस्कृत के समान ही है। कुछ मुख्य तत्सम उपसर्ग निम्नलिखित हैं—

अ, अन् = अभाव, शून्यता

कुछ अपवादों को छोड़कर, 'अ' का प्रयोग व्यंजन से आरंभ होनेवाले शब्द के पूर्व तथा 'अन्' का प्रयोग स्वर से आरंभ होनेवाले शब्द के पूर्व होता है। यथा—अ + ज्ञान = अज्ञान, अन् + आदर = अनादर।

अप = हीनता। यथा—अपमान, अपयश।

अभि = विशेष। यथा—अभिमान, अभिमत।

अव = (i) हीन, नीच, शून्य। यथा—अवगुण।

= (ii) विशेष। यथा—अवशेष, अवरोध।

उप = (i) सहायक, गौण। यथा – उपनाम, उपग्रह।

= (ii) विशेष। यथा—उपभोग, उपयोग।

कु = हीन, बुरा। यथा—कुपुत्र, कुकर्म।

दुर् = (i) बुरा। यथा दुर्बुद्धि, दुर्गुण, दुर्घटना।

(ii) कठिन। यथा—दुर्गम, दुर्निवार।

निर्, नी = नहीं, रहित। यथा—निर्गुण, निर्जन, नीरस, नीरव।

परि = पूर्ण, हर प्रकार से। यथा—परिपर्ण, परिज्ञान, परिवर्तन, परितोष।

वि = (i) विशेष। यथा—विजय, विज्ञान, विनाश।

(ii) अभाव। यथा—विदेशी, विमुख।

स = साथ। यथा—सजीव, सतर्क, सगुण।

सु = अच्छा, उत्तम। यथा—सुपुत्र, सुयश, सुमति, सुकर्म।

तद्भव उपसर्ग

कुछ प्रमुख तद्भव उपसर्ग निम्नलिखित हैं—

स (सं॰ सु > हिं स) = अच्छा। यथा—सपूत।

क (सं. कु > हिं. क) = बुरा । यथा—कपूत ।
नि (सं. निर् > हिं. नि) = नहीं । यथा—निकम्मा, निडर ।
अध (सं. अर्ध > हिं. अध) = आधा । यथा—अधमरा ।
दु (सं. दुर् > हिं. दु) = बुरा, हीन । यथा—दुबला, दुकाल ।

विदेशी उपसर्ग

कुछ विद्वानों ने विदेशी उपसर्गों के वर्ग में फारसी के 'बे–' (बेईमान, बेपरवाह), 'ला–' (लाजवाब) 'बा–' (बाअदब) आदि तथा अंग्रेजी के 'हेड–' (हेडमास्टर) 'वाइस–' (वाइस-चांसलर), 'हाफ–' (हाफ पैंट) आदि की गणना की है । वास्तव में विदेशी उपसर्गों के संदर्भ में जिन शब्दों के उदाहरण दिए जाते हैं, वे पूरे के पूरे शब्द ही हिंदी में आगत हैं । उदाहरणार्थ हिंदी में फारसी का 'जवाब' भी आया है, 'लाजवाब' भी । यह नहीं कि हिंदी ने 'ला–' उपसर्ग तथा 'जवाब' शब्द लिए हैं तथा 'जवाब' में 'ला–' जोड़कर 'लाजवाब' बनाया है । वैसे ही अंग्रेजी का पूरा सब्द 'हेडमास्टर' हिंदी ने ग्रहण किया है, यह नहीं कि 'हेड–' उपसर्ग लिया है तथा 'मास्टर' में जोड़कर 'हेड-मास्टर' की रचना की है । कहने का तात्पर्य यह है कि कुछ अपवादों को छोड़कर (यथा—बेठिकाने, बेध्यानी) ये तथाकथित विदेशी उपसर्ग हिंदी में रचनात्मक दृष्टि से प्रयुक्त नहीं होते ।

७.३.३.२ हिंदी प्रत्यय :

संस्कृत में दो प्रकार के प्रत्यय थे — कृत प्रत्यय—जो धातु के पीछे जुड़ते थे, तथा तद्धित प्रत्यय जो धातु के अतिरिक्त अन्य शब्दों (संज्ञा, विशेषण आदि) के पीछे जुड़ते थे । हिंदी में इस वर्गीकरण का औचित्य नहीं रह गया है, क्योंकि हिंदी में एक ही प्रत्यय धातु में भी जुड़ता है तो धातु के सिवाय अन्य शब्दों में भी । उदाहरणार्थ 'अक' प्रत्यय धातु 'बैठ' में भी जुड़ता है (बैठ् + अक = बैठक) तो 'पाठ' संज्ञा में भी जुड़ता है (पाठ् + अक = पाठक) ।

हिंदी प्रत्ययों का वर्गीकरण दो आधारों पर किया जा सकता है । एक तो स्रोत के आधार पर, दसरा कार्य के आधार पर ।

यहां स्रोत की दृष्टि से प्रत्ययों का विवेचन किया जा रहा है, क्योंकि भाषा के इतिहास अर्थात विकास में इसी का महत्व है । यथासंभव उनके कार्यों का भी उल्लेख कर दिया गया है ।

स्रोत की दृष्टि से हिंदी प्रत्यय तीन प्रकार के हैं (क) परंपरागत, (ख) निर्मित, (ग) आगत ।

परंपरागत प्रत्यय

परंपरागत प्रत्यय दो प्रकार के हैं—तत्सम एवं तद्भव। तत्सम प्रत्यय वे हैं जिनका रूप संस्कृत के समान है। तद्भव प्रत्ययों के रूप में संस्कृत से कुछ परिवर्तन दिखलाई पड़ता है। कुछ विद्वान 'अज्' एवं 'अज्ञ्' को तद्भव प्रत्यय मानते हैं तथा उनका संबंध संस्कृत के 'ज' तथा 'ज्ञ' से जोड़ते हैं। उनके कथनानुसार संस्कृत में जल + ज = जलज, मर्म + ज्ञ = मर्मज्ञ है। जबकि हिंदी में जल् + अज् = जलज्, मर्म् + अज्ञ् = मर्मज्ञ् है। इस संबंध में निवेदन है कि जलज् तथा मर्मज्ञ् जैसे शब्दों में 'अज्', 'अज्ञ्' प्रत्यय मानने का कोई औचित्य नहीं है। हिंदी ने संस्कृत से 'जल' एवं 'मर्म' के साथ 'जलज एवं 'मर्मज्ञ' जैसे शब्द भी ग्रहण किए हैं और अपनी प्रकृति के अनुसार उनके अंतिम 'अ' का लोप कर उन्हें व्यंजनांत बना दिया है। वास्तव में 'जलज्' एवं 'मर्मज्ञ्' जैसे शब्दों में 'ज्' एवं 'ज्ञ्' ही प्रत्यय मानने चाहिए।

नीचे कुछ मुख्य तत्सम एवं तद्भव प्रत्यय दिए जा रहे हैं।

तत्सम प्रत्यय

आ = स्त्री प्रत्यय। यथा—माननीया, सुता, आदरणीया।

जीवी = जीनेवाला। यथा—बुद्धिजीवी, श्रमजीवी, परजीवी।

ता = संज्ञा-निर्माणक। यथा—कविता, कोमलता, ममता।

वर्ती = वाला। यथा—परवर्ती, पूर्ववर्ती, अनुवर्ती।

वान् = वाला। यथा—गुणवान्, धैर्यवान्, भाग्यवान्।

शाली = वाला। यथा—शक्तिशाली, बलशाली, भाग्यशाली।

तद्भव प्रत्यय

आनी (सं. आनुक् + ङीप् > हिं. आन् + ई) = स्त्री प्रत्यय।
यथा—गुरुआनी, मातुलानी।

इक् (सं. इक > हिं. इक्) = विशेषण निर्माणक।
यथा—वैदिक्, सामाजिक।

इन् (सं. आनी > हिं. इन्) = स्त्री प्रत्यय।
यथा—सुनारिन, नागिन।

इमा (सं. इम + आ > हिं. इम् + आ) = संज्ञा-निर्माणक।
यथा—महिमा, गरिमा।

ई (कुछ इसे तत्सम मानते हैं तथा कुछ इसका विकास सं. इक, इका से मानते हैं)।

(१) स्त्री प्रत्यय। यथा—बेटी, अपनी।
(२) विशेषण-निर्माणक। यथा—आसमानी, रेशमी।
(३) कर्तृवाचक। यथा—माली, तेली।

ईय् (सं. ईय > हिं. ईय्) = विशेषण निर्माणक।
यथा—स्वर्गीय्, भारतीय्।

कार् (सं. कार > हिं. कार्) = कर्तृवाचक।
यथा—साहित्यकार्, कलाकार्।

तम् (सं. तम > हिं. तम्) = उत्तमतावाची।
यथा—श्रेष्ठतम्, उच्चतम्।

तर् (सं. तर > हिं. तर्) = तुलनावाची।
यथा—उच्चतर्, निम्नतर्।

निर्मित प्रत्यय

निर्मित प्रत्यय वे हैं जिनकी उत्पत्ति के संबंध में निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। यथा—'अक्कड़' (भुलक्कड़, घुमक्कड़), 'आका' 'आक (पटाका, खटाक)।

कुछ दूसरे निर्मित प्रत्यय वे हैं जो परिभाषिक शब्दों के निर्माण हेतु बन रहे हैं। वास्तव में यह संस्कृत प्रत्ययों का पुनर्प्रचलन है। यथा—'अन्' (मंच + अन् = मंचन अर्थात मंच पर प्रस्तुत करना), 'वाह' (कार्य + वाह = कार्यवाह)।

विदेशी प्रत्यय

विदेशी प्रत्ययों के रूप में प्रायः विद्वान फारसी 'दार' (चौकीदार, सूबेदार), 'नाक' (खौफनाक, दर्दनाक), 'बान' (मेहरबान, दरबान), 'वर' (ताकतवर), 'मंद' (अक्लमंद, दौलतमंद) आदि तथा अंग्रेजी के 'इज़्म' (गांधीइज़्म), 'इस्ट' (सोशलिस्ट) आदि का उल्लेख करते हैं।

विदेशी प्रत्ययों के संबंध में भी वही कहना है जो विदेशी उपसर्गों के संबंध में कहा गया है; अर्थात हिंदी ने उन विदेशी शब्दों को संबंधित प्रत्ययों के साथ ग्रहण किया है। हिंदी ने इन प्रत्ययों को स्वतंत्र रूप से ग्रहण नहीं किया है। इसका स्पष्ट प्रमाण मह है कि उपर्युक्त तथाकथित विदेशी प्रत्ययों का प्रयोग हिंदी के अपने परंपरागत शब्दों के साथ प्रायः नहीं होता।

७.४ हिंदी में शब्द-रूपांतर (विकार) :

'शब्द-रूपांतर' का अर्थ है शब्द के रूप में होनेवाला अंतर अथवा विकार।

विकार की दृष्टि से हिंदी शब्द दो प्रकार के हैं—विकारी तथा अविकारी। हिंदी में संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण एवं क्रिया विकारी शब्द हैं तथा क्रिया विशेषण संबंधबोधक, समुच्चयबोधक तथा विस्मयादिबोधक अविकारी। अविकारी शब्दों को अव्यय भी कहा जाता है। यों ऐसे कुछ क्रियाविशेषण शब्द हैं जिनके रूप में परिवर्तन होता है। उदाहरणार्थ, 'लड़का भागता आया।', 'लड़की भागती आई।' इन वाक्यों में 'भागता' एवं 'भागती' क्रिया विशेषण हैं जो संबंधित संज्ञा 'लड़का' एवं 'लड़की' के आधार पर रूपांतरित हुए हैं।

विकारी शब्दों में से संज्ञा, सर्वनाम एवं विशेषण का रूपांतर लिंग, वचन एवं कारक के आधार पर तथा क्रिया का रूपांतर लिंग, वचन, पुरुष एवं काल के आधार पर होता है।

७.५ संज्ञा का रूपांतर एवं विकास :

संस्कृत में संज्ञा शब्द स्वरांत एवं व्यंजनांत थे। मध्यकालीन प्राकृत-अपभ्रंश भाषा में अंतिम व्यंजन के लोप होने के कारण संज्ञा शब्द मुख्य रूप से स्वरांत रह गए। हिंदी तक पहुंचते-पहुंचते इस स्थिति में फिर परिवर्तन हुआ। शब्दों के अंतिम ह्रस्व स्वर अ, इ, उ कमजोर पड़कर लुप्त हो गए हैं। उदाहरणार्थ 'कर्म', शब्द संस्कृत में व्यंजनांत था। प्राकृत में इसका रूप अकारांत 'कम्म' हो गया और हिंदी में वह व्यंजनांत 'काम्' बन गया है। आज हिंदी में प्रायः सभी स्वरों एवं सभी व्यंजनों (ङ, ञ, ड़, ढ़ को छोड़कर) में पूरे होनेवाले संज्ञा शब्द मिलते हैं।

७.५.१ लिंग :

शब्द की जाति को उसका लिंग कहते हैं। लिंग एक तो प्राकृतिक होता है, दूसरा व्याकरणिक। प्राकृतिक लिंग-विधान के अनुसार जितने भी नर हैं वे सभी पुल्लिंग हैं तथा सभी मादाएं स्त्रीलिंग हैं। निर्जीव पदार्थों का कोइ लिंग नहीं है। व्याकरणिक लिंग-विधान प्रत्येक भाषा का अपना होता है।

संस्कृत में तीन लिंग थे—पुल्लिंग, स्त्रीलिंग एवं नपुंसकलिंग। प्राकृत-अपभ्रंश में भी तीनों लिंगों का प्रयोग होता रहा किंतु नपुंसकलिंग के ह्रास के

लक्षण दिखाई पड़ने लगे थे। हिंदी में दो ही लिंग रह गए हैं—पुल्लिग एवं स्त्रीलिंग।

हिंदी का लिंग-विधान बहुत जटिल है। उसका मुख्य कारण यह है कि हिंदी का लिंग–विधान मुख्य रूप से व्याकरणिक है। फिर नपुंसकलिंग के अभाव के कारण निर्जीव पदार्थों का लिंग-निर्धारण करना और भी कठिन हो गया है। इसी से 'समाज', 'रूमाल', 'क्लास' आदि जैसे शब्द दोनों लिंगों में प्रयुक्त होते दिखाई पड़ते हैं।

हिंदी में सामान्य रूप से पुल्लिग से स्त्रीलिंग बनाने की परंपरा है। मुख्य स्त्री-प्रत्यय निम्नलिखित हैं।

१. ई (सं. इका > म. भा. आ. इआ > हिं. ई) यथा—घोड़ी।
(सं. ई > म. भा. आ. ई > हिं. ई) यथा—नदी, गोपी।

२. इआ, इया (सं. इका > म. भा. आ. इआ > हिं. इआ) यथा—चिड़िया, गुड़िया।

३. आनी (सं. आनी या आणी > म. भा. आ. आणी > हिं. आनी) यथा—देवरानी, मुगलानी।

४. इन्, न् (सं. आनी, आणी > म. भा. आ. आणी > णी > इण – हिं. इन्) यथा—पुजारिन्, मालिन्।

५. नी (सं. नी, णी > म. भा. आ. णी > हिं. नी) यथा—शेरनी, मोरनी।

हिंदी का मुख्य पुल्लिग प्रत्यय 'आ' है (यथा- घोड़ा, लड़का)। इस 'आ' का विकास विभिन्न स्रोतों से हुआ है।

१. सं. 'अक' से (घोटक > म. भा. आ. > घोड़अ > हिं घोड़ा)।

२. सं. 'अन्' से (ब्रह्मन् > ब्रह्मा)।

३. सं. 'तृ' से (पितृ > पिता, नेतृ > नेता)।

हिंदी में कुछ शब्द ऐसे भी हैं जिनका लिंग प्रत्यय के द्वारा अभिव्यक्त नहीं होता। लिंग की अभिव्यक्ति के लिए नर अथवा मादा शब्द का प्रयोग करना पड़ता है, जैसे—नर भेड़िया—मादा भेड़िया, नर चींटी—मादा चींटी।

कुछ शब्दों के लिंग पूर्णरूप से असंबद्ध हैं। यथा—माता-पिता, भाई-बहन।

अरबी-फारसी के प्रभाव से कभी-कभी इन भाषाओं के शब्दों के अंतिम 'ह' को 'आ' में परिवर्तित कर स्त्रीलिंग बनाया जाता है, जैसे—मलिकः > मलिका (यह 'मलिक' का स्त्रीलिंग है), खान > खाना ('खान' का स्त्रीलिंग)।

७.५.२ वचन :

शब्द की संख्या को वचन कहते हैं। सामान्य रूप से भाषाओं में दो ही वचन होते हैं—एकवचन (एक के लिए) तथा बहुवचन (एक से अधिक के लिए) कुछ भाषाओं में तीन, चार वचन भी होते हैं।

संस्कृत में तीन वचन थे—एकवचन, द्विवचन, एवं बहुवचन। प्राकृत—अपभ्रंश में द्विवचन के बहुत कम उदाहरण मिलते हैं। हिंदी में केवल दो ही वचन रह गए हैं—एकवचन एवं बहुवचन। आधुनिक हिंदी में तो दो के स्थान पर एक सामान्य वचन की प्रवृत्ति बढ़ रही है। जैसे—अपने लिए 'मैं' के स्थान पर प्रायः 'हम' का प्रयोग तथा 'वह' 'वे' के स्थान पर 'वो' का प्रयोग होने लगा है। बहुवचन दर्शाने के लिए प्रायः 'लोग' अथवा 'गण' शब्द जोड़ा जाने लगा है। जैसे— 'हम लोग', 'आप लोग', 'नेतागण' आदि। हिंदी में एक ही प्रत्यय से वचन एवं कारक का प्रकटीकरण होता है। अतः वचन के प्रत्ययों एवं उनके विकास का विवेचन कारकों के परिच्छेद में किया जा रहा है।

७.५.३ कारक एवं विकारक :

कारक का अर्थ है क्रिया से संबंध दर्शानेवाला। कारक को लेकर हिंदी के विद्वानों में बड़ा मतभेद है। परंपरावदी विद्वान संस्कृत के समान हिंदी में भी आठ कारक मानते हैं। आधुनिक भाषावैज्ञानिक हिंदी में मात्र दो (या तीन) ही कारक मानते हैं। वास्तव में इस विवाद का मुख्य कारण है कारक को अंग्रेजी 'केस' (Case) का समानार्थी मानना। गहराई से देखा जाय तो हिंदी में आज कारक अर्थ-द्योतक है जबकि 'केस' रूप-द्योतक होता है। उदाहरणार्थ 'शेर दहाड़ता है' और 'मोहन ने शेर देखा' दो वाक्य हैं। पहले वाक्य में 'शेर', 'दहाड़ना' क्रिया का करनेवाला है, अतः वह कर्त्ताकारक में है। दूसरे वाक्य में देखना क्रिया का करनेवाला 'मोहन' है। 'देखना' क्रिया का प्रभाव 'शेर' पर पड़ता है अतः यहां 'शेर' कर्म का अर्थ देता है और इसलिए कर्म-कारक में है। यदि रूप की दृष्टि से देखा जाय तो दोनों वाक्यों में 'शेर' के रूप में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। अतः 'केस' की दृष्टि से दोनों वाक्यों में उसका 'केस' समान है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि हिंदी के संदर्भ में कारक को 'केस' का समानार्थी न समझा जाय। उचित यही होगा कि 'केस' के लिए

किसी अन्य शब्द का प्रयोग किया जाय। 'केस' के लिए 'विकारक' (शब्द के रूप में विकार उत्पन्न करने वाला) शब्द का प्रयोग सार्थक हो सकता है।

संस्कृत में कारकों की संख्या आठ मानी गई है (कर्त्ता, कर्म; करण, संप्रदान, अपादान, संबंध, अधिकरण, संबोधन)। वास्तक में संबंध एवं संबोधन को कारक मानने का कोई अर्थ नहीं है क्योंकि इनका क्रिया से कोई संबंध नहीं रहता। अर्थ की दृष्टि से देखा जाय तो कारकों की वही संख्या मध्यकालीन प्राकृत-अपभ्रंश तथा आज की हिंदी में हैं। हां, विकारक (केस) की दृष्टि से इनकी संख्या घटकर दो अथवा तीन रह गयी है। इस प्रकार क्रिया के संदर्भ में शब्द के अर्थ को इंगित करनेवाला हुआ कारक, तथा शब्द के रूप में हुए विकार को सूचित करने वाला हुआ विकारक।

विभक्ति एवं परसर्ग

कारकों को इंगित करनेवाले चिह्नों को विभक्ति कहा जाता है। संस्कृत में कुछ अपवादों को छोड़कर प्रत्येक कारक की अलग विभक्ति थी। संस्कृत श्लिष्ट भाषा थी अतः विभक्ति शब्द का अंग बनी रहती थी तथा उसमें विकार उत्पन्न करती थी। संस्कृत के आधार पर आठ कारक माननेवाले इसीसे हिंदी में ने, को, से, आदि चिह्नों को विभक्तियां कहते हैं। आधुनिक हिंदी की प्रकृति भिन्न है। उसमें ने, को, आदि चिह्न शब्द का अंग नहीं बनते। फिर इन चिह्नों से शब्द के विभिन्न रूपों का पता भी नहीं चलता। उदाहरणार्थ एक ही रूप घोड़े—के पीछे ने, को, से, आदि तथाकथित विभक्तियां जोड़ी जा सकती हैं। असल में ये चिह्न हिंदी में अर्थसूचक रह गये हैं, इसीसे इन्हें परसर्ग कहना ही उचित है। विभक्ति उन चिह्नों को कहा जाय जो विकारक (केस) को इंगित करते हैं। इस प्रकार हिंदी में कारक-चिह्नों को परसर्ग एवं विकारक-चिह्नों को विभक्ति कहा जाय।

हिंदी शब्दों के मुख्य दो विकारक (केस) हैं। एक तो सामान्य विकारक दूसरा तिर्यक विकारक। सामान्य विकारक में शब्द का रूप अपरिवर्तित रहता है, इसीसे इसको निर्विभक्तिक भी कहा जा सकता है। तिर्यक विकारक में शब्द का रूप बदल जाता है तथा उसके पीछे कारकीय अर्थो को अभिव्यक्त करनेवाले विभिन्न परसर्गों का प्रयोग हो सकता है। तीसरा विकारक, संबोधन है, जो कुछ ही शब्दों में भिन्न हैं; नहीं तो उसका रूप तिर्यक के समान रहता है।

नीचे विभिन्न विकारकों एवं उनके विभक्ति चिह्नों का उल्लेख किया जा रहा है।

पुल्लिग—आकारांत तद्भव शब्द (घोड़ा, लड़का आदि)

	एकवचन	बहुबचन
सामान्य	घोड़ा + ϕ = घोड़ा	घोड़् + ए = घोड़े
तिर्यक	घोड़् + ए = घोड़े	घोड़् + ओं = घोड़ों
संबोधन	घोड़् + ए = घोड़े	घोड़् + ओ = घोड़ो

पुल्लिग अन्य शब्द (चोर, साधु, धोबी आदि)

	एकवचन	बहुवचत
सामान्य	चोर् + ϕ = चोर्	चोर् + ϕ = चोर
तिर्यक	चोर् + ϕ = चोर्	चोर् + ओं = चोरों
संबोधन	चोर् + ϕ = चोर्	चोर् + ओ = चोरो

स्त्रीलिंग इकारांत, ईकारांत, इयांत (जाति, लड़की, बुढ़िया)

	एकवचन	बहुवचन
सामान्य	जाति + ϕ = जाति	जाति + (य) आं = जातियां
तिर्यक	जाति + ϕ = जाति	जाति + (य) ओं = जातियों
संबोधन	जाति + ϕ = जाति	जाति + (य) ओ = जातियो

ईकारांत शब्द (लड़की आदि) बहुवचन की विभक्ति के पूर्व इकारांत बन जाएंगे (लड़की > लड़कि—) । (य) श्रुति है, जो स्वरों के संयोग से उत्पन्न हुई है। बहुवचन की विभक्तियां य—से आरंभ होती हैं, अतः विभक्ति जुड़ने से पूर्व इयांत शब्दों का अंतिम—या लुप्त हो जाता है (बुढ़िया > बुढ़ि + यां = बुढ़ियां) । ϕ चिह्न इस बात का सूचक है कि वहां कोई विभक्ति नहीं है।

अन्य स्त्रीलिंग (बेंच, पुस्तक, लता आदि)

	एकवचन	बहुवचन
सामान्य	बेंच् + ϕ = बेंच्	बेंच् + एं = बेंचें
तिर्यक	बेंच् + ϕ = बेंच्	बेंच् + ओं = बेंचों
संबोधन	बेंच् + ϕबेंच्	बेंच् + ओ = बेंचो

७.५.४ विकारक विभक्तियों का विकास :

शून्य विभक्ति–ϕ

शून्य विभक्ति या विभक्ति-रहित रूपों का विकास संस्कृत की प्रथमा एकवचन विभक्ति से हुआ है। संस्कृत की प्रथमा एकवचन विभक्ति स् (:),

प्राकृत में 'ओ,' अपभ्रंश में 'उ' होकर हिंदी में लुप्त हो गई। यथा—संस्कृत रामः > प्राकृत रामो > अपभ्रंश 'रामु' > पुरानी हिंदी रामु > साधु हिंदी राम्।

सामान्य वहुवचन विभक्ति—ए (घोड़ा—घोड़े)

इसकी व्युत्पत्ति के संबंध में विवाद है। चटर्जी के विचार से इसका विकास सं० तृतीया वहुवचन एभिः से हुआ है (सं० एभिः > म. भा. आ. अहि > अइ > हिंदी ए)। कुछ विद्वान इसकी व्युत्पत्ति संदिग्ध मानते हैं। केलाग इसे मूल रूप से तिर्यक एकवचन—ए ही मानते हैं, जिसका प्रयोग बहुवचन में भी होने लगा। कुछ विद्वान इसके विकास की संभावना सं० की पंचमी—एभ्यः, सप्तमी–एषु तथा प्रथमा बहुवचन— आः से मानते हैं। इसके विकास की संभावना सं० सर्वनाम के प्रथमा बहुवचन—सर्वे में प्रयुक्त—ए से भी हो सकती है।

तिर्यक एकवचन विभक्ति—ए (घोड़् + ए = घोड़े को, से आदि)

बहुत विद्वानों (केलाग, उदयनारायण तिवारी आदि) के विचार से इस विभक्ति का विकास सं० षष्ठी एकवचन '–स्य' तथा अधिकरण के '–स्मिन्' से हुआ है। म. भा. आ. में इसका रूप '–ह,–हिं,–हि' था, जो–'अइ' में विकसित हो गया, जिससे आधुनिक हिंदी—'ए' का विकास हुआ है। यों इसके विकास की अन्य भी कई संभावनाएं हैं।

सामान्य बहुवचन- आं, एं (जाति (य) + आं = जातियां, बेंच् + एं = बेंचें)

इन विभक्तियों का विकास सं० नपुंसक वहुवचन '—आनि' से हुआ है। सं०—आनि > म. भा. आ. आं > आंइ > हि. आं, एं।

तिर्यक वहुवचन—ओं (घोड़् + ओं = घोड़ों, जाति (य) + ओं = जातियों)

इसका विकास सं० षष्ठी बहुवचन—'आनाम' से माना जाता है। सं० आनाम > म. भा. आ. आणं > आण > अन (श्रुति के कारण) > वन > औं, ओं।

संबोधन बहुवचन—ओ

सामान्य रूप से तिर्यक बहुवचन—'ओं' से भिन्न इसका विवेचन नहीं होता। भोलानाथ तिवारी के विचारानुसार सं० संबोधन शून्य 'हे' (हे बालक), प्राकृत एकवचन—'ओ' (हे देवो), अपभ्रंश एकवचन— 'ओ' (वीरो) के प्रभाव से हिंदी—'ओ' का विकास हुआ है।

७.५.५ हिंदी के परसर्ग :

यह पहले ही बताया जा चुका है कि विभक्तियां विकारकों को इंगित करती हैं तथा परसर्ग कारकों को। हिंदी में निम्नलिखित कारकीय परसर्ग हैं :

ने—यह कर्ताकारक का परसर्ग है। जिसका प्रयोग साधु हिंदी एवं पश्चिमी हिंदी की बोलियों में होता है। 'ने' का प्रयोग कर्ता के साथ, सकर्मक क्रिया के भूतकालिक रूपों में होता है (यथा—राम ने खाया। श्याम ने कहा।)। 'ने' के विकास के संबंध में विभिन्न मत हैं। ट्रंप एवं कई अन्य विद्वानों ने इसका संबंध सं. तृतीया '–एन' से जोड़ा है (सं. एन > म. भा. आ. एण > एन (वर्ण विपर्यक से) > हिं. ने)। केलाग इसका विकास सं. लग्य से मानते हैं (सं. लग्य > म. भा. आ. लग्गिओ > लागि > लाइ > लै > हिं. नै, ने)। चटर्जी इसका संबंध सं. 'कर्ण' से जोड़ते हैं (सं. कर्ण > म. भा. आ. कन्न > कन्नहि > हिं. ने)।

वास्तव में उपर्युक्त समस्त मत जितने कल्पना पर आधारित हैं, उतने पुष्ट प्रमाणों एवं तर्क पर नहीं।

को—इस परसर्ग का प्रयोग मुख्य रूप से कर्म कारक (मैंने शेर को मारा) तथा संप्रदान कारक (भिखारी रोटी को तरसता था) में होता है। कभी-कभी इसका प्रयोग कर्ता (राम को पढ़ना है) तथा अन्य करकों में भी होता है। व्रज में इसका रूप 'कौ' तथा अवधी में 'क' है।

बीम्स, हार्नले तथा अन्य कई विद्वान इसका विकास सं. कक्ष (= बगल, निकट) से मानते हैं।

सं. कक्ष > कक्खं > कांख > काहं > कहुं > हिं. कौं > को > क।

इस मत से अधिक पुष्ट मत ट्रंप का है, जो इसका विकास सं. कृतं से मानते हैं। सं. कृतं > म. भा. आ. कितो > किओ > हिं. को।

के लिए—इस परसर्ग का प्रयोग संप्रदान कारक हेतु होता है। इसका विकास संस्कृत के दो शब्दों से माना जाता है 'के' का विकास 'कृते' (सं. कृते > कए > के) से तथा 'लिए' का विकास संस्कृत 'लग्ने' से (सं. लग्ने > लग्गे > लिए)।

से - इस परसर्ग का मुख्य रूप से प्रयोग करण (तीर से मारा) तथा अपादान (गांव से बाहर) के लिए होता है। इसके सिवाय कर्ता के साथ (राम से पढ़ा नहीं जाता) तथा कर्म के साथ (मोहन को राम से कुछ कहना है) भी इसका प्रयोग होता है। व्रज में इसका रूप सैं, सों, सो आदि है तथा अवधी में इसका रूप 'सन' है।

इसके विकास के संबंध में भी कई मत हैं। हार्नले इसका विकास सं. 'अस' धातु से मानते हैं, जो म. भा. आ. के संतो > सुंतो हुआ। बीम्स इसका संबंध सं. समं से जोड़ते हैं (सं. समं > सों > से।) अन्य विद्वान इसे सं. के सम–एन तथा सं. अधिकरण एकवचन-संगे से जोड़ते हैं।

का, के, की—इन्हें संबंध कारक के परसर्ग माना जाता है। वास्तव में संबंध को कारक मानने का कोई औचित्य नहीं है क्योंकि यह क्रिया से संबद्ध नहीं होता।

'का' से ही 'के', 'की, के रूप विकसित हुए हैं। ब्रज में इसके रूप कौ, कों आदि हैं तथा अवधी में इसका रूप है 'केर', 'केइ' आदि। इसके विकास के संबंध में मुख्य दो मत हैं। वेबर, पिशेल आदि विद्वान इसका विकास सं. 'कार्यम्' से मानते हैं। सं. कार्यं > म. भा. आ. कार > हिं. का)। हार्नले एवं बीम्स इसका संबंध सं. 'कृत' से जोड़ते हैं (सं. कृतः > करिता > करिओ > केरो > केरा > हिं. का)। केलाग भी इसका विकास कृतः से मानते हैं किंतु वे कृतः > किदः > कदः > कअ > का की व्युत्पत्ति भी संभव मानते हैं।

में, पर – ये अधिकरण कारक के परसर्ग हैं। ब्रज में 'में' के रूप मैं, मंह, मांहि हैं तथा अवधी में इसके रूप हैं मंह, मां आदि। 'में' का विकास प्रायः सं. मध्ये से माना जाता है (सं. मध्ये > म. भा. आ. मज्झे, मांझि > हिं. मांहि, में)।

'पर' को. हार्नले तथा अन्य कई विद्वान सं. परे से विकसित मानते हैं (सं. परे > म. भा. आ. परि > हिं. पर) किंतु केलाग एवं कुछ अन्य विद्वान इसे सं उपरि से जोड़ते (सं. उपरि > म. भा. आ. > परि > पइ > हिं. पै, पे > पर)। यह मत अधिक तर्कपूर्ण है क्योंकि पै, पइ, परि आदि रूप हिंदी की विभिन्न बोलियों में प्रचलित हैं।

संबोधन--संबंध के समान ही संबोधन को भी कारक मानना उचित नहीं है क्योंकि उसका क्रिया से कोई संबंध प्रदर्शित नहीं होता। संबोधन का कोई परसर्ग नहीं होता। संबोधन की अभिव्यक्ति शब्द के पूर्व सर्ग जोड़कर की जात है (जैसे—हे ! राम)।

परसर्गों के समान प्रयुक्त होनेवाले अन्य शब्द

यहां यह बताना आवश्यक है कि आज जो परसर्ग हैं, वे कभी पूरे शब्द थे जो घिसकर परसर्ग बन गए हैं। आज भी ऐसे कई शब्द हैं जो परसर्गों के ही समान कारकों का अर्थ अभिव्यक्त करते हैं। इनमें से कुछ मुख्य शब्द है – भीतर, आगे, पीछे, उपर, नीचे, पास, बाहर, मध्य, ओर, साथ आदि।

७.६ सर्वनाम का रूपांतर एवं विकास :

रूपांतर की दृष्टि से सर्वनाम एवं संज्ञा में बहुत-सी बातें समान हैं। दोनों में मुख्य अंतर यह है कि संज्ञा में लिंग का निर्देश रहता है किंतु सर्वनाम में लिंग का

निर्देश नहीं रहता। अतः सर्वनामका रूपांतर दो वचनों एवं तीन विकारकों में होता है।

७.६.१ सर्वनाम के भेद :

सामान्य रूप से हिंदी में सात प्रकार के सर्वनाम गिनाये जाते हैं (पुरुष वाचक, निश्चयवाचक, अनिश्चयवाचक, प्रश्नवाचक, संबंधवाचक, नित्यसंबंध-वाचक, निजवाचक)। इनमें से पुरुषवाचक के तीन भेद किए जाते हैं। उत्तम पुरुष (बोलनेवाले के लिए—मैं, हम), मध्यम पुरुष (सुननेवाले के लिए—तू, तुम, आप), अन्य पुरुष (और किसी के लिए—वह, वे, यह ये)। वास्तव में पुरुष वाचक सर्वनाम ही मुख्य है। निजवाचक (स्वयं, आप, खुद) का प्रयोग अन्य सर्वनामों के समान संज्ञा के स्थान पर नहीं होता है। निजवाचक का प्रयोग प्रायः संज्ञा अथवा अन्य सर्वनाम के साथ बल के लिए होता है (मैं आप जाऊंगा, राम स्वयं कहेगा)। अन्य सर्वनाम रूपात्मक दृष्टि से परस्पर भिन्नता रखते हैं किंतु वाक्यात्मक संरचना की दृष्टि से अन्य पुरुष के समान ही व्यवहार करते हैं। नीचे एक ही वाक्य में विभिन्न सर्वनामों का वैकल्पिक प्रयोग (/ चिह्न द्वारा) दिखाया गया है। 'वह/ यह/ कोई/ कौन/ जो/ सो/....करता है।'

रचनागत दृष्टि से अन्य पुरुष (यह, वह) एवं निश्चयवाचक (यह, वह में) में कोई अंतर नहीं है, अतः इसे केवल निश्चयवाचक ही मानना चाहिए।

सर्वनामों के मुख्य तीन विकारक हैं। सामान्य विकारक (निर्विभक्तिक रूप। यथा—मैं, हम), तिर्यक विकारक (जिसके पीछे परसर्ग का प्रयोग हो सकता है। यथा—मुझ), संबंध विकारक (जो परवर्ती संज्ञा से संबंध इंगित करता है। यथा—मेरा)। सर्वनाम का एक विशेष विकारकीय रूप भी होता है, जो तिर्यक रूप में '—ए' परसर्ग जोड़कर बनता है (यथा—मुझ + ए = मुझे)। कुछ विद्वान इसे अलग विकारकीय रूप मानते हैं। वास्तव में इसे तिर्यक का ही रूप मानना चाहिए। तिर्यक रूप 'मुझ' के पश्चात जैसे को, से आदि परसर्ग लगते हैं, वैसे ही—ए का प्रयोग भी होता है। यों भी —ए रचना की दृष्टि से 'को' का वैकल्पिक परसर्ग हैं। यथा—'मुझको पता नहीं' या 'मुझे पता नहीं'। विकास की दृष्टि से अवश्य दोनों का इतिहास अलग-अलग है।

नीचे हिंदी के विभिन्न सर्वनामों तथा उनके विकारकीय रूपों का निर्देश किया जा रहा है।

(१) पुरुषवाचक

उत्तमपुरुष	एकवचन	बहुवचन
सामान्य	मैं	हम
तिर्यक	मुझ (मुझे)	हम (हमें)
संबंध	मेर्–(आ, इ, ए)	हमार्–(आ, ई, ए)
मध्यमपुरुष		
सामान्य	तू	तुम
तिर्यक	तुझ (तुझे)	तुम (तुम्हें)
संबंध	तेर्–(आ, ई, ए)	तुम्हार्–(आ, ई, ए)

(२) निश्चयवाचक

निकटवर्ती		
सामान्य	यह	ये
तिर्यक	इस (इसे)	इन (इन्हें)
दूरवर्ती		
सामान्य	वह	वे
तिर्यक	उस (उसे)	उन (उन्हें)

(३) अनिश्चयवाचक

सामान्य	कोई, कुछ	कोई
तिर्यक	किस (किसे)	किन (किन्हें)

(४) प्रश्नवाचक

सामान्य	कौन, क्या	कौन
तिर्यक	किस (किसे)	किन (किन्हें)

(५) संबंधवाचक

सामान्य	जो	जो
तिर्यक	जिस (जिसे)	जिन (जिन्हें)

(६) नित्यसंबंधवाचक

सामान्य	सो	सो
तिर्यक	तिस (तिसे)	तिन (तिन्हें)

(७) निजवाचक

स्वयं, खुद (फ़ारसी), आप (अपना, आपस) निजवाचक सर्वनाम हैं। इनका प्रयोग प्रायः अन्य संज्ञा एवं सर्वनाम शब्दों के साथ बल देने के लिए

होता है। अपनी, अपने, अपनों ये समस्त रूप 'अपना' से निष्पन्न हैं।

आदरसूचक 'आप'

'आप' शब्द का प्रयोग आदरसूचक सर्वनाम के रूप में होता है। इससे संबद्ध क्रियारूप बहुवचन में रहता है। इसका अधिक प्रयोग मध्यमपुरुष के लिए होता है (यथा—आप क्या करते हैं?) किंतु अन्यपुरुष में भी इसका प्रयोग मिलता है (यथा—प्रेमचंद हिंदी के यशस्वी उपन्यासकार हैं। विश्व-उपन्यास-साहित्य में आपका विशेष स्थान है)।

७.६.२ सर्वनामों का विकास :

मैं—कुछ विद्वान इसकी व्युत्पत्ति सं. अहं से मानते हैं (सं. अहम्>प्रा. अम्ह>हिं. मैं) किंतु—डॉ० चटर्जी, केलाग, बीम्स आदि इसका विकास सं. मया से मानते हैं जो अधिक उपयुक्त है (सं. मया>प्रा. मइ>मइं>हिं. मैं)। डॉ० चटर्जी के मतानुसार 'मैं' का अनुस्वार सं. तृतीयं—एन के फल-स्वरूप है, जिससे अधिक विद्वान सहमत नहीं हैं।

मुझ—'मुझ' का विकास बहुमत से सं. मह्यम् से माना जाता है (सं. मह्यम्>प्रा. मज्झं>अप. मज्झ हिं. मुझ्)। प्रश्न उठता है कि हिंदी मुझ में 'उ' क्यों है। इसका समाधान भी उचित रूप से, यह कहकर किया गया है कि 'तुभ्यम्' से विकसित 'तुझ' के सादृश्य के कारण ही यह 'मझ' के स्थान पर 'मुझ' में विकसित हुआ है।

'मुझे' 'मुझ' का ही तिर्यक रूप है, जैसा कि संज्ञा का तिर्यक रूप एकवचन में होता है (यथा लड़का-लड़के)।

मेर्—(आ, ई, ए)—इसका विकास प्राकृत 'ममकेर' से माना गया है (सं. मम>प्रा. मम+केर>ममेर>हिं. मेर्–)। मेरे इसका तिर्यक रूप है, जैसे 'लड़का' का 'लड़के'।—आ, तथा ई (मेरा, मेरी) पुल्लिग तथा स्त्रीलिंग द्योतक प्रत्यय हैं।

हम—इसका संबंध सीधे संस्कृत से न होकर वैदिक संस्कृत से है। वैदिक संस्कृत 'अस्मे' से इसका विकास माना गया है (अस्मे>प्रा. अम्हे>अम्ह> हम्ह>हम)।

'हमें' 'हम' का तिर्यक रूप है तथा अनुनासिकता 'म' के प्रभाव स्वरूप है। कुछ विद्वान इसका विकास प्रा. अम्हइ से मानते हैं।

हमार्-(-आ, ई, ए)—इसका विकास अस्मकर से माना जाता है। कुछ विद्वान इसका विकास अम्ह करको से भी मानते हैं (अम्हकरको > अम्ह अरओ > अम्हारो > हमारो > हमारा)।

हमारे. इसका तिर्यक रूप है तथा हमारा, हमारी, पुल्लिग तथा स्त्रीलिंग को इंगित करते हैं।

तू — हार्नले, डॉ॰ चटर्जी आदि इसकी व्युत्पत्ति 'त्वम्' से मानते हैं (सं. त्वम् > प्रा. तुवं > अप. तुहुं > तूं > हि. तू)। कुछ विद्वान इसका संबंध 'त्वया' से भी जोड़ते हैं।

तुझ—बहुत विद्वान इसे तुभ्यं से व्युत्पन्न मानते हैं (सं. तुभ्यम् > तुज्झ > तुझ)। कुछ इसे कल्पित रूप तुह्यं से भी जोड़ते हैं।

तुझे इसका तिर्यक रूप है।

तेर्—(आ, ई, ए)—इसकी व्युत्पत्ति तव + केर से मानी गई है। तेरे इसका तिर्यक रूप है तथा तेरा, तेरी पुल्लिग स्त्रीलिंग बोधक हैं।

तुम – कुछ विद्वान इसकी व्युत्पत्ति त्वम् से तथा कुछ युष्मे से मानते हैं (युष्मे > प्रा. तुम्हें > तुम्ह > तुम)।

तुम्हें—तुम का तिर्यक रूप ही तुम्हें है। कुछ विद्वान इसे तुम्हइं तथा कुछ युष्मे से भी जोड़ते हैं। अनुनासिकता 'म' के महाप्राण 'म्ह' के कारण है।

तुम्हार्-(-आ, ई, ए)—मेर-के समान ही विद्वान इसका विकास तुम्ह करको से मानते हैं (तुम्ह करको > तुम्ह अरओ > तुम्हारो > तुम्हारो > तुम्हारा)। तुम्हारे, इसका तिर्यक रूप है।

यह—इसकी व्युत्पत्ति प्रायः निर्विवाद रूप से सं. एषः से मानी गई है (सं. एषः > प्रा. एसो > एहो > एहु > एह > यह)।

इस—बीम्स आदि इसका विकास 'अस्य' से मानते हैं (अस्य > अस्स > इस) तथा कुछ अन्य विद्वान इसका विकास 'एतस्य' से मानते हैं (सं. एतस्य > एतस्स प्रा. एअस्स > इस)। 'इस' का तिर्यक रूप है, इसे।

ये—प्रायः समस्त विद्वान इसे 'एते' से व्युत्पन्न मानते हैं (सं. एते > प्रा. एए > एये > एह > ये)।

इन—इसका विकास कल्पित रूप एताषाम् से माना गया है (एताषाम् > सं. एतेषाम् > एतानाम् > एआण > एण्ह > एन्ह > इन्ह > इन)। इन्हें—तिर्यक रूप है।

वह—अधिकतर विद्वान इसे 'असौ' के साथ जोड़ते हैं (सं. असौ > प्रा. असो > अहो > ओह > वह)। कुछ 'सः' से भी इसकी व्युत्पत्ति मानते हैं।

उस—बहुमत से इसका विकास सं. अमुष्य से माना गया है (अमुष्य > अमुस्स > प्रा. अउस्स > हिं. उस)। उसे, और तिर्यक रूपों की भांति ही तिर्यक रूप है।

वे—इसकी व्युत्पत्ति की संभावनाएं हैं—१. सं. एभिः > अहि > ए, वह + ए > वे, २. –'ए' का प्रयोग बहुवचन के लिए वैसे ही किया गया है जैसे अन्य बहुवचनों के लिए।

उन—इसकी व्युत्पत्ति विवादास्पद है। कुछ मतों में से एक है—सं. अमुष्याम् > अमूनाम् > अउण > उण्ह > उन। 'उन्हें', इसका तिर्यक रूप है।

कोई—एकमत से इसका विकास सं. 'कोऽपि' से माना गया है (कोऽपि > कोपि > कोवि > कोइ > कोई)।

किसी—इसका संबंध अधिकतर विद्वान सं. कस्यापि से मानते हैं (कस्यापि > प्रा. कस्सवि > कस्सइ > किसी)।

किन्हीं—इसकी व्युत्पत्ति सं. केषामपि से मानी गई है (केषामपि > कानामपि > प्रा. काणंपि > काणंवि > काणइ > किन्हीं)। इसकी व्युत्पत्ति कल्पित रूप किषानामपि से भी मानी गई है।

कौन—कुछ विद्वान इसका विकास सं. कः से मानते हैं किंतु बहुत विद्वान 'कः पुनः' से इसे जोड़ते हैं (कः पुनः > कोउण > कवण > कवन > कौन)।

किस—बहुमत से विद्वान इसकी व्युत्पत्ति सं. कस्य से मानते (कस्य > प्रा. किस्स > किस)।

किन—इसकी संभावित व्युत्पत्ति कल्पित कानां अथवा किषानाम् से मानी गई है। सं. केषाम् से भी इसका विकास संभव है (केषाम् > प्रा. काणं > काण > किण > किन)।

क्या—इसके विकास की संभावना निम्नलिखित प्रकारों से हो सकती है—
१. सं. किम् > काई > क्या. २. सं. कीदृशः > केद्दहो > केहो > किहा > किआ > क्या. ३. किस्यकः > किस्सको > प्रा. किस्सा > कीआ > क्या.

जो—निर्विवाद रूप से इसका विकास सं. यः (यः > यो > जो) से माना गया है।

जिस—इसका विकास निश्चित रूप से सं. यस्य से है (सं. यस्य > प्रा. जस्स > जिस्स > जिस)।

जिन—बीम्स, चटर्जी आदि इसका संबंध कल्पित रूप यानां (प्रा. जाणं > जिन) से जोड़ते हैं। सं. येषां से भी इसकी व्युत्पत्ति दिखाई जा सकती है (येषां > जाणं > जिन)। जिन्हें, इसका तिर्यक रूप है।

सो– -एकमत से इसका विकास सं. सः से माना जाता है (सं. सः>प्रा. सो>सो)।

तिस—बहुमत से इसका विकास जिस के समान ही सं. तस्य से माना गया है (तस्य>तस्स>तिस्स>तिस)।

तिन—इसका संबंध कल्पित रूप से जोड़ा जाता है। सं. तेषां से भी इसका विकास माना गया है (तेषां>तानां>प्रा. ताणां>ताणं>तिन)।

७.७ विशेषण का रूपांतर एवं विकास :

विशेषण एक ऐसा शब्द-रूप है जिसका संज्ञा से निकट का संपर्क है।

७.७.१ रचना की दृष्टि से विशेषण के प्रकार :

रचना की दृष्टि से हिंदी विशेषण दो प्रकार के हैं—(१) अविकारी (२) विकारी। अविकारी विशेषण अव्यय के बराबर हैं, अर्थात इनके रूप में लिंग, वचन, विकारक के कारण कोई परिवर्तन नहीं होता (यथा—गुणवान लड़का, गुणवान लड़के, गुणवान लड़की) विकारी विशेषण वे हैं जिनमें विशेष्य (संज्ञा) के अनुसार लिंग-वचन का परिवर्तन होता है (यथा—अच्छा लड़का, अच्छे लड़के, अच्छी लड़की)। आकारांत विशेषण विकारी हैं, बाकी सब विशेषण अविकारी हैं। विकारी विशेषण भी पूर्ण विकारी नहीं हैं। उदाहरणार्थ सामान्य बहुवचन 'लड़के' के साथ 'अच्छे' लगकर 'अच्छे लड़के' तो बनता है किंतु तिर्यक बहुवचन 'लड़कों' के साथ 'अच्छों' जोड़कर 'अच्छों लड़कों' नहीं बनाया जाता। उसके लिए भी 'अच्छे' का ही प्रयोग होता है (अच्छे लड़कों)।

यहां यह बताना आवश्यक है कि संस्कृत में विशेषण-विशेष्य (संज्ञा) के लिंग, वचन, कारक में पूर्ण संबंध रहता था। म. भा. आ. में यह प्रवृत्ति रही तो सही किंतु शिथिलता भी आरंभ हो गई थी। आधुनिक भाषाओं—हिंदी आदि में विशेषण की वह स्थिति है जिसका ऊपर उल्लेख किया गया है।

७.७.२ अर्थ की दृष्टि से विशेषण के भेद :

अर्थ की दृष्टि से हिंदी विशेषण चार प्रकार के माने जाते हैं।

(१) **गुणवाचक** (अच्छा, छोटा, लाल आदि)।

(२) **संख्यावाचक** (एक, दस, डेढ आदि)।

(३) **परिमाणवाचक** (थोड़ा-थोड़ा दूध, कितना-कितना पानी आदि)
(४) **सर्वनामक** (यह-यह काम, वह-वह लड़का आदि) ।

७.७.३ विशेषण की अवस्थाएं :

संस्कृत में विशेषण की तीन अवस्थाओं का प्रयोग होता था। सामान्य अवस्था (सुंदर), तुलनासूचक अवस्था (सुंदरतर) एवं उत्तमतासूचक अवस्था (सुंदरतम)। हिंदी में इन तीन अवस्थाओं का प्रायः प्रयोग नहीं होता। कुछ शब्दों में ही इनका प्रयोग दिखाई पड़ता है। फारसी के प्रभाव से, कुछ फारसी शब्दों में तुलना एवं उत्तमता की अवस्थाओं का प्रयोग होता है। यथा—बद, बदतर, बदतरीन।

७.७.४ विशेषणों का विकास :

विकास की दृष्टि से देखा जाय तो आकारांत विशेषणों की विभक्तियां –आ, –ए, –ई आकारांत संज्ञा शब्दों की –आ, -ए, –ई विभक्तियों से भिन्न नहीं हैं। अतः विशेषण की इन विभक्तियों की कोई अलग कहानी नहीं है। आकारांत के सिवाय अन्य विशेषणों का तो रूपांतर ही नहीं होता।

सर्वनामक विशेषण, रूपात्मक दृष्टि से सर्वनाम ही हैं। केवल वाक्य में उनका व्यवहार विशेषण के समान है। अतः उनका विकास सर्वनाम से भिन्न नहीं है।

परिमाणवाचक विशेषण एक प्रकार से संख्यावाचक विशेषण ही हैं। अंतर केवल इतना ही है कि परिमाणवाचक विशेषण राशि या समूहसूचक पदार्थों क इंगित करते हैं। उदाहरणार्थ 'कितने आदमी' में 'कितने' संख्यावाचख विशेषण है और 'कितना दूध' में 'कितना' परिमाणवाचक विशेषण है। इस प्रकार से देखा जाय तो संख्यावाचक विशेषणों का इतिहास ही उल्लेख्य है।

संख्यावाचक विशेषणों के भेद

रचना एवं अर्थ की दृष्टि से संख्यावाचक विशेषणों के निम्नलिखित भेद हो सकते हैं-—

(१) पूर्ण संख्यावाचक (एक, दो, आदि)।
(२) अपूर्ण संख्यावाचक (आधा, डेढ़ आदि)।
(३) क्रमवाचक (पहला, दूसरा आदि)।
(४) आवृत्तिवाचक (दुगुना, तिगुना आदि)।

(क) पूर्णसंख्यावाचक

रचना की दृष्टि से पूर्णसंख्यावाचक विशेषण दो प्रकार के हैं—मूल एवं यौगिक। मूल संख्याएं वे हैं जो स्वतंत्र अथवा एकल हैं, और यौगिक संख्याएं वे हैं जो दो संख्याओं के योग से बनी हैं (यथा—बत्तीस = ब + तीस)। १ से लेकर १० तक तथा १००, ये संख्याएं मूल हैं। शेष संख्याएं यौगिक हैं। यौगिक संख्याएं, १ से लेकर ९ तक की इकाई संख्याओं के पीछे दहाई सूचक संख्या जोड़कर बनाई जाती हैं। यौगिक संख्या में प्रयुक्त इकाई संख्याओं के विभिन्न रूप प्राप्त होते हैं। उदाहरणार्थ तीन (३) मूल संख्या के यौगिक संख्याओं में तें–(तेरह) तैं–(तैंतीस), ति–(तितालीस), तिर–(तिरसठ) आदि रूप भी प्राप्त होते हैं। मूल संख्याओं के इन विभिन्न रूपों का विकास प्रायः एक ही स्रोत से हुआ है। नीचे पूर्णसंख्याओं का विकास दर्शाते समय, यथास्थान उनके भिन्न स्रोतों का भी संकेत कर दिया गया है।

एक—सं. एकः (एक)>प्रा. एक्क>हिं. एक। यौगिक संख्याओं में प्रयुक्त रूप--'ग्या'--(ग्यारह), सं. एकादश>म. भा. आ. एगारह> एआरह>हिं. ग्यारह; 'इक्'—(इकतीस), सं. एक (बलाघात के कारण) >इक।

दो--सं. द्वौ>प्रा. दो>हिं, दो। यौगिक संख्याओं में प्रयुक्त रूप 'बा'– (बाईस) का विकास सं. 'द्वौ' के 'व्' व्यंजन से हुआ है। द्वौ से विकसित अन्य रूप हैं--दो—(दोपहर), दु—(दुगुना) आदि।

तीन—सं. त्रिणि>प्रा. तिण्णि>तिन्नि>तीन। यौगिक संख्याओं में प्रयुक्त रूप 'ते–' (सं. त्रयोदश>म. भा. आ. तेरह>तेरह), 'तैं–' (सं. त्रयस्त्रिंशत>म. भा. आ. तेत्तीसा>तैंतीस), 'ति–' (सं. त्रिचत्वारिंशत>म. भा. आ. तेआलीसा>तितालीस) और 'तिर–' (सं त्रिपञ्चाशत>म. भा. आ. तेवण>तिरपन) आदि

चार—सं. चत्वारि>प्रा. चत्तारि>च्यारि>चार। यौगिक संख्याओं में प्रयुक्त रूप—'चौ–' (स. चतुर्दश>म. भा. आ. चउदह>हिं. चौदह), 'चौं–' (सं चतुस्त्रिंशत>म. भा. आ. चौंतीस>हिंदी चौंतीस) आदि। सबका विकास 'चतुर–' से हुआ है।

पांच—सं. पञ्च>म. भा. आ. पंच>पांच। यौगिक संख्याओं में प्रयुक्त रूप 'पन्–', 'वन्', 'अन्–' आदि सं. पञ्च से विकसित हैं (यथा—सं. एकपञ्चाशत>एक्कावण्णं>हिं. इक्कावन)।

छः या छह—सं षट्>प्रा. छह>छः या छह। किंतु कुछ विद्वान षट् से छः की व्युत्पत्ति असंभव मानते हैं, अतः प्रा. क्षट्, क्षष् या क्षक् रूप की कल्पना की गई है। यौगिक संख्याओं में इसका रूप 'छ–' मिलता है। सोलह, छियालीस आदि रूप अपने समानांतर संस्कृत रूपों से विकसित हैं (सं. षोडश>प्रा. सोलह>सोलह)।

सात—सं. सप्त>प्रा. सत्त>सात। यौगिक संख्याओं में प्रयुक्त इसके रूप भी समानार्थी संस्कृत शब्दों से विकसित हुए हैं (सं. सप्तत्रिंशत>प्रा. सप्ततीसं>सैंतीस)।

आठ—सं. अष्ट>म. भा. आ. अट्ट>हिं. आठ। यौगिक संख्याओं में प्रयुक्त रूप अट्ट, अठा आदि इसी से विकसित हुए हैं (अट्ठ>अट>अड>अड़)।

नौ—सं. नव>म. भा. आ. नउ>हिं. नौ। अधिकांश यौगिक संख्याओं में इसका रूप 'उन्–' प्रयुक्त होता है (उन्नीस, उन्तीस) जो सं. ऊन=एक कम से संबंधित है (सं. ऊन>प्रा. ऊण>उन्)।

दस—स. दश>प्रा. दस>दस। यौगिक संख्याओं में प्रयुक्त इसके विभिन्न रूप दह–, दस–, रह–, लह–आदि प्रा. दस से विकसित हुए हैं (दस>दह>डह>ड़ह>रह>लह)।

बीस—सं. विंशति>वीसति>प्रा. वीस>हिं. बीस। विभिन्न रूपों में प्रयुक्त '–वीस', '–व्विस', '–ब्बीस' '–ईस' या '–इस' बीस से ही विकसित हैं। '–ब्ब–' बलाघात के कारण हैं तथा '–ईस' या 'इस' 'व्' के लोप के कारण।

तीस—सं. त्रिंशत्>तिंसति>प्रा. तीस>तीस। यौगिक संख्याओं मे इसका प्रयोग '–त्तीस', '–तिस' आदि होता है, जो तीस से ही व्युत्पन्न हैं।

चालीस—सं. चत्वारिंशत्>चताळीसति>चत्तालीस>चालीस। इसके अन्य रूप चालिस, तालीस, आलीस आदि हैं। 'तालीस' आदि 'चत्तालीस' में 'त्त' के बलाघात के कारण 'च' के लोप से तथा 'आलीस' 'च' के लोप से बने हैं।

पचास—सं. पंचाशत>प्रा. पंचास>पचास। इसके यौगिक संख्याओं में प्रयुक्त रूप 'चन्', '–पन्' आदि इस प्रकार से बने हैं—पंचाशत्>पञ्चासा>पणासा>पण>पन्>वन्।

साठ—सं. षष्टि>सट्ठि>सट्ठ>साठ। इसके दो ही रूप '–साठ', '–सठ' प्रचलित हैं।

सत्तर—सं. सप्तति>सत्तति>प्रा. सत्तरि>सत्तर। यौगिक संख्याओं में इसके '–सत्तर' और '–हत्तर' (स>ह) रूप प्रयुक्त होते हैं।

अस्सी—सं. अशीति > असीति > प्रा. असीइ > अस्सी। '–आसी' ही इसका यौगिक संख्याओं में प्रयुक्त रूप है।

नब्बे—सं. नवति > नवुति > प्रा. णवइ > णवदि > नब्बे। यौगिक संख्याओं में शब्द की दीर्घता के कारण '–ए' पर बल कम हो जाता है और प्रयुक्त रूप हो जाता है—नवे, नबे।

सो—सं. शत > सत > प्रा. सअ > सय > सउ > सौ।

हज़ार—यह फारसी शब्द है। इसका समानार्थी संस्कृत शब्द सहस्र है। यों सहस्र एवं हज़ार एक ही शब्द से विकसित हैं। सहस्र से विकसित बोलचाल का शब्द सहस है।

लाख—सं. लक्ष > प्रा. लक्ख > लाख।

करोड़—वैदिक संस्कृत में इसका समानार्थी शब्द 'अर्बुद' था। 'करोड़' शब्द का विकास स. 'कोटि' से हुआ है (कोटि > प्रा. कोडि > करोड़)।

अरब—इसकी व्युत्पत्ति सं. अर्बुद से है। यद्यपि संस्कृत में अर्बुद का अर्थ '१० करोड़' था और हिंदी में अरब '१०० करोड़' के लिए होता है।

खरब—यह स. खर्व से व्युत्पन्न है। खर्व का प्रयोग संस्कृत में १० अरब के लिए होता था और हिंदी में खरब १०० अरब का अर्थ अभिव्यक्त करता है।

(ख) अपूर्ण संख्यावाचक

पाव (१/४)—सं. पादः > प्रा. पाओ > पाउ > हि. पाव।

चौथाई (१/४)—सं. चतुर्थिक > प्रा. चउत्थिअ > चौथाई।

तिहाई (१/३)—सं. त्रिभागिका > प्रा. तिहाइआ > तिहाई।

अथवा, सं. तृतीया > प्रा. तईअ > तीआई > तिहाई।

आधा (१/२)—सं. अर्धक > प्रा. अद्धअ > आधा, अद्धा।

पौन (३/४)—सं. पादोन > प्रा. पाओण > पाउण > पौन।

'पौना' तथा 'पौने' इसी के रूपांतर हैं।

सवा (+ १/४)—सं. सपाद > प्रा. सवाअ > सवा।

डेढ़ (१½)—सं. द्वयर्द्ध > प्रा. दिअड्ढ > डेढ़।

अढाई, ढाई (२½)—सं. अर्धतृतीय > प्रा. अड्ढइअ > अढ़ाई, ढाई।

साड़े, साढ़े (+ १/२)—सं. सार्द्ध > प्रा. शड्ढ > साढ़े, साड़े।

शेष सभी पूर्ण संख्याओं के आगे ये अपूर्ण संख्याएं जोड़ी जाती हैं (यथा—सवा तीन, साढ़े चार, पौने छह आदि)।

(ग) क्रमवाचक

पहला—सं. प्रथम>(पढम + इल्ल) पढिल्ल>पहिल। पिशेल आदि इसका विकास काल्पनिक रूप 'प्रथिल' से मानते हैं।

दूसरा—इसका संबंध संस्कृत द्वितीय से नहीं है। '-सरा' का विकास 'सृतः' से माना जाता है यद्यपि यह भी कोई निश्चित मत नहीं है।

तीसरा—यह भी 'दूसरा' के समान 'त्रिस्सृतः' से व्युत्पन्न माना जाता है।

चौथा—सं. चतुर्थकः>प्रा. चउत्थओ>चउत्थअ>चउत्था>चोत्थअ> चौथा अथवा सं. चतुर्थ>प्रा. चउत्थ>चौथा।

पांचवां—'वां' का विकास '-मः' से माना गया है (पंचमः>पांचवां)। कुछ इसका विकास '-तम' से भी मानते हैं (पंचतम>पांचवां)।

छठा—इसका संबंध सं. षष्ठ से जोड़ा जाता है।

अन्य सभी संख्याओं में '-वां' जोड़कर ही उनके क्रमवाचक रूप बनाए जाते हैं।

(घ) आवृत्तिवाचक (गुणात्मक)

दुगुना, तिगुना आदि सभी आवृत्तिवाचक संख्याएं '-गुना' जोड़कर बनाई जाती हैं। '-गुना' का विकास '-गुण' अथवा '-गुण>क' से माना जाता है (गुण>क>प्रा. गुणअ>गुणा>गुना)।

उपर्युक्त संख्यावाचक शब्दों के अतिरिक्त गणना के लिए निम्नलिखित संख्यावाचा शब्दों का भी प्रयोग किया जाता है।

(ङ) समूहवाचक

कोड़ी (= २०) इसका विकास-स्रोत मुंडा-शब्द 'कोल' है।

जोड़ा—यह संस्कृत 'युटक' से व्युत्पन्न है।

दर्जन (= १२)—इसका संबंध अंग्रेजी शब्द Dozen से है।

गुरुस (= १२ दर्जन)—इसकी व्युत्पत्ति अंग्रेजी शब्द Gross से हुई है।

सैकड़ा—यह संस्कृत शतकृत शब्द से विकसित है।

(च) संज्ञावाचक

इक्का—सं. एकक से।

दुक्का, दुग्गी—सं. द्विकक से।

तिया—सं. तृतीयक से।

चौका—सं. चतुष्क + क>चउक्कअ>चौका, चौक।

इसी प्रकार अन्य संख्याएं पंचक, षट्क, सप्तक—आदि से बनी हैं।

७.८ क्रिया का रूपांतर एवं विकास :

व्याकरणात्मक संरचना में क्रिया सबसे महत्वपूर्ण शब्द-रूप है।

भारतीय आर्यभाषाओं के विकास का अध्ययन करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इन भाषाओं के विकास की कहानी एक प्रकार से सरलीकरण एवं श्लिष्ट से अश्लिष्ट होने की कहानी है।

वैदिक-संस्कृत में क्रिया का रूपांतर अत्यंत जटिल था। क्रियाएं दो पदों (आत्मने-परस्मै) तथा दस गणों (भ्वादि, अदादि, जुहोत्यादि, दिवादि, स्वादि, तुदादि, तनादि, क्रयादि तथा चुरादि) में वर्गीकृत थीं। क्रिया का रूपांतर दस लकारों (काल), पांच भावों, तीन वाच्यों, तीन पुरुषों एवं तीन वचनों में होता था।

म. भा. आ. (पालि, प्राकृत, अपभ्रंश) में क्रिया के रूप कम हो गए तथा भाषा श्लिष्टता से अश्लिष्टता की ओर बढ़ने लगी। हिंदी तक पहुंचते-पहुंचते भाषा की प्रकृति बहुत बदल गई तथा क्रिया रूपों में यथेष्ट कमी हो गई। आज हिंदी में पदों एवं गणों का कोई भेद नहीं है। क्रिया का रूपांतर मुख्य रूप से दो लकारों, तीन पुरुषों, दो वचनों एवं दो लिंगों के आधार पर होता है (संस्कृत में क्रियागत लिंगभेद नहीं था)।

७.८.१ धातु :

क्रिया के अध्ययन के तीन भाग हैं; धातु, स्तंभ एवं क्रियारूप। धातु से स्तंभ की रचना होती है और स्तंभ से क्रियारूप का निर्माण होता है।

धातु से तात्पर्य उस मूल अंश से है जो समस्त संबद्ध क्रियारूपों में विद्यमान रहता है। उदाहरणार्थ 'मिलो', 'मिला', 'मिलेंगे', 'मिलूं' आदि रूपों में 'मिल्' मूल अंश विद्यमान है, अतः 'मिल्' धातु है। किसी भी क्रियारूप में से समस्त प्रत्यय हटा देने से जो अंश बचता है, वही धातु होता है। हिंदी में अज्ञार्थ मध्यमपुरुष एकवचन (तू) के साथ प्रयुक्त क्रियारूप में जब कोई प्रत्यय न लगा हो तब वह धातु के बराबर होता है। यथा—खा, पी, उठ आदि।

७.८.१.१ धातुओं के प्रकार :

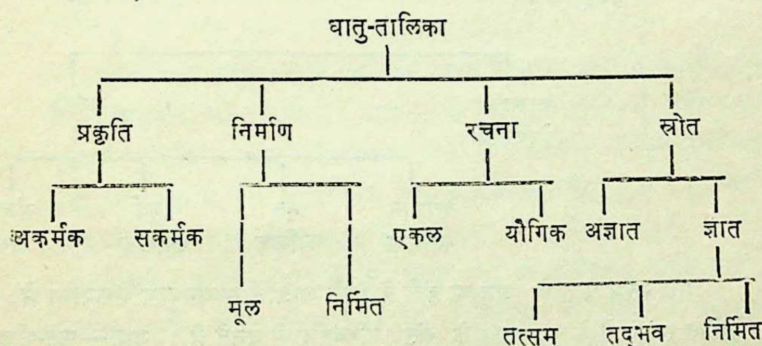
धातुओं का विवेचन अनेक दृष्टियों से किया जा सकता है :

प्रकृति—प्रकृति की दृष्टि से धातु दो प्रकार के होते हैं—अकर्मक (जो कर्म को ग्रहण नहीं करते। यथा—उठ, बैठ आदि) तथा सकर्मक (जिनमें कर्म का विधान हो सकता है। यथा—खा, पी, लिख आदि)।

निर्माण—निर्माण की दृष्टि से धातुओं को दो वर्गों में रख सकते हैं : मूल (जिनका निर्माण किसी अन्य शब्दरूप से नहीं हुआ है । यथा—खा, कर) तथा निर्मित (जो किसी अन्य शब्दरूप से बनाई गई हैं । यथा—'लात' से लतिया—ना आदि) ।

रचना—रचना की दृष्टि से भी धातुएं दो प्रकार की हैं—एकल (जो मूल रूप से एक ही अर्थपूर्ण इकाई से बनी हैं । यथा—कर < √कृ) तथा यौगिक (जो मूल रूप से एक से अधिक अर्थपूर्ण इकाइयों से बनीं हैं । यथा—हिं. बैठ सं. उप + विष्ट से बनी हुई है) ।

स्रोत—स्रोत की दृष्टि से धातुएं दो प्रकार की हैं—अज्ञात (जिनके मूल स्रोत का पता नहीं है । यथा—बटोर, पलट आदि) । एवं ज्ञात (जिनके मूल स्रोत का पता है । यथा—कर, कह आदि) । ज्ञात धातुएं तीन प्रकार की हैं—तत्सम, (जो बहुत कम मात्रा में हैं तथा प्रायः संस्कृत से उधार ली गयीं हैं । यथा—रच्), तद्भव (जो हिंदी में परंपरा से आयीं हैं । यथा—गरज, निरख, उठ आदि) तथा निर्मित (जिनकी रचना हिंदी में हो गई है) । इन निर्मित धातुओं में से जो संज्ञा, विशेषण आदि में से बनायी गयी हैं उन्हें 'नामधातु' कहते हैं (यथा—फिल्म से फिल्मा—ना, गर्म से गर्मा—ना आदि) जो धातुएं ध्वनि अथवा स्थिति की पुनरावृत्ति से बनती हैं उन्हें ध्वन्यात्मक अथवा अनुकरणात्मक कहते हैं (यथा—भन से भनभना—ना, चह से चहचहा—ना आदि) ।



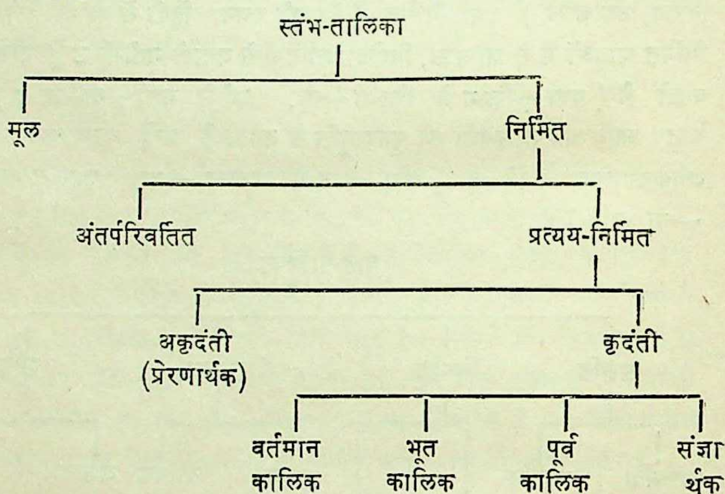
७.८.२ स्तंभ :

जैसे नाम शब्द (संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण) पद बनने से पूर्व प्रातिपदिक होते हैं (शब्द जब विभक्ति-युक्त होता है तब पद कहलाता है । विभक्ति रहित

होने पर उसे प्रातिपदिक कहा जाता है। वाक्य में पद ही प्रयुक्त होता है) वैसे ही क्रिया शब्द क्रियारूप होने से पहले स्तंभ (Stem) रहता है। स्तंभ में जब पुरुषवाचक प्रत्यय जुड़ता है तब क्रियारूप बनता है। स्तंभ, धातु एवं क्रियारूप के मध्य की स्थिति है। स्तंभ की इस स्थिति को न समझने के कारण ही हिंदी की व्याख्या करनेवाले अनेक विद्वानों ने 'खा' धातु से बने 'खिलाना' एवं खिलवाना' रूपों को भी धातु माना है। वास्तव में 'खिला–' एवं 'खिलवा–' स्तंभ हैं जो 'खा' धातु में प्रेरणार्थक प्रत्यय जोड़कर बनाए गए हैं। यह गलती इसलिए भी होती है क्योंकि ऐसा समझा जाता है कि किसी भी क्रिया से 'ना' हटा देने से शेष अंश धातु रहता है, जो सही नहीं है।

७.८.२.१ स्तंभ के प्रकार :

रचना की दृष्टि से स्तंभ के कई भेद हो सकते हैं, जो स्तंभ-तालिका में दर्शाए गए हैं।



मूल स्तंभ धातु के अनुरूप होते हैं (जैसे आज्ञार्थ मध्यमपुरुष एकवचन में)। निर्मित स्तंभों में से कुछ धातु के अंतर-परिवर्तन से बनते हैं। यथा—फुट-फोड़, पिट-पीट, आदि। इन्हें अंतपरिवर्तित कहा गया है। दूसरे प्रकार के स्तंभ, प्रत्यय जोड़ने से बनते हैं। इनमें से कुछ अकृदंती होते हैं और दूसरे कृदंती। कृदंत से तात्पर्य ऐसे रूप से हैं जिसके अंत में कृत प्रत्यय लगा रहता है। इनका प्रयोग क्रिया रूपों के अतिरिक्त संज्ञा, विशेषण एवं क्रिया विशेषण आदि

रूपों में भी होता है। अकृदंती स्तंभों में मुख्य प्रेरणार्थक रूप हैं, जो धातु में –आ एवं –वा प्रत्यय जोड़कर बनाए जाते हैं। जैसे—लिख, लिखा, लिखवा; पढ़, पढ़ा, पढ़वा। एकाक्षरी स्वरांत धातुओं में प्रेरणार्थक प्रत्यय जोड़ने से पूर्व उन्हें लकारांत कर देना पड़ता है। यथा—खा > खिल्, खिला, खिलवा; पी > पिल्, पिला, पिलवा।

हिंदी प्रेरणार्थक क्रियाएं, संस्कृत प्रेरणार्थक क्रियाओं से पूर्णतः भिन्न हैं, अतः उनका विकास स्वतंत्र रूप से हुआ है। प्रेरणार्थक प्रत्यय –'वा' का संबंध सं. णिच् प्रत्यय के द्वित्तरूप आप्-आप् से जोड़ा जाता है (आप्-आप् > म. भा. आ. आवाप > हिं. वा) प्रेरणार्थक प्रत्यय से पूर्व के 'ल' का संबंध सं. आल् (सं. पालय) से जोड़ने का प्रयत्न किया जाता है।

वर्तमानकालिक अथवा अपूर्ण कृदंत—इस कृदंत की रचना धातु में '–त' प्रत्यय जोड़कर की जाती है। यथा—खा + त = खात् (+ आ, –ई, –ए)।

हिंदी वर्तमानकालिक कृदंत का विकास संस्कृत के वर्तमानकालिक कृदंत रूपों से हुआ है। '–त' प्रत्यय का संबंध सं. अंत से जोड़ा जाता है (सं. चलन् > प्रा. चलंतो > हिं. चलता) किंतु यह विशेष तर्कपूर्ण नहीं लगता क्योंकि चलन् से चलन्तो का विकास अस्वाभाविक है।

भूतकालिक अथवा पूर्ण कृदंत—इस कृदंत की रचना धातु में –आ जोड़कर की जाती है। यथा—चल + आ = चला। –आ प्रत्यय का संबंध संस्कृत के कृत प्रत्यय इत (क्त) से है (सं. चलितः > म भा. आ. चलिदो > चलिओ, चलिअ > हिं. चला)।

पूर्वकालिक कृदंत—इस कृदंत की रचना धातु में शून्य ϕ, के, कर, करके प्रत्यय जोड़कर की जाती है (यथा—कह आया, कहके आया, कहकर आया, कहकर के आया)। शून्य विभक्तिक रूपों का विकास सं. पूर्वकालिक कृदंत रूपों से हुआ है (सं. दृष्ट्वा > म. भा. अ देक्खिअ > हिं. देख)। 'कर' का संबंध सं. क √कृ से जोड़ा जाता है।

संज्ञार्थक कृदंत—धातु में 'ना' जोड़ने से इस कृदंत की रचना होती है। (यथा—चल + ना = चलना)। 'ना' के विकास के संबंध में दो मत हैं। बीम्स आदि विद्वान इसका विकास सं. कृदंत प्रत्यय ल्युट (अनीय) से मानते हैं (सं. करणीय > म. भा. आ. करणअ > हिं. करना)। चटर्जी के विचार से इसका विकास सं. प्रत्यय –अन से हुआ है (सं. चलनम् > म. भा. आ चलनअ > हिं. चलना)।

संज्ञार्थक कृदंत को सामान्य क्रियार्थक भी कहा जाता है, क्योंकि सामान्य रूप से –ना जोड़कर ही क्रिया का संकेत किया जाता है। जैसे—खाना, पीना, उठना, बैठना आदि। शब्दकोश में भी इसी रूप में क्रिया का उल्लेख किया जाता हैं।

७.८.३ सहायक क्रियाएं :

हिंदी में क्रिया रूपों की रचना प्रायः कृदंतों एवं सहायक क्रियाओं की सहायता से होती है। कृदंतों का वर्णन पूर्व के परिच्छेद में हो चुका है, अतः यहां सहायक क्रियाओं का विवेचन किया जा रहा है।

वह क्रिया जो कार्य का विधान करती है, उसे मुख्य क्रिया कहा जाता है। मुख्य किया द्वारा अभिव्यक्त कार्य की स्थिति, पूर्णता, समय आदि की जानकारी देनेवाली क्रिया, सहायक क्रिया कहलाती है। उदाहरणार्थ 'मोहन खाता है'। इस वाक्य में मुख्य कार्य 'खाना' है। इस मुख्य कार्य की सूचना 'खा' धातु से बने रूप 'खाता' से मिलती है; अतः, यहां 'खाना' मुख्य क्रिया है। 'होना' क्रिया के रूप 'है' से यह जानकारी मिलती है कि कार्य हो रहा है। अतः होना यहां पर सहायक क्रिया है।

हिंदी में मुख्य रूप से निम्नलिखित सहायक क्रियाएं प्रयुक्त होती हैं—होना, उठना, करना, चाहना, चुकना, पड़ना, डालना, देना, रहना, बैठना, बनना, लगना, जाना, आना, सकना।

इन क्रियाओं में से 'सकना' क्रिया को छोड़कर शेष सभी क्रियाएं मुख्य क्रिया के रूप में भी प्रयुक्त होती हैं। उदाहरणार्थ 'वह उठा', 'वह कह उठा' दो वाक्य हैं। पहले वाक्य में 'उठना' मुख्य क्रिया है और दूसरे वाक्य में सहायक क्रिया। 'सकना' क्रिया केवल सहायक क्रिया के रूप में प्रयुक्त होती है। 'होना' क्रिया सबसे विशिष्ट एवं महत्वपूर्ण है। अन्य क्रियाओं के समान इससे किसी कार्य का संकेत नहीं मिलता; इससे केवल किसी स्थिति के होने का संकेत मिलता है। फिर यह क्रिया हिंदी की काल-रचना में बहुत अधिक सहायक होती है। अतः उसके मुख्य रूपों एवं उनके विकास का वर्णन आवश्यक है।

(होना क्रिया)

वर्तमान :		एकवचन	बहुवचन
	उ.	हूं	हैं
	म.	है	हो
	अ.	है	हैं

(होना क्रिया)

भूत :			
	उ. म. अ.	था, थी	थे, थीं
भविष्य :			
	उ.	हूंगा (हूंगी)	होंगे (होंगी)
	म.	होगा (होगी)	होगे (होगी)
	अ.	होगा (होगी)	होंगे (होंगी)
संभाव्य			
वर्तमान	उ.	होऊं	हों, होवें
	म.	हो, होवे	हो, होवो
	अ.	हो, होवे	हों, होवें
संभाव्य			
भूत	उ. म. अ.	होता (होती)	होते (होतीं)

(उ = उत्तम पुरुष, म = मध्यम पुरुष, अ = अन्य पुरुष)

७.८.४ क्रिया रूप :

हिंदी क्रिया द्वारा अभिव्यक्त व्यकरणिक कोटियां हैं–लिंग, वचन, पुरुष,अथ, वाच्य, प्रयोग एवं काल। 'होना' क्रिया को छोड़कर अन्य क्रियाओं में लिंग एवं वचन सूचक प्रत्यय वे ही हैं जिनका वर्णन आकारांत संज्ञा शब्दों के रूपांतर में किया गया है (आ, ए, ई)। पुरुष का संकेत वचन के प्रत्यय ही करते हैं। अतः यहां इनके विवेचन की गुंजाइश नहीं है।

७.८.४.१ अर्थ :

अर्थ से तात्पर्य क्रिया की स्थिति से है। हिंदी में पांच प्रकार के अर्थ हैं—निश्चयार्थ (वह गया) संभाव्यार्थ (शायद वह जाय), संदेहार्थ (वह गया हो), हेत्वार्थ (यदि वह गया) और आज्ञार्थ (जाओ)।

हिंदी के ये अर्थ संस्कृत के अर्थों से भिन्न एवं स्वतंत्र हैं। इनमें से कुछ अर्थों का संकेत 'यदि' 'शायद' 'तो' जैसे शब्दांशों की सहायता से होता है। शेष अर्थ-रूप ऐसे हैं, जिनका उल्लेख कृदंत अथवा काल के विवेचन में हो जाता है।

७.८.४.२ वाच्य एवं प्रयोग :

कर्ता, कर्म एवं क्रिया के परस्पर संबंध की स्थिति एवं आधार को वाच्य कहते हैं। उस स्थिति के अनुसार वाक्य की रचना को प्रयोग कहा जाता है।

हिंदी में तीन वाच्य एवं तीन प्रयोग हैं : कर्तृ वाच्य-कर्तृ प्रयोग—इसमें क्रिया कर्ता के अनुसार परिवर्तित होती है (यथा—लड़का आया, लड़के आये, लड़की आयी)।

कर्म वाच्य—कर्मणि प्रयोग—इसमें क्रिया कर्म के अनुसार परिवर्तित होती है (यथा—लड़के ने आम खाया, लड़के ने रोटी खायी)।

भाववाच्य-भावे प्रयोग—इसमें क्रिया न तो कर्ता के अनुसार बदलती है और न ही कर्म के अनुसार। क्रिया सदैव एकवचन पुल्लिग रूप में रहती है (यथा– लड़के ने सांप को मारा, लड़की ने सांप को मारा, लड़कों ने सांप को मारा)।

वास्तव में रूपात्मक दृष्टि से हिंदी में प्रायः कर्तृवाच्य का ही प्रयोग होता है। ऊपर जो कर्मवाच्य एवं भाववाच्य के उदाहरण दिये गये हैं, उनमें भी वास्तव में कर्ता ही प्रधान है तथा वह अपने (कर्ता के) स्थान पर भी स्थिर है। कर्मवाच्य में कर्ता का स्थान, कर्म को लेना चाहिए तथा उसकी प्रधानता भी होनी चाहिए। हिंदी में कर्मवाच्य की ऐसी स्वतंत्र रचना नहीं होती। 'जाना' क्रिया की सहायता से ऐसी वाक्यात्मक रचना बनायी जाती है। जैसे – 'मुझसे आम खाया जाता है', 'मुझसे रोटी खायी जाती है।' ऐसी ही रचना जो अकर्मक क्रिया से बनायी जाती है, वह भावे प्रयोग होती है। जैसे— 'मुझसे चला नहीं जाता'। हिंदीं का कर्मवाच्य एवं भाववाच्य संस्कृत के कर्मवाच्य तथा भाववाच्य से भिन्न हैं तथा इनका विकास स्वतंत्र रूप से हुआ है।

७.८.४.३ काल

क्रिया के समय को 'काल' कहा जाता है। रचना की दृष्टि से काल दो प्रकार के हैं—मूल एवं यौगिक। एक ही धातु से निर्मित काल मूलकाल कहलाता है तथा एक से अधिक धातुओं से निर्मित काल को यौगिक काल कहा जाता है।

मूल काल

मूलकाल दो प्रकार के हैं—अकृदंती एवं कृदंती। अकृदंतो काल वे हैं जिनमें कृदंत का प्रयोग नहीं होता। अकृदंती काल दो हैं—संभाव्य वर्तमानकाल एवं अज्ञार्थ वर्तमानकाल। नीचे 'चल' धातु के साथ दोनों के रूप दिये जाते हैं। हिंदी में अज्ञार्थ के रूप केवल मध्यम पुरुष में ही बनते हैं।

(उ=उत्तम पुरुष, म=मध्यम पुरुष, अ=अन्य पुरुष)

संभाव्य वर्तमान (चलना)

	एकवचन	बहुवचन
उ.	चलूं	चलें
म.	चले	चलो
अ.	चले	चलें

आज्ञार्थ वर्तमान

म.	चल	चलो

संभाव्यर्थ रूपों का विकास संस्कृत के वर्तमानकाल के रूपों से माना जाता है (यथा—सं. चलामि>चलउं>हिं. चलूं)। बीम्स एवं दूसरे कई विद्वान ऐसा मानते हैं कि सं. के एक वचन से हिंदी बहुवचन एवं सं. वहुवचन से हिंदी एकवचन का विकास हुआ है।

सं. चलामि> * चलाइं> चलैं>हिं. चलें; सं. चलाम :>चलामु> चलौं>चलूं।

हिंदी अज्ञार्थ में केवल मध्यम पुरुष एकवचन 'चल' ही भिन्न है। ग्रियर्सन इसका विकास सं. वर्तमान के रूप 'चलसि' से मानते हैं। बीम्स इसका संबंध सं. आज्ञार्थ से मानते हैं।

यहां भविष्य काल (चलूंगा, चलेंगे आदि) का उल्लेख करना आवश्यक है। यह काल रचना की दृष्टि गे मूल है किंतु स्रोत की दृष्टि से इसका विकास संभाव्य एवं कृदंत के यौगिक रूप से हुआ है। चलूं + ग (सं. गतः का अवशेष) = चलूंग् (आ)।

मूल कृदंती काल वे हैं जिनमें कृदंत ही क्रिया के रूप में प्रयुक्त होते हैं। मूल कृदंती काल निम्नलिखित हैं—भूतकाल (भूतकालिक कृदंत)—मैं चला, हम चले, आदि। संभाव्य भूतकाल (वर्तमानकालिक कृदंत)—मैं चलता, हम चलते। आज्ञार्थ भविष्यकाल (संज्ञार्थक कृदंत)—तू चलना, तुम चलना।

यौगिक काल

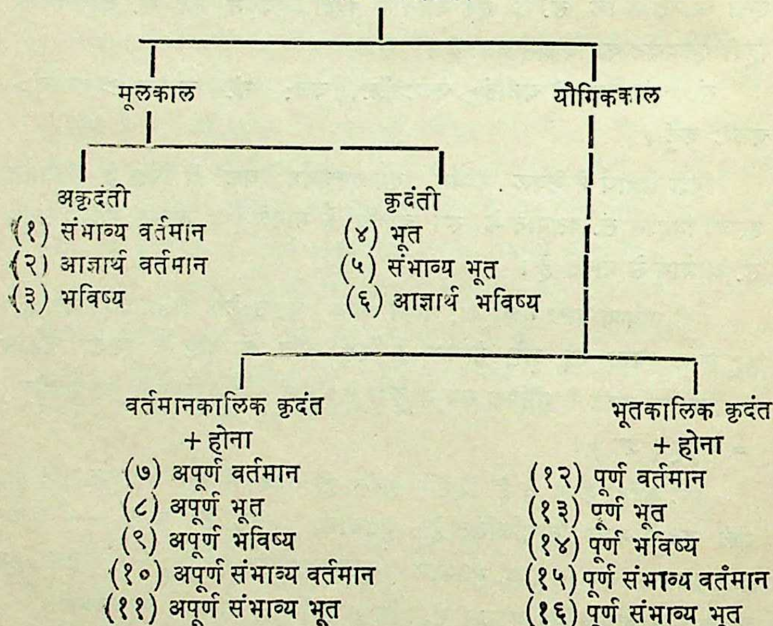
यौगिक काल दो प्रकार के हैं—वर्तमानकालिक कृदंत से निर्मित एवं भूतकालिक कृदंत से निर्मित।

वर्तमानकालिक कृदंत + होना क्रिया

अपूर्ण वर्तमानकाल—चलता हूं, चलते हो, आदि।
अपूर्ण भूतकाल—चलता था, चलते थे, आदि।
अपूर्ण भविष्यकाल—चलता हूंगा, चलते होंगे, आदि।
अपूर्ण संभाव्य वर्तमानकाल—चलता होऊं, चलता हो आदि।
अपूर्ण संभाव्य भूतकाल—चलता होता, चलते होते, आदि।

भूतकालिक कृदंत + होना क्रिया

पूर्ण वर्तमानकाल—चला हूं, चले हैं, आदि।
पूर्ण भूतकाल—चला था, चले थे, आदि।
पूर्ण भविष्यकाल—चला हूंगा, चले होंगे आदि।
पूर्ण संभाव्य वर्तमानकाल—अगर चला हो, अगर चले हों, आदि।
पूर्ण संभाव्य भूतकाल—अगर चला होता, अगर चले होते, आदि।



७.८.५ क्रियाबंध (संयुक्त क्रिया) :

क्रियाबंध (Verb Phrase) से तात्पर्य ऐसी क्रियार्थक रचना से है जिसमें एक से अधिक अर्थ व्यंजक तत्व मिलकर एक क्रिया का अर्थ दें। सामान्य रूप से इस प्रकार की रचना को 'संयुक्त क्रिया' कहा जाता है, जो किसी सीमा तक भ्रामक है; क्योंकि 'संयुक्त क्रिया' से यह प्रकट होता है कि इस रचना में एक से अधिक क्रियाएं हैं; जब कि इस प्रकार की रचना में सदैव एक से अधिक क्रियापद ही नहीं होते; संज्ञा, सर्वनाम आदि पद भी होते हैं। उदाहरणार्थ 'चल पड़ना' में दोनों क्रियापद हैं किंतु 'लात खाना' में 'लात' संज्ञा है; और इन दोनों रचनाओं को संयुक्त क्रिया माना जाता है।

कुछ विद्वानों का यह सोचना गलत है कि रचना की दृष्टि से क्रियाबंध यौगिक कालों के समान हैं। वास्तव में पूरा क्रियाबंध एक मूल क्रिया के समान प्रयुक्त होता है, फिर चाहे उसमें कितने ही पद क्यों न हों, और उससे निर्मित काल भी मूलकाल ही रहता है। वह यौगिक काल तब बनता है जब उसमें फिर 'होना' क्रिया को जोड़ा जाय। उदाहरणार्थ 'वह उसे पकड़कर ले आया' वाक्य में 'पकड़कर ले आया' क्रियाबंध हैं। इसमें चार क्रियापद हैं (पकड़ना, करना, लाना, आना) किंतु इसका काल मूल (भूतकाल) है। वैसे ही 'उठाकर खा जाओ' वाक्य पूरे का पूरा क्रियाबंध है। इसमें भी चार क्रियापद हैं किंतु इसका काल मूल आज्ञार्थ है।

७.८.५.१ क्रियाबंधों के प्रकार :

क्रियाबंधों का वर्गीकरण दो आधारों पर किया जा सकता है—रचना के आधार पर एवं अर्थ के आधार पर।

७.८.५.२ रचना की दृष्टि से क्रियाबंध :

रचना की दृष्टि से क्रियाबंध दो प्रकार के हैं—क्रियात्मक (जिसमें समस्त क्रियापद होते हैं) तथा क्रियेतर (जिसमें एक क्रियापद रहता है तथा दूसरे अन्य पद रहते हैं)। क्रियाबंध का अंतिम पद तो सदैव क्रिया रहता है; अतः उक्त वर्गीकरण का आधार, अंतिम पद पर न होकर इतर पदों पर है।

क्रियात्मक बंध

(१) धातु युक्त (उठ जाना, मार डालना)

(२) भूतकालिक कृदंत युक्त (चला जाना, उठा लेना)

(३) वर्तमानकालिक कृदंत युक्त (उठता रहना, लेता जाना)

(४) संज्ञार्थक कृदंत युक्त (रोने लगना, मारने दौड़ना)

क्रियेतर बंध

(१) संज्ञा युक्त (लात खाना, भूख लगना)

(२) विशेषण युक्त (मुक्त होना, बुरा लगना)

(३) सर्वनाम युक्त (अपना बनाना)

(४) क्रियाविशेषण युक्त (नीचे दबाना, ऊपर उठना)

यह पहले ही बताया जा चुका है कि ऐसे क्रियाबंधों में केवल दो ही नहीं तीन, चार, पांच पद भी हो सकते हैं। उदाहरणार्थ 'उठाकर ले आना' में चार क्रियापद हैं तथा 'नीचे-ऊपर करना' में तीन पद हैं, पहले दो क्रियाविशेषण एवं तीसरा क्रिया।

७.८.५.३ अर्थ की दृष्टि से क्रियाबंध :

क्रियाबंधों का मुख्य कार्य अभिव्यक्ति को स्पष्टता एवं सूक्ष्मता प्रदान करना है; अतः अर्थ की दृष्टि से क्रिमाबंधों के अनेक प्रकार हो सकते हैं। उदाहरणार्थ 'चुकना' क्रिया युक्त बंध प्रायः **पूर्णता सूचक** (खा चुका, मर चुका), 'चाहना' क्रिया युक्त बंध **इच्छा सूचक** (पढ़ना चाहना, जाना चाहना), 'सकना' क्रिया युक्त बंध **सामर्थ्य सूचक** (कर सकना, उठा सकना) 'लगना' क्रिया युक्त बंध **आरंभ सूचक** (जाने लगना, करने लगना), 'पड़ना' क्रिया युक्त बंध **आकस्मिकता सूचक** (गिर पड़ा, बोल पड़ा) होते हैं।

यहां यह बतलाना आवश्यक है कि मात्र अर्थ के आधार पर किया गया वर्गीकरण बहुत अधिक सुनिश्चित नहीं हो सकता। उदाहरणार्थ 'बोल पड़ना' में जहां 'पड़ना' से आकस्मिकता का बोध होता है वहां 'गले पड़ना' में 'पड़ना' से बाध्यता की अभिव्यक्ति होती है। वास्तव में इस प्रकार की रचनाएं एक प्रकार के मुहावरे हैं, इसलिए इनका विवेचन केवल अर्थ के आधार पर नहीं अपितु अर्थ-संरचना (Semantic Structure) के आधार पर होना चाहिए।

विकास की दृष्टि से देखा जाय तो क्रियाबंधों का संस्कृत से सीधा एवं स्पष्ट संबंध नहीं है। इनका विकास एक प्रकार से स्वतंत्र रूप से हुआ है। क्रियाबंध हिंदी (एवं अन्य आधुनिक भाषाओं) की अपनी निजी विशेषता है।

७.९ अव्यय :

व्याकरण में अपरिवर्तनशील शब्दों अथवा शब्दांशों को 'अव्यय' कहते हैं। इन शब्दों के रूप में लिंग, वचन अथवा कालानुसार परिवर्तन नहीं होता है। अव्ययों के चार भेद हैं-(१) क्रियाविशेषण (२) समुच्चयबोधक (३) संबंधबोधक तथा (४) विस्मयादिबोधक। कुछ क्रिया विशेषणों के रूप परिवर्तित होते हैं (यथा—खाता हुआ गया, खाते हुए गए)। इन क्रियाविशेषणों को अव्यय के रूप में नहीं स्वीकार करना चाहिए।

७.९.१ क्रियाविशेषण :

अर्थ की दृष्टि से क्रियाविशेषण के निम्नलिखित प्रकार माने जाते हैं।

कालवाचक—जब, तब, कब आदि। इन सभी क्रियाविशेषणों में समयसूचक '–ब' के विकास के बारे में विभिन्न मत हैं। बोम्स, केलाग आदि इसका विकास सं. वेला (समय) से मानते हैं। कुछ विद्वान इसकी व्युत्पत्ति सं. एवं से मानते हैं।

स्थानवाचक—यहां, वहां, कहां, जहां आदि। इनमें स्थानसूचक '–हां' की व्युत्पत्ति में भी शंकाएं हैं। कुछ सं. 'स्थाने' (यत्स्थाने > जहां आदि), कुछ सं. 'इह' (> यहां), सं. कुह (> कहां) आदि के '–ह' प्रत्यय से इसकी व्युत्पत्ति संभव मानते हैं। इनके अतिरिक्त भीतर (सं. अभ्यंतर > अवभंतर > अप. भिंतर > भीतर), बाहर (सं. बहिः > बाहर) आदि भी स्थानवाचक क्रियाविशेषण हैं। स्थानवाचक का ही एक भेद दिशावाचक माना जा सकता है। इधर, उधर आदि इसके अंतर्गत आते हैं, जिनका विकास निश्चित नहीं है।

रीतिवाचक—यों, ज्यों, त्यों आदि। इनकी व्युत्पत्ति के संबंध में भी विभिन्न मत हैं। कुछ सं. इत्थं, कथं आदि से, कुछ वैदिक सं. एवं आदि से इनका विकास संभव मानते हैं। जानो, मानो आदि का विकास हि. जानना, मानना आदि से तथा सचमुच का सत्य से, ठीक का सं. स्था से संबंध जोड़ा जाता है।

७.९.२ समुच्चयबोधक—'तथा', 'एवं' संस्कृत के तत्सम रूप हैं तथा और का विकास सं. अपरम् से हुआ है (सं. अपरम् > प्रा. अवरं > अवर > और)।

७.९.३ संबंधबोधक—में, पर आदि। इनकी व्युत्पत्ति का वर्णन अधिकरण कारक के अंतर्गत किया जा चुका है।

७.९.४ विस्मयादिबोधक—एँ, हैं—सं. अइ से, ओहो—सं. अहो से, वाह (फ़ा.) शाबाश (फ़ा.), हाय, हा—सं. हा से, दुहाई—(दो + हाय), आह—सं. आः से, जी,—सं. जीव से, अच्छा–सं. अच्छः से (अच्छः > पा. अच्छो > प्रा. अच्छअ > अच्छा) आदि विस्मयादि बोधक अव्यय हैं।

७.१० वाक्यात्मक संरचना :

वाक्यात्मक संरचना, भाषा की अत्यंत महत्वपूर्ण संरचना है। इसके अंतर्गत वाक्य की गठन एवं वाक्य-भेदों का विवेचन किया जाता है। वास्तव में वाक्यात्मक संरचना एवं रूपात्मक संरचना का आपस में इतना निकट संपर्क है कि दोनों का अलग-अलग विवेचन करना संभव ही नहीं है। हिंदी की रूपात्मक संरचना में जो कुछ कहा गया है, उसका हिंदी की वाक्य-रचना से अभिन्न संबंध है।

७.१०.१ वाक्यात्मक युक्तियां :

वाक्यात्मक युक्तियों से तात्पर्य उन उपायों से है जो वाक्य की गठन में सहायक होते हैं। ये युक्तियां प्रत्येक भाषा की अलग-अलग हो सकती हैं। हिंदी में जिन वाक्यात्मक युक्तियों का प्रयोग किया जाता हैं, उनमें से मुख्य हैं : वाक्य में पदों का स्थान, संज्ञा के द्वारा संबंधित विशेषण के लिंग—वचन का नियमन तथा कर्ता–कर्म–क्रिया की अन्विति अथवा संगति। आगामी परिच्छेद में संस्कृत-वाक्य-रचना से हिंदी वाक्य-रचना की तुलना करते समय इन युक्तियों का विवेचन किया जा रहा है।

७.१०.२ संस्कृत एवं हिंदी वाक्य-रचना :

हिंदी की वाक्य-रचना, प्राचीन आर्यभाषा अर्थात संस्कृत की वाक्य-रचना से बहुत अधिक भिन्न हो गयी है। इसका मुख्य कारण यह है कि संस्कृत श्लिष्ट-प्रश्लिष्ट भाषा थी जब कि हिंदी अश्लिष्ट—अयोगात्मक भाषा है। संस्कृत में संबंध-तत्व अर्थतत्व से पूर्ण रूप से जुड़ जाते थे, इससे कभी-कभी पूरा वाक्य एक शब्द सा लगता था लेकिन हिंदी वाक्य में विभिन्न पदों की अलग-अलग सत्ता बनी रहती है। संस्कृत में विभक्तियां शब्द का अंग बन जाती थीं इस कारण वाक्य में शब्दों के स्थान एवं क्रम का कोई विशेष महत्व नहीं था।

(यथा—रामः रावणं अमारयत्, रावणं रामः अमारयत्, अमारयत रामः रावणं) किंतु हिंदी में विभक्तियों का स्थान परसर्गों ने ले लिया है, जो शब्द से अलग रहते हैं; इससे हिंदी वाक्य में शाब्दों के स्थान एवं क्रम का महत्व है। उदाहरणार्थ 'शेर आदमी पर झपटा' 'आदमी शेर पर झपटा' वाक्यों में 'आदमी' एवं 'शेर' शब्दों का स्थान बदलने से न केवल वाक्य का अर्थ बदल गया है वरन् इन शब्दों की व्याकरणात्मक स्थिति भी बदल गयी है। पहले वाक्य में शेर "कर्ता' है तथा आदमी 'कर्म'; दूसरे वाक्य में आदमी 'कर्ता' है और शेर 'कर्म'।

अन्विति अथवा संगति की दृष्टि से देखा जाय तो संस्कृत में कर्ता के पुरुष एवं वचन के साथ क्रिया की संगति रहती थी किंतु कर्ता का लिंग क्रिया को प्रभावित नहीं करता था (यथा—बालकः गच्छति, बालिका गच्छति) किंतु हिंदी में कुछ स्थितियों को छोड़कर, क्रिया, कर्ता के लिंग के साथ भी संगति रखती है (यथा—बालक जाता है, बालिका जाती है)।

नियमन की दृष्टि से भी संस्कृत एवं हिंदी वाक्य-रचना में अंतर पड़ गया है। संस्कृत में विशेषण अपने विशेष्य (संज्ञा) से नियंत्रित रहता था, अर्थात विशेषण का लिंग-वचन संबंधित संज्ञा के अनुरूप रहता था (यथा—सुंदरः बालकः, सुंदरा बालिका, सुंदरं फलं) किंतु हिंदी में आकारांत विशेषणों को छोड़कर अन्य किसी विशेषण का रूप नहीं बदलता (यथा—सुंदर बालक, सुंदर बालिका, सुंदर फल)।

संस्कृत में संधि-समास पद्धति का प्रचलनन था जिससे शब्द संश्लिष्ट हो जाते थे, हिंदी में प्रायः इस पद्धति का लोप हो चला है। संस्कृत में काल, वाच्य आदि व्याकरणिक कोटियां क्रिया के रूप से अभिव्यक्त होती थीं, हिंदी में यह कार्य मुख्य रूप से सहायक क्रियाओं के सहयोग से किया जाता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि आधुनिक साधु हिंदी की वाक्य-रचना संस्कृत से वहुत सीमा तक भिन्न एवं स्वतंत्र बन गयी है।

७.१०.३ हिंदी की वाक्य रचना :

पूर्व के परिच्छेदों में हिंदी की रूपात्मक पद्धति के किये गये विवेचन से हिंदी वाक्य-रचना के संबंध में पर्याप्त संकेत मिल जाते हैं। इस संबंध में इतना और उल्लेख्य है कि हिंदी वाक्य में कर्ता (जो प्रायः संज्ञा, सर्वनाम अथवा नामबंध (Noun Phrase) रहता है) एवं क्रिया दो महत्वपूर्ण पद हैं। वाक्य का आरंभ प्रायः कर्ता से होता है तथा अंत क्रिया से। इस प्रकार कर्ता

एवं क्रिया हिंदी की सीमाएं हैं, जिनके अंतर्गत अन्य समस्त पद नियोजित किये जाते हैं। नामबंध में विशेषण प्रायः संज्ञा के पूर्व रहता है। क्रिया विशेषण शब्दों का स्थान क्रिया के पूर्व है। वाक्य मूल (अर्थात एक क्रियावाची) एवं यौगिक (अनेक क्रियावाची) होते हैं। मूल एवं यौगिक वाक्यों के कई भेद-उपभेद हैं।

वास्तव में हिंदी वाक्य-रचना एवं वाक्य विकास का विवेचन विस्तार सापेक्ष है, जिसकी यहां गुंजाइश नहीं है।

स्मरण-संकेत

७.१ हिंदी की व्याकरणात्मक संरचना में हिंदी के शब्द-रूपों एवं वाक्य रचना का विवेचन होगा।

७.२ हिंदी की रूपात्मक संरचना के अंतर्गत हिंदी के शब्द-निर्माण एवं शब्द-रूपांतर की पद्धतियों का उल्लेख होगा।

७.३ हिंदी-शब्द-निर्माण की मुख्य तीन पद्धतियां हैं—समास पद्धति, सर्ग पद्धति एवं पुनरावृत्ति पद्धति। इनमें से सर्ग पद्धति मुख्य है। सर्ग दो प्रकार के हैं: पूर्व सर्ग (उपसर्ग) एवं परसर्ग (प्रत्यय)। स्रोत की दृष्टि से सर्ग तीन प्रकार के हैं: परंपरागत, निर्मित एवं विदेशी।

७.४ रूपांतर की दृष्टि से हिंदी में दो प्रकार के शब्द हैं: विकारी एवं अविकारी।

७.५ संज्ञा का रूपांतर लिंग, वचन एवं कारक (विकारक) के आधार पर होता है। हिंदी में दो लिंग एवं दो वचन हैं। अर्थ की दृष्टि से ६ कारक हैं किंतु मुख्य केस (Case) दो ही हैं। केस को विकारक कहना चाहिए। कारक-चिह्नों को परसर्ग एवं विकारक-चिह्नों को विभक्ति कहा जाता है। परसर्गों एवं विभक्तियों का विकास संस्कृत के विभिन्न शब्द रूपों से हुआ है।

७.६ सर्वनाम का रूपांतर वचन एवं विकारक के आधार पर होता है। हिंदी में सात प्रकार के सर्वनाम माने जाते हैं। सर्वनाम के विभिन्न रूपों का विकास मुख्य रूप से संस्कृत के सर्वनाम रूपों से हुआ है।

७.७ रूपांतर की दृष्टि से विशेषण दो प्रकार के हैं (विकारी एवं अविकारी) तथा अर्थ की दृष्टि से विशेषण चार प्रकार के हैं (गुणवाचक, संख्यावाचक, परिमाणवाचक, सर्वनामक)। विशेषण की तीन अवस्थाएं हैं। विकास की दृष्टि से संख्यावाचक विशेषण ही महत्वपूर्ण हैं। इन विशेषणों का स्रोत मुख्य रूप से संस्कृत के संख्यावाचक विशेषण हैं।

७.८ संस्कृत की अपेक्षा हिंदी के क्रिया रूप सरल हैं। क्रिया के अध्ययन के तीन भाग हैं: धातु, स्तंभ एवं क्रिया रूप। धातुओं का विवेचन प्रकृति, निर्माण, रचना एवं स्रोत की दृष्टि से किया जा सकता है। धातु से स्तंभ का निर्माण होता है। रचना की दृष्टि से स्तंभ के कई भेद हैं। मुख्य क्रिया के भाव, समय, स्थिति को स्पष्ट करने वाली सहायक क्रिया। क्रिया द्वारा लिंग, वचन, पुरुष, अर्थ, वाच्य-प्रयोग

एवं काल की अभिव्यक्ति। हिंदी में पांच अर्थ, तीन वाच्य, तीन प्रयोग एवं कई काल। एक से अधिक क्रियार्थक शब्दों का नाम क्रियाबंध (संयुक्त क्रिया)। रचना एवं अर्थ की दृष्टि से क्रियाबंधों के अनेक भेद।

७.९ अपरिवर्तित शब्दांशों को अव्यय कहते हैं। हिंदी में अव्ययों के मुख्य भेद हैं: क्रिया-विशेषण, संबंधसूचक, समुच्चय बोधक, विस्मयादि बोधक।

७.१० वाक्यात्मक संरचना भाषा की सबसे महत्वपूर्ण संरचना है। वाक्यात्मक संरचना की मुख्य युक्तियां हैं पदों का वाक्य में स्थान अन्विति एवं नियमन। हिंदी वाक्य रचना संस्कृत वाक्य रचना से भिन्न हो गयी है।

८ लिपि एवं देवनागरी लिपि

●

- लिपि
- भाषा एवं लिपि का संबंध
- लिपि की उत्पत्ति
- लिपि के विकास की अवस्थाएं
  - —चित्रात्मक लिपि
  - —संकेतात्मक लिपि
  - —ध्वन्यात्मक लिपि
- ध्वन्यात्मक लिपि के भेद
  - —अक्षरात्मक लिपि
  - —वर्णात्मक लिपि
- संसार की प्रमुख लिपियां
  - —क्यूनीफार्म
  - —हीरोग्लाइफ़िक
  - —चीनी
  - —अरबी
  - —यूनानी
  - —रोमन
- भारत की प्राचीन लिपियां
  - —सैंधव
  - —खरोष्ठी
  - —ब्राह्मी
- देवनागरी लिपि
  - —विकास
  - —गुण-दोष
  - —सुधार

●

८.१ लिपि :

लिपि से तात्पर्य लिखित चिह्नों की उस व्यवस्था से है जिसके द्वारा भाषा को रूपायित किया जाता है।

लिपि मनुष्य की एक महत्वपूर्ण रचना है। लिपि के माध्यम से मनुष्य ने अपनी भाषा (अन्य शब्दों में भावों) को स्थायित्व प्रदान किया है। लिपि के कारण एक पीढ़ी को अपनी दूसरी पीढ़ी तक अपने विचार-अनुभव पहुंचाने में बड़ी सुविधा हुई है। मानव-संस्कृति के विकास में लिपि का महत्वपूर्ण योगदान है।

८.२ भाषा एवं लिपि का संबंध :

भाषा एवं लिपि परस्पर संबंधित होने पर भी एक वस्तु नहीं हैं। भाषा ध्वनि-प्रतीकों की व्यवस्था है जबकि लिपि लिखित चिह्नों की संरचना है। इस प्रकार भाषा में प्रयुक्त ध्वनि-चिह्नों का आधार भाव अथवा धारणा है लेकिन लिपि-चिह्नों का आधार भाव अथवा धारणा न होकर ध्वनियां होती हैं। अतः लिपि भाषा की भी भाषा है। भाव एवं भाषा में सीधा संपर्क होता है किंतु लिपि एवं भाव में भाषा के माध्यम से ही संपर्क स्थापित होता है। भाव, भाषा एवं लिपि के संबंध को इस प्रकार दर्शाया जा सकता है—

भाव←→भाषा←→लिपि

भाषा एवं लिपि में कोई तात्त्विक एवं अनिवार्य संबंध नहीं है। कोई भी भाषा किसी भी लिपि का प्रयोग कर सकती है। यह एक ऐतिहासिक आकस्मिकता है कि किसी एक विशेष भाषा के लिये किसी एक विशेष लिपि का प्रयोग होता है।

लिपि को न तो भाषा की चमड़ी मानना चाहिए और न ही उसकी पोशाक। चमड़ी शरीर का अनिवार्य अंग है। चमड़ी के बिना शरीर के अस्तित्व की कल्पना भी नहीं की जा सकती। लिपि एवं भाषा में ऐसा कोई संबंध नहीं है। पोशाक शारीरिक सौंदर्य में वृद्धि करती है एवं शरीर को ढकने का कार्य करती है। लिपि भाषा के सौंदर्य में वृद्धि नहीं करती। लिपि भाषा को अभिव्यक्ति प्रदान करती है। यदि तुलना ही करनी हो तो लिपि और भाषा की तुलना, चित्र एवं वास्तविक पदार्थ के साथ की जा सकती है। चित्र एवं लिपि दोनों ही रेखाबद्ध आकृतियां हैं। दोनों में मुख्य अंतर यह है कि चित्र, दृश्यात्मकता (द्रष्टव्य पदार्थ) की अभिव्यक्ति करता है जबकि लिपि ध्वन्यात्मक (ध्वनियों)

को आकृति प्रदान करती है। स्थानांतर (एक से दूसरे स्थान तक प्रसार) एवं समयांतर (एक समय से दूसरे समय तक प्रसार) का गुण चित्र एवं लिपि दोनों में है इसलिये लिपि को भाषा का चित्रात्मक रूपांतर कहा जा सकता है।

यह बात सही है कि भाषा एवं लिपि में कोई अनिवार्य संबंध नहीं होता किंतु एक बार कोई भाषा किसी लिपि का प्रयोग करना शुरू कर देती है तो वह उस लिपि को सरलता एवं शीघ्रता से छोड़ अथवा वदल नहीं सकती। इसका मुख्य कारण कारण यह है कि लिपि के बदलने से नयी पीढ़ियां अपने प्राचीन वाङ्मय से वंचित रह जाती हैं। जिस जाति की अपना प्राचीन वाङ्मय नहीं रहता वह जाति सांस्कृतिक दृष्टि से अनाथ समझी जातो है। किसी जाति को यह स्वीकार नहीं होता कि उसकी संतान सांस्कृतिक दृष्टि से अनाथ समझी जाय। इस लिये लिपि में किये जानेवाले किसी भी महत्वपूर्ण परिवर्तन का सदैव कड़ा विरोध होता है। देवनागरी में अपेक्षित सुधारों अथवा समस्त भारतीय भाषाओं के लिये देवनागरी के प्रयोग के विरोध का कारण भी यही है।

अपने वाङ्मय को अपरिवर्तित रखने की भावना के कारण ही भाषा-परिवर्तन की अपेक्षा लिपि-परिवर्तन की गति बहुत धीमी रहती है।

यद्यपि भाषा-ज्ञान एवं लिपि-ज्ञान दोनों ही अर्जित हैं, फिर भी दोनों के अर्जन में बड़ा अंतर है। भाषा-ज्ञान अनायास होता है (अपनी भाषा के ज्ञान को प्राप्त करने के लिये कोई इच्छापूर्वक प्रयत्न नहीं करना पड़ता) जबकि लिपि-ज्ञान सायास (लिपि का ज्ञान इच्छापूर्वक प्रयत्न करने से प्राप्त होता है) होता है। इसका मुख्य कारण भाषा एवं लिपि की भिन्न सृजनात्मक प्रक्रियाएं हैं। सृजन अथवा निर्माण की दृष्टि से भाषा अवैयक्तिक (उसका निर्माण किसी एक व्यक्ति अथवा व्यक्ति समूह द्वारा नहीं होता) है तथा लिपि वैयक्तिक (उसका निर्माण किसी एक व्यक्ति अथवा व्यक्ति समूह द्वारा होता है)।

भाषा मूल रूप से सामाजिक है। दो या दो से अधिक व्यक्तियों के उपस्थित होने पर ही भाषा का प्रयोग किया जा सकता है। लिपि के कारण भाषा प्रत्यक्ष रूप से व्यक्ति-सापेक्ष नहीं रही। लिपि के कारण ही लेखन एवं पठन की क्रियाओं का भाषा से सीधा संबंध जुड़ा है, मूल रूप से भाषा का संबंध केवल कथन की क्रिया से ही रहता है। लेखन एवं पठन भाषा से संबंधित ऐसी क्रियाएं हैं जो अकेले में भी की जा सकती हैं तथा जिनमें एक से अधिक व्यक्तियों की आवश्यकता नहीं रहती। लेखन एवं पठन की इस विशेषता के कारण भाषा की क्षमता बढ़ी है। साहित्य के निर्माण का आधार लेखन एवं पठन की क्रियाएं

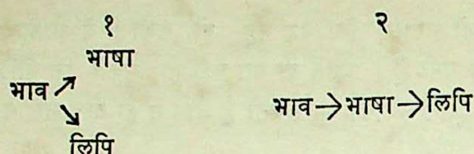
हैं। यही कारण है कि जो भाषाएं लिपिबद्ध नहीं हो सकीं हैं वे साहित्य के वरदान से प्रायः वंचित रह गयी हैं। इसमें दो मत नहीं हो सकते कि मौखिक साहित्य की परंपरा न तो इतनी व्यापक हो सकती है और न ही दीर्घकालीन।

८.३ लिपि की उत्पत्ति :

लिपि की उत्पत्ति संबंधी दो मत प्रचलित हैं। एक मत यह है कि लिपि का जन्म भाषा से पूर्व अथवा समानांतर हुआ। इस मत के माननेवालों का विचार है कि भाषा का प्रयोग करने से पूर्व मनुष्य हाथ, पांव आदि संकेतों द्वारा विचार अभिव्यक्त करता था। उन्हीं संकेतों के चित्रण से लिपि का जन्म हुआ है। इस प्रकार आरंभ में लिपि भावाभिव्यक्ति का साधन थी, भाषा-भिव्यक्ति का नहीं। ज्यों-ज्यों लिपि विकसित होती गई, उसका भावों से सीधा संपर्क छूटता गया एवं भाषा से उसका संबंध जुड़ता गया। आज पूर्ण विकसित लिपि (वर्णात्मक) का भावों से कोई सीधा संपर्क नहीं रहा है, उसका संपर्क केवल भाषा (ध्वनियों) से रह गया है।

दूसरे मत के माननेवालों का विचार है कि लिपि का जन्म भाषा के पश्चात ही हुआ है। इस विचार की पुष्टि इस बात से होती है कि मनुष्य समाज की ऐसी किसी अवस्था का पता नहीं चलता जिस अवस्था में मनुष्य भाषा का प्रयोग न करता हो। समय की जिस सीमा रेखा तक मनुष्य के सामाजिक जीवन की कल्पना की जा सकती है, उसी सीमा रेखा तक भाषा के अस्तित्व का अनुमान किया जा सकता है। अतः लिपि को भाषा से पूर्व अथवा सम-कालीन मानने का प्रश्न ही नहीं उठता। लिपि का जन्म भाषा के पश्चात हुआ है, इसका एक प्रमाण यह भी हैं कि आज भी संसार में ऐसी अनेक जातियां हैं जो भाषा का प्रयोग करती हैं किंतु जो लिपि-ज्ञान से वंचित हैं। इन विद्वानों की यह भी धारणा है कि स्वयं विचारात्मक प्रक्रिया के लिए भाषा की आव-श्यकता है। भाषा के अभाव में विचार कर सकना भी संभव नहीं है। इस प्रकार भाषा की प्राचीनता, विचारात्मक प्रक्रिया के समान ही प्राचीन है। जहां तक लिपि का संबंध है उसका इतिहास ६–७ हज़ार वर्षों से अधिक पुराना नहीं है। इन सब बातों के कारण अधिक विद्वान यही मानते हैं कि लिपि, भाषा की परवर्ती एवं अनुगामी है।

उपर्युक्त दोनों मतों को नीचे के दो रेखाचित्रों के द्वारा दर्शाया गया है—



८.४ लिपि के विकास की अवस्थाएं :

संसार में जितने भी आविष्कार हुए हैं, उन सब के विकास की प्रवृत्ति स्थूल से सूक्ष्म एवं सरल से जटिल की ओर रही है। लिपि का विकास इसका अपवाद नहीं है।

लिपि के विकास की मुख्य तीन अवस्थाएं दृष्टिगोचर होती हैं :—

(क) चित्रात्मक अवस्था

(ख) संकेतात्मक अवस्था

(ग) ध्वन्यात्मक अवस्था

८.४.१ चित्रात्मक अवस्था (चित्रलिपि) :

लिपि की आरंभिक अवस्था चित्रात्मक थी। इस अवस्था में लिपि-चिह्नों के रूप में चित्रों का प्रयोग होता था। चित्रों के प्रयोग के कारण इस अवस्था की लिपि को 'चित्रात्मक लिपि' अथवा 'चित्रलिपि' कहा जाता है।

इस अवस्था में जिन चित्रों का प्रयोग होता था वे सरल एवं स्थूल थे। इन चित्रों में 'जैसा पदार्थ वैसा चित्र' की प्रवृत्ति विद्यमान थी। इस कारण ये चित्र सर्वग्राही थे। चित्रों में प्रतीकात्मकता बहुत कम थी। प्रातः की अभिव्यक्ति के लिए उगते सूर्य का चित्र खींच दिया जाता था। आंसू बहाती आंखों के चित्र से दुःख की अभिव्यक्ति कर ली जाती थी। 'पदार्थ के समान चित्र' की प्रवृति के कारण विभिन्न देशों की चित्रलिपियों में पर्याप्त समानता पायी जाती है।

यद्यपि चित्रलिपि सरल एवं सर्वग्राही थी किंतु वह अत्यंत सीमित थी। चित्रों के माध्यम से स्थूल पदार्थों एवं क्रियाओं का चित्रण करना तो संभव था किंतु सूक्ष्म भावों की अभिव्यक्ति इन चित्रों से नहीं हो पाती थी। फिर चित्र श्रम एवं योग्यता साध्य थे। हरेक व्यक्ति चित्र नहीं बना सकता था। चित्र-लिपि की सीमाओं ने ही लिपि के विकास के अगले चरण के लिए मार्ग प्रशस्त किया।

८.४.२ संकेतात्मक अवस्था (संकेतलिपि) :

विकास की दूसरी अवस्था में लिपि संकेतात्मक बन गई। इस अवस्था में चित्रलिपि की कठिनाइयां किसी सीमा तक दूर हो गईं। इस अवस्था में जिन चिह्नों का प्रयोग किया जाता था, वे पदार्थ के अनुरूप न होकर पदार्थों का मात्र संकेत करने वाले रहते थे। सूर्य के लिए सूर्य का पूरा चित्र न खींचकर मात्र कुछ तिरछी रेखाएं खींच ली जातीं या पर्वत का संकेत करने हेतु एक खड़ी (⊥) का चित्रण होता।

संकेत-प्रधान होने के कारण, इस अवस्था की लिपि संकेत लिपि कही जाती है। चित्रों की अपेक्षा संकेत खींचना सरल था, इस दृष्टि से संकेत लिपि, चित्रलिपि की अपेक्षा सरल बन गई किंतु संकेतों के फलस्वरूप लिपि का सर्वग्राही गुण समाप्त हो गया। देखने मात्र से संकेतों का अर्थ लगाना सरल नहीं था। संकेतात्मकता के कारण लिपि सामान्य से विशिष्ट एवं सरल से जटिल हो गयी।

८.४.३ ध्वन्यात्मक अवस्था (ध्वन्यात्मक लिपि) :

लिपि विकास की तीसरी अवस्था तब आती है जब लिपि-चिह्नों का संबंध ध्वनि से जुड़ जाता है। चित्रलिपि के चित्र तथा संकेत लिपि के संकेत अर्थपूर्ण हुआ करते थे। इसके विपरीत, ध्वन्यात्मक लिपि के चिह्न किसी अर्थपूर्ण इकाई की अभिव्यक्ति न कर, उन ध्वनियों की अभिव्यक्ति करते हैं जो अपने आप में अर्थपूर्ण नहीं होती किंतु एक विशेष क्रम में प्रयुक्त होने पर ही उनसे अर्थ की अभिव्यक्ति होती है। उदाहरणार्थ देवनागरी में 'पर्वत' लिखने से एक पदार्थ विशेष (पर्वत) का बोध न होकर एक विशेष ध्वनि समूह (प् + अ + र् + व् + अ + त्) का बोध होता है। इस समूह की प्रत्येक ध्वनि अपने आप में निरर्थक है। जैसे 'प्' का कोई अर्थ नहीं है। एक विशेष क्रम में प्रयुक्त होने के कारण उनमें अर्थवत्ता उत्पन्न हुई है। पदार्थों एवं भावों (अर्थपूर्ण इकाइयों) के बंधन से मुक्त हो जाने के कारण, लिपि की सीमाएं समाप्त हो गईं और भाषा के समान ही लिपि की अभिव्यक्ति—क्षमता असीम हो गयी।

ध्वनि-संबद्ध होने के कारण इस अवस्था की लिपि ध्वन्यात्मक कहलायी।

ध्वन्यात्मक लिपि की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसमें भाषा की किसी भी ध्वनि का ठीक-ठीक अंकन करने की क्षमता रहती है। इस कारण

भाषा के माध्यम से जिन सूक्ष्म भावों को अभिव्यक्त किया जा सकता है, लिपि के द्वारा उनका अंकन संभव होता है।

८.५ ध्वन्यात्मक लिपि के भेद :

विकास की दृष्टि से ध्वन्यात्मक लिपि के दो भेद हैं—

(क) अक्षरात्मक लिपि (Syllabic)

(ख) वर्णात्मक लिपि (Alphabatic)

८.५.१ अक्षरात्मक लिपि :

अक्षर, ध्वनियों (एक या एक से अधिक) की उस इकाई को कहते हैं, जिसका उच्चारण बिना किसी व्यवधान के, सांस के एक ही झटके से होता है। मोटे रूप से प्रत्येक स्वर (व्यंजन सहित अथवा व्यंजन रहित) अक्षर की रचना करता है।

अक्षरात्मक लिपि वह है जिसमें प्रत्येक लिपि चिह्न एक अक्षर की अभिव्यक्ति करता है; अर्थात् प्रत्येक लिपि चिह्न से किसी स्वर अथवा व्यंजन युक्त स्वर की अभिव्यक्ति होती है। उदाहरणार्थ देवनागरी लिपि का 'ऋ' चिह्न 'र्' व्यंजन युक्त 'इ' (ऋ = र् + इ) की अभिव्यक्ति करता है, अतः 'ऋ' अक्षरात्मक चिह्न है। वैसे ही देवनागरी के मात्रारहित व्यंजन चिह्न (क, च, ट, त, प आदि) अक्षरात्मक चिह्न हैं क्योंकि प्रत्येक चिह्न व्यंजन युक्त स्वर (क = क् + अ) की अभिव्यक्ति करता है।

८.५.२ वर्णात्मक लिपि :

वर्णात्मक लिपि से तात्पर्य ऐसी लिपि से है जिसमें प्रत्येक लिपि चिह्न (अर्थात वर्ण) एक ही ध्वनि (स्वर अथवा व्यंजन) की अभिव्यक्ति करता है अर्थात एक लिपि-चिह्न से सदैव अकेली ध्वनि की अभिव्यक्ति होती है, ध्वनि-योगों (स्वर युक्त व्यंजन) की नहीं। उदाहरणार्थ रोमन लिपि (जिसमें अंग्रेज़ी लिखी जाती है) के प्रत्येक वर्ण (K, P, T, A आदि) से एक अकेली ध्वनि का ही बोध होता है। अतः रोमन वर्णात्मक लिपि है। देवनागरी के ऋ, ॠ तथा अ स्वर युक्त व्यंजनों (क, च, ट, त, प आदि) को यदि अपवाद मानकर छोड़ दिया जाय तो देवनागरी भी वर्णात्मक लिपि ही दिखेगी। जैसे 'काली'

शब्द में चार जिह्न हैं और ये चार ध्वनियों का प्रतिनिधित्व करते हैं (क=क्, ा=आ, ल=ल्, ी=ई)।

संरचनात्मक दृष्टि से देखा जाय तो लिपि का वर्णात्मक रूप उसका चरम विकसित रूप है। चित्रलिपि एक प्रकार से भावात्मक लिपि थी। प्रत्येक चित्र एक पूरे विचार अथवा धारणा का बोध कराता था। संकेतात्मक लिपि एक प्रकार से रूपात्मक लिपि थी जिसमें प्रत्येक लिपि-चिह्न किसी अर्थपूर्ण इकाई को अभिव्यक्ति प्रदान करता था। अक्षरात्मक लिपि के चिह्न ध्वनि संयोगों (स्वर युक्त व्यंजन) को अभिव्यक्त करते थे। वर्णात्मक लिपि का प्रत्येक चिह्न अकेली ध्वनि को रूपायित करता है।

वर्णात्मक लिपि की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसमें प्रत्येक ध्वनि के लिये स्वतंत्र लिपि चिह्न होता है। इस कारण भाषा (ध्वनियों) एवं लिपि के परस्पर संबंध का विश्लेषण अधिक सही ढंग से किया जा सकता है।

८.६ संसार की प्रमुख लिपियां :

प्राचीन काल से अब तक संसार में अनेक लिपियों का प्रयोग हुआ है। उन में से कुछ मुख्य लिपियों (भारतीय लिपियों को छोड़कर) का परिचय यहां दिया जा रहा है।

८.६.१ क्यूनीफार्म लिपि :

यह संभवतः संसार की प्राचीनतम लिपि है। ऐसा समझा जाता है कि इसका आविष्कार सुमेरियन ने किया था। ऐसा माना जाता है कि इसका जन्म आज से लगभग ६००० वर्ष पूर्व हुआ था। इस लिपि के चित्र तिकोनी रेखाओं से निर्मित होते थे जो गीली मिट्टी की ईंटों पर खींचे जाते थे। यह प्राचीन बेबिलोनियां की लिपि थी।

८.६.२ हीरोग्लाइफ़िक लिपि :

हीरोग्लाइफ़िक, प्राचीन मिस्र की लिपि थी। संसार की प्राचीनतम लिपियों में इस लिपि का महत्त्वपूर्ण स्थान है। ईसा पूर्व ४००० वर्ष इस लिपि का प्रयोग होता था।

यह लिपि भी मूल रूप से चित्रात्मक थी। इस लिपि के प्राचीनतम लेख मंदिरों की दीवारों पर खीलों से खुदे हुए हैं।

८.६.३ चीनी लिपि :

संसार की प्रचीन लिपियों में चीनी लिपि का मुख्य स्थान है। यह एक ऐसी प्राचीन लिपि है जिसका प्रयोग आज भी हो रहा है (कुछ सुधारों सहित)। चीनी भी मूल रूप से चित्रात्मक लिपि है। इसे रूपात्मक लिपि कहा जाता है क्योंकि इस लिपि का प्रत्येक चित्र किसी न किसी अर्थपूर्ण इकाई (शब्द) को अभिव्यक्त करता है।

चीनी लिपि लगभग ५००० वर्ष पुरानी है। चीनी लिपि में हज़ारों चित्रों का प्रयोग करना पड़ता है इस कारण यह अत्यंत कठिन लिपि है।

८.६.४ अरबी लिपि :

संसार की प्रसिद्ध लिपियों में अरबी लिपि की भी गणना की जाती है। संसार के अनेक देशों में इस लिपि का प्रचलन है। भारत की उर्दू, कश्मीरी तथा सिंधी लिपियों का आधार भी अरबी लिपि है। तुर्की (प्राचीन), फारसी एवं पश्तो के लिए इस लिपि का प्रयोग होता है।

यह लिपि प्राचीन सामी लिपि से संबंधित है। अरबी लिपि के जन्म के संबंध में निश्चयपूर्वक कहना कठिन है किंतु इतना निश्चित है कि ईसा की पांचवीं शताब्दी तक इसका जन्म हो चुका था।

यह लिपि ध्वन्यात्मक है। इस लिपि में व्यंजनों की प्रधानता है। स्वरों की अभिव्यक्ति के लिए इस लिपि में समुचित व्यवस्था नहीं हैं। यह लिपि दाएं से बाएं लिखी जाती हैं।

८.६.५ यूनानी लिपि :

प्राचीन सामी लिपि से विकसित आर्माइक लिपि से यूनानी लिपि का संबंध है। आज से लगभग तीन हजार वर्ष पूर्व यूनानी लिपि का जन्म हुआ था। यह बाएं से दाएं लिखी जाती थी।

८.६.६ रोमन लिपि :

रोमन लिपि को लैटिन लिपि भी कहा जाता है। रोमन संसार की सबसे अधिक महत्वपूर्णँ एवं बहुप्रचलित लिपि है।

इस लिपि का संबंध भी सामी लिपि की उत्तरी शाखा से है। ऐसा माना जाता हैं कि ईसा पूर्व ७वीं शताब्दी तक इस लिपि का विकास हो चुका था।

इस लिषि का प्रयोग अंग्रेजी, फ्रांसीसी, स्पेनी; जर्मन, पुर्तगाली आदि अनेक भाषाओं के लिए होता है।

रोमन लिपि वर्णात्मक है। इल कारण संसार की श्रेष्ठ लिपियों में इसका मुख्य स्थान है। रोमन लिपि में इस समय २६ वर्ण हैं तथा यह बाएं से दाएं लिखी जाती है।

८.७ भारत की प्राचीन लिपियां :

यह बात अब निर्विवाद रूप से मानी जाने लगी है कि बहुत प्राचीन काल से ही भारत में लेखन का प्रयोग होता था। यों तो विदेशी यात्रियों के वर्णनों एवं जैन तथा बौद्ध धर्मग्रंथों में भारत की अनेक प्राचीन लिपियों का उल्लेख मिलता है किंतु उन समस्त लिपियों के अस्तित्व के पुष्ट प्रमाण उपलब्ध नहीं होते।

प्राचीन काल की जिन मुख्य लिपियों के अधिकाधिक प्रमाण प्राप्त होते हैं वे हैं—सैंधव लिपि, खरोष्ठी लिपि एवं ब्राह्मी लिपि।

८.७.१ सैंधव लिपि :

सिंध के 'मोहन जो दड़ो' एवं पंजाब के 'हड़प्पा' स्थानों की खुदाई से प्राप्त मुहरों एवं अन्य पदार्थों पर प्राप्त लिपि-चिह्नों को सैंधव लिपि अथवा सिंधु घाटी की लिपि कहा जाता है। इस लिपि को भारत की प्राचीनतम लिपि माना जा सकता है। इस लिपि का समय ईसा पूर्व ३५०० वर्ष के आस पास माना जाता है।

इस लिपि की उत्पत्ति के संबंध में अनेक मत प्रचलित हैं। कुछ विद्वान इसे द्रविड़ मूलक मानते हैं, कुछ अन्य विद्वान इसका संबंध सुमेरिया से जोड़ते हैं। कुछ ऐसे भी विद्वान हैं जो इसे आर्य जाति का आविष्कार स्वीकार करते हैं। वास्तव में इस लिपि को निश्चित रूप से अभी तक कोई पढ़ ही नहीं पाया है। इस कारण इस लिपि के संबंध में कुछ भी निश्चित रूप से कह सकना कठिन है।

८.७.२ खरोष्ठी लिपि :

जिन दो लिपियों में प्राचीन शिलालेख मिलते हैं, वे हैं खरोष्ठी एवं ब्राह्मी। खरोष्ठी के शिलालेख ईसा पूर्व ४थी शताब्दी के आसपास प्राप्त होते हैं। इस लिपि के प्राचीनतम लेख शहबाजगढ़ी एवं मनसेरा में प्राप्त हुए हैं।

खरोष्ठी नाम

'खरोष्ठी' नाम के संबंध में बहुत-सी अटकलें लगायी जाती हैं। कुछ विद्वान इसकी व्युत्पत्ति खर-ओष्ट (गधे के होठों जैसी बेढंगी) मानते हैं। कुछ अन्य विद्वानों के विचार से इसका मूल 'खर-पोश्त' अथवा 'खर पृष्ठी' (गधे की खाल पर लिखी जाने के कारण) मानते हैं। कुछ 'खरोष्ठ' नामक व्यक्ति द्वारा इसका आविष्कार मानते हैं, तो दूसरों के विचार से 'खरोष्ठ' नामक सीमा-प्रांत में इसका प्रयोग होता था। तर्कपूर्ण मत दो हैं। एक मत यह हैं कि आर्माइक शब्द 'खरोट्ठ' से इसका विकास हुआ है। दूसरा मत यह है कि हिब्रू के 'खरोशेथ = लिखावट' से इसका संबंध है।

खरोष्ठी की उत्पत्ति

खरोष्ठी की उत्पत्ति के संबंध में मुख्य दो मत हैं। बूलर, डिरिंजर, ओझा आदि विद्वान इसका आधार आर्माइक लिपि मानते हैं। राजबली पांडेय इसे शुद्ध भारतीय मानते हैं। बूलर ने आर्माइक के साथ खरोष्ठी के अनेक वर्णों की तुलना कर अपने मत का ठोस प्रमाण प्रस्तुत किया है।

ऐसा समझा जाता है कि आरंभ में खरोष्ठी दाएं से बाएं लिखी जाती थी, फिर ब्राह्मी लिपि के प्रभाव के कारण बाएं से दाएं भी लिखी जाने लगी। ईसा की ३—४थी शताब्दी के पश्चात इस लिपि का प्रयोग नहीं मिलता।

८.७.३ ब्राह्मी लिपि :

ब्राह्मी लिपि भारत की प्रसिद्ध प्राचीन लिपि थी। इसका प्राचीनतम लेख ईसा पूर्व ५वीं शताब्दी का माना जाता है। अपने प्राचीन रूप में इस लिपि का प्रयोग ईसा की ४थी शताब्दी तक होता रहा। कुछ को छोड़कर भारत की आधुनिक लिपियों का विकास ब्राह्मी लिपि से ही हुआ है।

ब्राह्मी नाम

'ब्राह्मी' नाम के संबंध में अनेक विचार हैं। कुछ के विचार से 'ब्राह्मणों' द्वारा मुख्य रूप से प्रयुक्त होने के कारण यह ब्राह्मी कहलायी। दूसरे विद्वान मानते हैं कि 'ब्रह्म' (ज्ञान) की रक्षा का साधन होने के कारण इसका यह नाम पड़ा। चीनी विश्वकोश में 'ब्रह्म' अथवा 'ब्रह्मा' नामक व्यक्ति इसका आविष्कारक माना गया है। अधिक मान्य धारणा यह है कि धार्मिक भावना के कारण सृष्टिकर्ता ब्रह्मा से इसके निर्माण का संबंध जोड़कर इसका यह नाम रखा गया है।

ब्राह्मी की उत्पत्ति

ब्राह्मी की उत्पत्ति के संबंध में बड़ा विवाद है। बहुत से विदेशी विद्वान इसे विदेशी मूल का मानकर इसका संबंध चीनी, आर्माइक, फोनीशियन, सामी, अरबी आदि लिपियों से जोड़ने का प्रयत्न करते हैं। इनमें से केवल उत्तरी सामी से इसका संबंध जोड़ने का थोड़ा-बहुत आधार प्राप्त हो सका है। उत्तरी सामी से ब्राह्मी का संबंध जोड़ने वालों में बूलर का नाम मुख्य है। अपने मत के समर्थन में बूलर ने सामी लिपि के वर्णों की रेखाओं को घुमा-फिरा कर उनकी ब्राह्मी लिपि के वर्णों से साम्यता दिखाने का प्रयत्न किया है। साथ ही बूलर का कथन है कि भारत में ईसा पूर्व ५वीं शताब्दी से पहले लिपि का प्रचलन नहीं था। बूलर ने अपने मत के समर्थन में यह भी दिखाया है कि शिलालेखों में ब्राह्मी के ऐसे नमूने भी मिलते हैं जिनमें वह सामी लिपि के समान दाएं से बाएं लिखी गयी है।

बूलर के समस्त तर्कों का उत्तर देकर भारतीय विद्वानों ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि ब्राह्मी पूर्ण रूप से भारतीय लिपि है। यह प्रमाणों द्वारा पुष्ट हो चुका है कि भारत में लेखन कला का प्रचलन बहुत प्राचीन काल में था। सामी एवं ब्राह्मी के वर्णों में जो समानता बूलर ने दिखायी है वह तर्क की अपेक्षा आग्रह पर आधारित है। दाएं से बाएं लिखने के उदाहरणों की अपेक्षा बाएं से दाएं लिखने के उदाहरण बहुत अधिक हैं। दाएं से बाएं लिखे हुए कुछ अक्षर ही मिलते हैं, पूरा लेख नहीं। इसका कारण लिखनेवाले की नवीन प्रयोग-प्रवृत्ति भी हो सकती है।

अंत में इतना कहना ही उचित होगा कि ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति के संबंध में निश्चित प्रमाणों का अब भी अभाव है। जो प्रमाण मिलते हैं, वे उसके स्वदेशी होने का ही समर्थन करते हैं।

ब्राह्मी लिपि का विकास

ब्राह्मी लिपि के विकास के तीन सोपान माने जा सकते हैं:

प्रथम सोपान—(ईसा पूर्व ५०० से ईसा ३५० तक)

द्वितीय सोपान—(ईसा पूर्व ३५० से ईसा १००० तक)

तृतीय सोपान—(ईसा १००० के पश्चात)

ब्राह्मी लिपि का प्राचीनतम लेख ईसा पूर्व ५०० के आसपास का है। तब से लेकर ईसा की ४थी शताब्दी तक इस लिपि का प्रयोग ब्राह्मी के नाम से होता रहा। इस अवस्था में इसका प्रयोग-स्थल उत्तर-भारत ही था।

इस लिपि के विकास का दूसरा चरण ईसा की ४थी शताब्दी से आरंभ होता है, जब इस लिपि की उत्तरी एवं दक्षिणी दो शाखाएं हो जाती हैं। उत्तरी शाखा की लिपि ४–५वीं शताब्दी में गुप्त सम्राटों के प्रभाव के कारण 'गुप्त लिपि' कहलायी तथा इसी लिपि के विकसित रूप को (६–७वीं शताब्दी) 'कुटिल लिपि' की संज्ञा दी गयी। ९वीं शताब्दी के आसपास, इस लिपि से प्राचीन नागरी एवं १०वीं शताब्दी के निकट इससे कश्मीर की लिपि शारदा का विकास हुआ।

इस अवधि में दक्षिणी शाखा से प्राचीन तेलुगु, प्राचीन ग्रंथी, प्राचीन तमिल एवं नंदी नागरी लिपियों का विकास हुआ।

ब्राह्मी लिपि के विकास का तीसरा चरण १०वीं शताब्दी के आसपास माना जाता है, जब आधुनिक लिपियों का विकास होता है।

इस अवस्था में इसकी उत्तरी शाखा से टकिरी, डोगरी (कश्मीर), लंडा, मुल्तानी, वाणिकी, गुरुमुखी (सिंध-पंजाब), गुजराती (गुजरात), महाजनी (राजस्थान), मोड़ी (महाराष्ट्र), कैथी (बिहार), बंगला (बंगाल), असमिया (असम), मैथिली (प्राचीन मिथिला प्रदेश), उड़िया (उड़ीसा), मणीपुरी (मणीपुर), नागरी (मध्य देश) आदि लिपियों का विकास होता है। इसकी दक्षिणी शाखा से वर्तमान तमिल, तेलुगु, एवं ग्रंथी आदि लिपियों का जन्म होता है।

८.८ देवनागरी लिपि :

इस लिपि का नागरी अथवा देवनागरी नाम कैसे पड़ा, इस संबंध में निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। हां, इस नाम के संबंध में अनेक अनुमान लगाए गए हैं, जिनमें से कुछ इस प्रकार हैं।

गुजरात के नागर ब्राह्मणों द्वारा प्रयुक्त होने के कारण इसका नाम 'नागरी' पड़ा।

नगरों में प्रयुक्त होने के कारण यह 'नागरी' कहलायी।

देवनगरों में प्रयुक्त होने के कारण इस लिपि को 'देवनागरी' कहा गया।

देवनगरी काशी में इसके प्रयोग के कारण इसे 'देवनागरी' कहा गया।

जैसा कि ऊपर कहा गया है देवनागरी संबंधी उपर्युक्त समस्त मत अनुमान पर ही आधारित हैं, इनके लिए कोई तार्किक आधार नहीं

८.८.१ देवनागरी लिपि का विकास :

आधुनिक देवनागरी लिपि का विकास १२वीं शताब्दी के निकट, प्राचीन नागरी लिपि से हुआ। इस लिपि का प्रयोग हिंदी के अतिरिक्त आधुनिक मराठी तथा नेपाली के लिए भी होता है। प्राचीन भाषाओं, संस्कृत, पालि, प्राकृत के लिए भी इसी लिपि का प्रयोग होता था। गुजराती, महाजनी एवं राजस्थानी लिपियां एक प्रकार से देवनागरी का ही रूप हैं। देवनागरी स्वतंत्र भारत की राष्ट्रलिपि है।

१२वीं शताब्दी से आज तक देवनागरी के रूप में बहुत कम परिवर्तन हुआ है। फारसी एवं अंग्रेजी के प्रभाव से कुछ नवीन ध्वनियों के हिंदी में आ जाने से देवनागरी लिपि में भी कुछ परिवर्तन हुआ है।

८.८.२ देवनागरी के गुण-दोष :

इसमें कोई संदेह नहीं कि देवनागरी संसार की श्रेष्ठ लिपियों में से एक है। यह एक ध्वन्यात्मक लिपि है जिसमें अक्षरात्मक एवं वर्णात्मक लिपियों की विशेषताएं पाई जाती हैं। नीचे देवनागरी लिपि के गुणों एवं दोषों का वर्णन किया जा रहा है।

८.८.२.१ देवनागरी के गुण (विशेषताएं अथवा वैज्ञानिकता) :

(क) यह एक व्यवस्थित ढंग से निर्मित लिपि है।

(ख) ध्वनियों का क्रम वैज्ञानिक है। स्पर्श ध्वनियों के वर्णन में प्रथम वर्ग कंठ्य ध्वनियों का है एवं अंतिम वर्ग ओष्ठ्य ध्वनियों का है। प्रत्येक वर्ग में अल्पप्राण ध्वनि के पश्चात महाप्राण ध्वनि सूचक-चिह्न हैं (यथा क, ख) तथा प्रत्येक वर्ग की ध्वनियों में पहले अघोष ध्वनियों एवं उसके पश्चात सघोष ध्वनियों का उल्लेख है (प्रत्येक वर्ग की प्रथम दो ध्वनियां अघोष तथा अंतिम तीन ध्वनियां सघोष हैं)। प्रत्येक वर्ग की नासिक्य ध्वनि (ङ, न, म आदि), उस वर्ग के अंत में है।

(ग) अल्पप्राण एवं महाप्राण ध्वनियों के लिए अलग-अलग लिपि चिह्न हैं (यथा—क, ख)।

(घ) छपाई एवं लिखाई के लिए एक ही रूप है।

(ङ) स्वरों में ह्रस्व-दीर्घ का भेद है। स्वरों की मात्राएं निश्चित हैं।

(च) प्रत्येक ध्वनि के लिए अलग लिपि-चिह्न है।

(छ) एक ध्वनि के लिए एक ही लिपि-चिह्न है (रोमन में एक ध्वनि के लिए एक से अधिक चिह्न प्रयुक्त होते हैं। यथा 'क' सूचक ध्वनि के लिए K--kite 'काईट' एवं C—cat 'कैट')।

(ज) एक लिपि चिह्न से सदैव एक ही ध्वनि की अभिव्यक्ति होती है (रोमन में एक लिपि चिह्न से एक से अधिक ध्वनियों की अभिव्यक्ति होती है। यथा—C से 'क' एवं 'स' ध्वनियों का बोध होता है—cat-'कैट', cent-'सेन्ट')।

(ञ) उच्चारण एवं प्रयोग में समानता है (रोमन में ऐसा नहीं है। यथा-उच्चारण 'एच्छ', प्रयोग 'ह')।

(ट) केवल उच्चरित ध्वनियों के लिए लिपि चिह्न हैं। (रोमन में अनुच्चरित ध्वनियों के लिए भी लिपि चिह्न हैं। यथा—walk में 'ल' का उच्चारण नहीं है किंतु 'L' का प्रयोग हुआ है)।

(ठ) पर्याप्त मात्रा में लिपि चिह्न (१० स्वर चिह्न, ३३ व्यंजन चिह्न, एक अनुस्वार, एक अनुनासिक एवं विसर्ग का चिह्न) होने के कारण विभिन्न भाषाओं की ध्वनियों का अंकन करने की क्षमता है।

८.८.२.२ देवनागरी के दोष (त्रुटियां अथवा अवैज्ञानिकता) :

देवनागरी में जहां अनेक गुण है, वहां वैज्ञानिकता, त्वरालेखन, मुद्रण, टंकण आदि की दृष्टि से उसमें कुछ दोष अथवा त्रुटियां भी हैं। इन दोषों में से कुछ मुख्य दोषों का उल्लेख यहां किया जाता है।

(क) यह पूर्ण रूप से वर्णात्मक नहीं है, इस कारण इसके वैज्ञानिक विश्लेषण में कठिनाई उत्पन्न होती है।

(ख) इसकी लिखावट अधिक स्थान एवं समय साध्य है। इस कारण त्वरालेखन, मुद्रण एवं टंकण के लिए यह उतनी उपयुक्त नहीं है।

(ग) स्वरों की मात्राओं को नीचे-ऊपर, दाएं-बाएं लिखने के कारण इसकी, लिखावट कठिन है।

(घ) लिपि-चिह्नों में अनेक रूपता है (यथा—अः अ, णः ण, झः झ, लः ल, आदि)।

(ङ) कुछ चिह्नों के रूप समान होने के कारण भ्रम उत्पन्न करते हैं (यथा—ख, रव)।

(च) कुछ ऐसे चिह्नों का प्रयोग होता है, जिनसे संबंधित ध्वनियां हिंदी में नहीं हैं (यथा—ऋ, ॠ, ष आदि)।

(छ) कुछ अनावश्यक चिह्न हैं (यथा—क्ष, त्र, ज्ञ–संयुक्त ध्वनि चिह्न)।

(ज) 'र' के अनेक रूप हैं (राम, प्रकाश, राष्ट्र, कृष्ण, धर्म) जो अनावश्यक हैं।

(झ) संयुक्त व्यंजनों की लिखावट भ्रम उत्पन्न करती है। यथा—'धर्मी' में 'र' का उच्चारण 'म' से पूर्व होता है किंतु लिखा 'म' के पश्चात जाता है।

(ञ) उच्चारण की दृष्टि से स्वरों की मात्राएं व्यंजनों के पीछे लगनी चाहिए किंतु वे व्यंजनों के आगे, पीछे, नीचे, ऊपर लगती हैं।

(ट) 'इ' स्वर की मात्रा व्यंजन से पूर्व लगाई जाती है, जबकि उसका उच्चारण व्यंजन के पश्चात होता है।

(ठ) लिपि चिह्नों की मात्रा यों ही अधिक है फिर पूरे स्वर एवं मात्रा के भिन्न-भिन्न चिह्न तथा व्यंजनों के पूरे एवं आधे रूपों के भिन्न चिह्न के कारण लिपि-चिह्नों की संख्या बहुत बढ़ जाती है, जिससे लिपि सीखने में कठिनाई होती है।

८.८.३ देवनागरी में सुधार :

देवनागरी की उपर्युक्त त्रुटियों का विचार करने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि देवनागरी लिपि में सुधार की आवश्यकता है। यों सुधार की दिशा में कई व्यक्तिगत, संस्थागत एवं प्रशासकीय प्रयत्न हुए हैं।

व्यक्तिगत रूप से प्रयत्न करनेवालों में मुख्य नाम सुनीति कुमार चटर्जी, श्रीनिवास, गोरख प्रसाद, सावरकर बंधुओं के हैं। सुनीति कुमार चटर्जी ने रोमन लिपि में देवनागरी के वर्णों को लिखने का सुझाव दिया जो सर्वथा अव्यवहारिक था क्योंकि इसे स्वीकार करने से प्राचीन साहित्य से संबंध टूट जाएगा, जन-सामान्य को सीखने में असुविधा होगी, अगली पीढ़ी को दो लिपियां सीखनी पड़ेंगी (संस्कृत, प्राकृत के वाङ्मय से परिचित रहने के लिए) तथा रोमन लिपि में सुधार करने होंगे। श्रीनिवासजी ने महाप्राण 'ह' (h) के लिए एक चिह्न के प्रयोग का सुझाव दिया (c– क=ख) यह भी देवनागरी में आमूल परिवर्तन करना था, अतः अमान्य था। डॉ० गोरख प्रसाद ने मात्राओं को शब्दों में दाहिनी ओर लिखने तथा शिरोरेखा के हटाने के सुझाव दिए।

इससे छपाई में तो सुविधा होती थी किंतु लिपि की कलात्मकता नष्ट होती थी, तथा कुछ अक्षरों में समानता होने के कारण उन्हें पढ़ना कठिन होता था। सावरकर बंधुओं ने 'अ' की बारहखड़ी को उपयोग में लाने का सुझाव दिया किंतु वह भी अमान्य रहा।

संस्थागत प्रयत्नों के संदर्भ में हिंदी साहित्य सम्मेलन-प्रयाग, राष्ट्रभाषा प्रचार समिति-वर्धा और नागरी प्रचारिणी सभा-काशी के नाम उल्लेखनीय हैं।

हिंदी साहित्य सम्मेलन की ओर से १९३५ में महात्मा गांधी के सभापतित्व तथा काका कालेलकर के संयोजकत्व में जो सभा हुई उसके सुझाव थे— शिरो-रेखा-विहीनता, मात्राओं का पंक्ति में पृथक् लगाना (उपया`ग), संयु-क्ताक्षरों के उच्चारणक्रम से लिखना (प्रदेश = प्रदेश), 'अ' की बारहखडी (अ, आ, अि, अी, अु, अू आदि), पूर्ण अनुस्वार के लिए '॰' तथा अनुनासिकता के लिए बिंदी '-' का प्रयोग। नागरी प्रचारिणी सभा ने प्रयत्न तो किया किंतु विद्वानों के सहयोग के अभाव में कुछ न हो सका। तत्पश्चात्य इस समिति ने श्रीनिवास जी के सुझावों से सहमत होकर उनकी पुष्टि की। इसी प्रकार राष्ट्रभाषा प्रचार समिति ने भी हिंदी साहित्य सम्मेलन द्वारा प्रस्तावित सुझावों की पुष्टि तथा प्रचार किया।

प्रशासकीय रूप से तीन प्रयत्न हुए—हिंदुस्तानी शीघ्रलिपि तथा लेखन-यंत्र-समिति (१९४८) का प्रयत्न, उत्तर-प्रदेश सरकार का प्रयत्न तथा आचार्य नरेंद्रदेव-समिति का प्रयत्न। इनमें ठोस रूप से किए गए प्रयत्न केवल नरेंद्रदेव समिति के थे। इस समिति ने लिपि को जटिल, विकृत तथा अवैज्ञानिक रूप प्रदान करनेवाले सुझावों—'अ' की बारहखड़ी, शिरोरेखा-विहीनता को आमान्य कर दिया। निम्नलिखित प्रस्ताव स्वीकार किए गए—

(१) मात्राओं को पंक्ति में पृथक् लगाना (प्रदे`श)।

(२) अनुस्वार के लिए शून्य '॰', तथा अनुनासिकता के लिए '-'। अनुनासिक वर्णों को अपने वर्ग के व्यंजन के पूर्ववर्ती होने पर उसके स्थान पर अनुस्वार का प्रयोग।

(३) संयुक्त रूप में वर्णों की खड़ीपाई को हटा देना, क, फ, के अतिरिक्त सबको हलन्त रूप में लिखना (विद्वान)।

(४) अ के स्थान पर अ, भ के स्थान पर भ, ध के स्थान पर ध, क्ष के स्थान पर क्ष तथा त्र के स्थान पर त्र, का प्रयोग हो।

उत्तर प्रदेश की सरकार ने इनमें से कुछ सुधारों को स्वीकार कर अपनी पुस्तकों द्वारा उनका प्रचार कराना चाहा किंतु बहुत कुछ जनता द्वारा मान्य नहीं हुआ। अभी तक प्रायः प्राचीन रूप ही प्रचलित है।

यह पहले ही बताया जा चुक है कि लिपि में परिवर्तन करना सरल नहीं है, क्योंकि लिपि के माध्यम से साहित्य का संरक्षण एवं प्रसारण होता है। लिपि-परिवर्तन से साहित्य की अविच्छिन्न परंपरा विच्छिन्न अथवा खंडित हो जाती है। इस प्रकार की साहित्यिक विच्छिन्नता किसी को सरलता से स्वीकार नहीं होती। अतः बलपूर्वक अथवा हठपूर्वक देवनागरी में सुधार नहीं लाया जा सकता। ज्यों-ज्यों देवनागरी के प्रयोग की व्यापकता बढ़ेगी, उसकी एकरूपता एवं स्थिरीकरण की आवश्यकता भी बढ़ेगी और आवश्यकता केवल आविष्कार की ही जननी नहीं होती, सुधारों की भी जननी होती है।

स्मरण-संकेत

१. लिपि, लिखित चिह्नों की व्यवस्था है। इससे भाषा को रूपायित किया जाता है।

२. भाव एवं लिपि में भाषा के माध्यम से संपर्क स्थापित होता है। लिपि, भाषा का चित्र अथवा भाषा की भाषा है। भाषा एवं लिपि में ऐतिहासिक संबंध रहता है, अनिवार्य नहीं। लिपि भाषा को स्थायित्व प्रदान करती है, इसलिए लिपि का बदलना सरल नहीं है।

३. लिपि का विकास भाषा के पश्चात हुआ है।

४. लिपि के विकास की तीन अवस्थाएं हैं—
चित्रात्मक, संकेतात्मक, ध्वन्यात्मक।

५. ध्वन्यात्मक लिपि के दो रूप हैं—अक्षरात्मक एवं वर्णात्मक। वर्णात्मक लिपि, चरम विकसित लिपि है।

६. संसार की मुख्य लिपियां हैं—
क्यूनीफार्म, हीरोग्लाइफ़िक, चीनी, अरबी, यूनानी, रोमन।

७. भारत की प्राचीन लिपियां हैं—सैंधव, खरोष्ठी, ब्राह्मी। सैंधव लिपि का अभी तक पूर्ण विवेचन नहीं हो पाया है। खरोष्ठी के नाम एवं उत्पति के संबंध में मतभेद है। संभवतः वह विदेशी लिपि थी। ई० पूर्व ४ थी शताब्दी के आस-पास ब्राह्मी के साथ उसका प्रचार था। ब्राह्मी की उत्पति के संबंध में भी वाद-विवाद है। अधिक विद्वान उसे भारतीय मानते हैं। ब्राह्मी के ही विकसित रूपों का नाम 'कुटिल लिपि' एवं 'गुप्त लिपि' था। ब्राह्मी से आधुनिक उत्तर अथवा दक्षिण भारत की लिपियों का विकास हुआ है।

८. देवनागरी का विकास १२वीं शताब्दी के आस-पास हुआ। इसका मूल स्रोत ब्राह्मी ही है। देवनागरी संसार की श्रेष्ठ लिपियों में से एक है। वैज्ञानिकता की दृष्टि से उसमें कई गुण हैं। वैज्ञानिकता एवं युग की आवश्यकता की दृष्टि से उसमें कुछ त्रुटियां भी हैं। देवनागरी के सुधार के लिए कई प्रयत्न किये गये हैं किंतु उनका कोई विशेष परिणाम नहीं निकला है।





ा बिहार विधानसभा क

समिति के सदस्य अनिश्चितकाल का अनशन करेंगे।

नहीं रहा है।

उन्होंने कहा...

उन कांग्रेसी राज्य सरकारों के बने रहने औचित्य नहीं जहाँ कांग्रेस का सफाया हो

प्रधानमन्त्री श्री देसाई का मत—दो तीन दिनों में अन्तिम निर्णय

नयी दिल्ली १८ अप्रैल—स.। लोकसभा में विपक्ष के नेता श्री यशवंत राव चव्हाण एवं श्री कमलापति त्रिपाठी ने कल प्रधानमन्त्री मोरारजी देसाई से भेंट की और उन राज्यों की विधानसभाओं को जहां कांग्रेस का बहुमत है, भंग करने के विचार के प्रति कड़ा विरोध प्रकट किया।

उन्होंने श्री देसाई से कहा कि कांग्रेस ने जनता पार्टी को रचनात्मक सहयोग देने का निर्णय दिया है, अतः ऐसा कुछ नहीं किया जाना चाहिए, जिससे कटुता का निर्माण हो।

श्री त्रिपाठी ने संवाददाताओं को बताया कि देसाई ने उन्हें कहा है कि इस प्रश्न पर अगले दो तीन दिनों में मन्त्रिमण्डल की बैठक में विचार होगा।

श्री त्रिपाठी के अनुसार श्री मोरारजी देसाई इस मत के हैं कि जिन राज्यों में लोकसभा चुनाव में कांग्रेस का पूरा सफाया हो गया, वहां कांग्रेस की विधानसभायें बनी रहनेका कोई औचित्य नहीं है।

लेकिन साथ ही श्री देसाई ने श्री चव्हाण और श्री त्रिपाठी को विश्वास दिलाया कि सरकार कोई असंवैधानिक कदम नहीं उठायेगी।

इस बीच उत्तर प्रदेश मन्त्रिमण्डल के सदस्यों, प्रदेश कांग्रेस की कार्यसमिति तथा प्रदेश के वरिष्ठ कांग्रेसी नेताओं की बैठक श्री कमलापति त्रिपाठी के निवास स्थान पर हुई, जिसमें पूरी स्थिति का जायजा लिया गया।

मुख्यमन्त्री श्री नारायण दत्त तिवारी ने बाद में कहा कि जनता पार्टी अपने चुनाव घोषणा पत्र को ताक पर रख कर राज्यों में विधिवत निर्वाचित सरकारों को अपदस्थ कर संविधान के संघीय ढांचे को विकृत नहीं कर सकती। उसे ऐसा करना भी नहीं चाहिए। 'क्या जनता पार्टी अपने वायदों ...

... चाहते हैं।

उन्होंने सभी ... की कि सरकार पूरी ... तल्लीनता से जनता की ... सकें, इसके लिए वे उचित ... वरण बनाने में सहायता ...

उन्होंने कुछ सम... में प्रकाशित इस सम... निराधार और महज ... बताया कि उत्तर प्रदे... मण्डल की 'संभावित ... पर विचार करने के लि... में बैठक बुलाई गयी है।

श्री तिवारी ने क... कांग्रेस के नेता जिसमें ... भी शामिल हैं, कांग्रे... एवं पार्टी के अन्य व... से विधानके उपचुनाव... मामलों पर विचार वि... आए हैं।

उन्होंने कहा कि ... बैठक का राज्य मन्त्रि... बर्खास्त किये जाने की ... संभावना से कोई सम्बन्ध ... उन्होंने कहा कि वि... कांग्रेस का स्पष्ट बहुमत ...

२५ दिनों में ...

बिहारशरीफ २... स०। नालंदा जिले ... मानों में ... मुकदमों ...
